1

वचनेश त्रिपाठी

विप्लवी युग। बलिदानों की लम्बी शृंखला का इतिहास। सौ वर्ष से भी अधिक लम्बा इतिहास। आत्म-दानी किशोर-तरुण छात्रों का वह अटूट क्रम! बलिवेदी पर वे एक के बाद एक उछलकर चढ़ते गये—निःशेष होते गये—मानो वे इसीलिए आये थे। विप्लवी को कोई मारता नहीं—देश की पुकार पर वे दौड़े आते हैं—और उसकी जरूरत पर आहुत हो जाते हैं—उन्हें कौन मिटा सकता है! वे युग-युगों से आते रहे हैं—आगे भी आयेंगे। सापेक्ष-निरपेक्ष सरीखे शब्द यहाँ व्यर्थ होंगे—मंगल-अमंगल का ऊहापोह अनुचित होगा—हिंसा-अहिंसा का विवाद अपराधी बना जायेगा—सृष्टि के उस उद्दाम भावावेश पर किसी का वश नहीं है—अन्यायी-अत्याचारी पर सदय होने वाले लोग देश का इतिहास नहीं बनाया करते—आग्नेय युग के ज्ञात-अज्ञात वे उच्छिन्न मस्तक अपने रक्त से यह चिर सत्य अंकित करते गये हैं—संसार के कूटनीतिक भ्रमजाल में फंस-भटककर भारत के नेता उस सार्वकालिक यथार्थ को ठुकरायें नहीं—उस शहीदी रक्त का यही संदेश है। और यह संदेश सशरीर आज देश के आंगन में उतर आया है।

ज़रा याद करो कुर्बानी

भाग : एक

आज़ादी की पचासवीं वर्षगांठ
के अवसर पर

ज़रा याद करो कुर्बानी

भाग-एक

वचनेश त्रिपाठी

नीलकंठ प्रकाशन
महरौली, नई दिल्ली-110030

ISBN : 978-81-87774-79-7 (Set)

ISBN : 978-81-87774-76-2
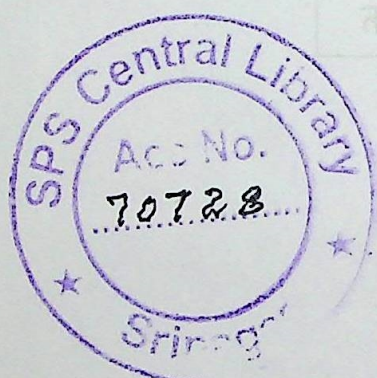
मूल्य : 300.00 रुपये

संस्करण : 2011

प्रकाशक : नीलकंठ प्रकाशन
3/689, महरौली
नई दिल्ली-1100[illegible]

मुद्रक : विशाल प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

ZARA YAAD KARO QURBANI (Part-I)
by
Vachnesh Tripathi

स्वतंत्रता की नींव में
जिनके जीवन ईंट-पत्थर
बन कर खप गये—
यह ग्रंथ उन्हीं की
पावन-स्मृति को समर्पित

भूमिका

विप्लवी युग। बलिदानों की लम्बी श्रृंखला का इतिहास। सौ वर्ष से भी अधिक लम्बा इतिहास। आत्म-दानी किशोर-तरुण छात्रों का वह अटूट क्रम! बलिवेदी पर वे एक के बाद एक उछलकर चढ़ते गये—निःशेष होते गये—मानो वे इसीलिए आये थे। विप्लवी को कोई मारता नहीं--देश की पुकार पर वे दौड़े आते हैं—और उसकी जरूरत पर आहुत हो जाते हैं—उन्हें कौन मिटा सकता है! वे युग-युगों से आते रहे हैं—आगे भी आयेंगे। सापेक्ष-निरपेक्ष सरीखे शब्द यहाँ व्यर्थ होंगे—मंगल-अमंगल का ऊहापोह अनुचित होगा—हिंसा-अहिंसा का विवाद अपराधी बना जायेगा—सृष्टि के उस उद्दाम भावावेश पर किसी का वश नहीं है—अन्यायी-अत्याचारी पर सदय होने वाले लोग देश का इतिहास नहीं बनाया करते—आग्नेय युग के ज्ञात-अज्ञात वे उच्छिन्न मस्तक अपने रक्त से यह चिर सत्य अंकित करते गये हैं—संसार के कूटनीतिक भ्रमजाल में फंस-भटककर भारत के नेता उस सार्वकालिक यथार्थ को ठुकरायें नहीं—उस शहीदी रक्त का यही संदेश है। और यह संदेश सशरीर आज देश के आंगन में उतर आया है।

विषम बेला है। कायरता और पलायनवाद ने शील और साधुता की चादर ओढ़ ली है। आदमी-आदमी शास्ता और मसीहा बनने के फेर में है। वह विप्लवी इतिहास को भी अपने रंग में रंग डालने पर उतारू है। आज का बुद्धिजीवी ज्ञान बघारता है कि भारत के वे किशोर-तरुण विप्लवी नितान्त नादान थे, अज्ञान और शायद मूर्ख भी—तभी वे विना सोचे-समझे यों बम-पिस्तौलें चलाते थे—फांसी चढ़ते थे या लड़ते-लड़ते मर जाते थे—क्या यह अपने इतिहास की चरित्र-हत्या करना नहीं है?

कैसा था वह युग! कहां, किस दिशा से, क्षितिज के किस छोर से फूट पड़ा था यह विप्लव संदेश? क्या इसके मूल में हिंसा भाव, कोई प्रतिक्रिया समाहित थी? यदि नहीं तो क्या इसे हमारा बुद्धिजीवी भद्रलोक मूर्खता, पागलपन, या बचपना बता सकेगा? और तब क्या यह निर्णय स्वयं उसकी बुद्धि का बौनापन नहीं सिद्ध कर जायेगा? इसीलिए एक दिन शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी अपने 'प्रताप' अखबार में सम्पादकीय लिखने बैठे थे कि "ओ दुनियादार! तू उन्हें किन नामों से याद करता है! लुटेरे! हत्यारे! डाकू! जल्दबाज! अनुत्तरदायी! पथ-भ्रष्ट देशभक्त·····" उनका लिखा वह सम्पादकीय आज भी पुराना नहीं पड़ा है—आज भी वह विप्लवियों के प्रति वही व्यथा लोक-लोकान्तर

में बिखेरने को व्याकुल है—क्योंकि स्वतन्त्रता के 50 साल व्यतीत होने पर भी हम बलिदानी देश-रत्नों का सही मूल्यांकन नहीं कर पाये—सयाने, समझदार लोगों ने उसकी कोई जरूरत नहीं समझी। आजाद हिन्द फौज ने ब्रिटिश सेनाओं से तुमुल युद्ध किया था—उसमें सुभाष बोस के 1654 सैनिक शहीद हुए—वह सूची किसी इतिहास में उपलब्ध नहीं—कितनी कृतघ्नता! हमारे पास उन सबके नाम हैं किन्तु दें कहां? 1800 अंग्रेज सैनिक उन रण-बांकुरों ने भी यमलोक भेजे थे।

इस प्रसंग में कोई शहीद छोटा-बड़ा नहीं। सभी महान हैं। जो चुपचाप आत्म-विसर्जन करते चले गये, वे वन्दनीय हैं—उनका नाम-स्मरण पुण्य है—मंगलकारी है। इस सन्दर्भ में लोकमान्य तिलक की याद आती है। विप्लवी खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी ने मुजफ्फरपुर में बम फेंका था—वह एक लक्ष्य-भ्रष्ट अकेला और मामूली बम था—दोनों कम उम्र के ही थे—और जिस अंग्रेज अफसर (किंग्सफोर्ड) को खत्म करने के उद्देश्य से बम फेंका गया था—वह भी नहीं हुआ—मरीं दो अमरीकी स्त्रियां। इसका दुःख खुदीराम को भी हुआ था किन्तु लोकमान्य तिलक ने उसकी आलोचना या निन्दा करना दरकिनार—खुदीराम की प्रशस्ति में यानी बम फेंकने की घटना पर समर्थक सम्पादकीय लिखा। तब खुदीराम जेल में थे—जिन्दा थे। उस लेख के कारण महात्मा तिलक को 6 साल की सजा मिली। मांडले भेज दिये गये। वे बुजुर्ग थे किन्तु कितनी महिमामयी थी उनकी लेखनी! देशमाता और विप्लवी युवकों के प्रति कितना ममतालु था उनका मानस! खुदीराम की 'हिंसा' की प्रशंसा कर गये, भले उन्हें 6 साल जेल में सड़ना पड़ा। और आज हमारे कुछ सयाने भाई यह व्याख्या देश के गले उतारने की कोशिश में हैं कि विप्लवी प्रयास नासमझी और कच्ची बुद्धि के परिणाम थे—इसीलिए ये स्मृतियां आपके समक्ष प्रस्तुत हैं और वे हमको-आपको झकझोर कर कह रही हैं कि "ओ दुनियादार! तुझसे हमने कुछ भी नहीं चाहा—एक फूल नहीं लेकिन तू हमारे प्यारे साथियों की टूटी हुई कब्रों पर राख तो न बिखेर···।"

इस पुस्तक के लिए सामग्री देने का वक्त आया तो सैकड़ों दुधमुंहे शहीद अवान्तर सृष्टि के अदृष्ट द्वार खटखटाने लग गये। उनके मोहक मुखड़े—जिनसे अभी दूध की सुगन्ध भी नहीं मिटी थी—चुपचाप पास सरक आये। और तब लगा कि हम कितने गरीब हैं—साधनहीन कि उन एक-एक राम और कृष्ण को प्यार करने लायक शब्द और समय भी आज हमारे पास नहीं। उन सबका नाम और परिचय देने में ही सहस्रों पृष्ठ भरे जा सकते थे और फिर पाठकों की शिकायत भी होती कि "ये तो संस्मरण नहीं हैं···।"

अतः उस 100 वर्ष लम्बे इतिहास में से केवल कुछ ही शहीद क्रांतिकारियों और कुछ जीवित शहीदों के संस्मरण इस पुस्तक में संजोये जा सके हैं।

— लेखक

आत्म-कथ्य

देश के ज्ञात-अज्ञात उन सभी शहीदों के स्मृति-सौध कहां हैं, कहां हैं उनके कीर्ति-कलश-समन्वित उत्तुंग स्मारक—हमें पता नहीं। अतः अदृष्ट में ही उन सहस्राधिक हुतात्माओं की पवित्र स्मृतियों को हम इसे श्रद्धया समर्पित करते हैं, जिन्हें देश शनैः-शनैः भुलाता जा रहा है। विस्मृति की यह बात कृतघ्नता है, अपराध है, पाप है, देश के लिए घातक भी।

स्वतन्त्रता-संग्राम का इतिहास विगत 50 वर्षों में जिस तरह इस देश में तोड़ा-मरोड़ा गया, झुठलाया गया, भुलाया गया—जिस तरह अपने प्राणों की बाजी लगाने वाले तथा देश-देवता के चरणों पर अपना जीवन-सर्वस्व होमने वाले क्रान्तिकारी देशभक्तों को यहां ठुकराया गया—तिरस्कृत एवं उपेक्षित रखा गया—ऐसा दुनिया में कहीं भी नहीं हुआ और शायद कांग्रेस की पुरानी आदत और प्रवृत्ति देखते हुए यही होना भी था—आखिर यही कांग्रेस थी जिसमें हिंसा-अहिंसा का बहाना करके भगतसिंह के बलिदान पर एक शोक-प्रस्ताव तक नहीं पारित करने दिया गया—कहा गया, 'हमारा हिंसा पर कोई विश्वास नहीं।'—उसके राज्य में क्रान्तिकारी शहीदों और जीवित शहीदों के साथ और होना क्या था? सर्वप्रसिद्ध अखबार 'स्वराज्य' के संपादक श्री लद्धाराम को तीन संपादकीय लिखने पर क्रमशः 10-10-10 अर्थात् 30 साल का कालापानी मिला था लेकिन बुढ़ापे में जैसी गरीबी, अभावों का जैसा हाहाकार और शासन के हाथों अपमान-प्रतारणा उन्होंने झेली, वह किसी को न मिले। वे आजाद भारत में भी एक बार जेल में रहे। कहते थे—'ये वह दर्द है, दुश्मन को भी नसीब न हो।' अंतिम बार जब वे मुझे मिले थे, कहा था—'हमारी याद बनाये रखना......।' वे गुजर चुके हैं लेकिन नितान्त शून्यता में कभी-कभी आभास होता है कि जैसे क्षितिज के छोर से, ऊंचे आकाश से अनगिनत आवाजें रह-रह आती हैं—'हमारी याद बनाये रखना।'

उन शहीदों के कुछ स्वप्न भी थे—वे पूरे करने हैं—जीवित क्रान्तिकारियों और शहीदों के प्रति देश की यही सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

प्रश्न उठ सकता है कि विप्लवी युग के उस बीते हुए जमाने को याद करने से फायदा क्या? उसका प्रयोजन क्या? उपयोगिता क्या? क्या यह महज दिमागी ऐयाशी किंवा क्रान्ति की चटपटी कहानियां देकर कुछ लोगों का मनोरंजन करना मात्र है? इस

संदर्भ में हम कुछ कहना चाहेंगे। देश का कोई शहर हो, परम साहसिक अमृतसर हो या कलकत्ता अथवा दिल्ली ही क्यों न हो—जहाज से कहीं एक बम गिर जाये तो आतंक और भीति फैलने में देर नहीं लगेगी—ऐसा क्यों? कहीं हजारों लोगों की भरी भीड़ जमा हो लेकिन दुर्भाग्यवश कोई वहां बम-विस्फोट हो जाए तो उस भीड़ का लोप होने में कोई सन्देह नहीं है—देश की यह स्थिति और देशवासियों की यह मनःस्थिति क्या बताती है? चीनी हमले के समय तेजपुर में जो भगदड़ दिखाई दी—वहां का जिला कलेक्टर डॉ॰ दास जिस तरह सिर पर पैर रखकर भागा, अपनी जिम्मेदारी का भाव भी भुला बैठा, टेलीफोन एक्सचेंज छोड़कर और बैंक के लोग नोट जलाकर जिस तरह भागे—वह कौन से साहस की कहानी है?

मरने से इतना डर क्यों? इसलिए कि कांग्रेस के 50 वर्षीय शासन में देश को नपुंसक बनाने की ही प्रक्रियाएं सिद्धान्त के नाम पर, अहिंसा के आवरण में प्रचलित की गईं। देश के हाथों में शस्त्र नहीं दिये गये। यहां के बच्चों को बम-पिस्तौलों से खेलना नहीं सिखाया गया। चन्द्रशेखर आजाद के जब सब साथी किसी काम (ऐक्शन) के लिए जमा होते तो सफाई आदि के लिए अपनी-अपनी पिस्तौलें सामने रख देते—आजाद उनको एक पंक्ति में सजाकर दुर्गा भाभी के बच्चे शची से पूछते—'बोलो बेटे! कौन सी पसन्द है? उठाओ तो एक''' ।' यह दृश्य देखने के लिए आज देश तरस गया। आजादी के बाद भी यहां पिस्तौल-बन्दूकों पर रोक (लाइसेंस प्रथा) लगी है। विदेशों में ऐसा नहीं है। एक समय जब वीर सावरकर लन्दन में थे—उनके युवक शिष्य मदनलाल धींगरा ने आकर बताया—"कर्जन वाइली का कल जो भाषण मैंने सुना, उसमें उसने कहा है कि भारत में हिन्दू-मुसलमान नाम की हमारी दो पत्नियां हैं—इसलिए उन दोनों का ही यह जरूरी कर्त्तव्य होगा कि हमारा जो (अंग्रेज) प्रतिनिधि (वायसराय) वहां जाए तो वे उसका अच्छी तरह स्वागत करें।' बात सरासर अपमान की ही थी। मदनलाल आवेश में था। सावरकर ने कहा—'तुमने यह कैसे सुन लिया? उस अंग्रेज बच्चे को गोली मारकर ढेर क्यों नहीं कर दिया?'

धींगरा बोला—'पिस्तौल कहां थी? दीजिये एक''''' ।' सावरकर की जेब में 26 रुपये थे। अपने साथी गौरीशंकर को दिये। गौरीशंकर बाजार गये। लंदन में पिस्तौल-बंदूकें आज भी खुलेआम बिकती हैं—गौरीशंकर 26-26 रुपये में दो पिस्तौलें (एक अपने लिए) लाये! और धींगरा ने कर्जन वाइली को लन्दन की भरी सभा में मार दिया। फांसी चढ़ गया, कहता गया—'भारत के इस गरीब बेटे के पास सिवाय इस थोड़े-से रक्त के और क्या है, देश के चरणों में वही समर्पित है।' भारत के बच्चों के लिए आज पितौलें आकाशकुसुम हैं। इसके बुरे नतीजे सामने हैं। हर बगल में ट्रांजिस्टर और कैमरा लटका है। ऐसा क्यों है? इसलिए कि जो स्वतन्त्रता हमने खोई थी—उसको कांग्रेस ने मेज-कुर्सी और वार्ताओं में पाने की कोशिश की। माता की सुभाष बोस जैसी सच्ची सन्तानों ने जो साधना की, उससे आजादी यहां बारूद की आग के आलोक

में ही आयी, लेकिन कांग्रेस ने झूठा ढिंढोरा पीटकर उसे अहिंसा का वरदान बताया। इस अपप्रचार से युवाशक्ति को नपुंसक और कायर बनाने की कोशिशें खूब चलीं। चीन-भारत युद्ध के वक्त कवि गोपालसिंह नेपाली ने हमें अपनी एक परम ओजस्वी कविता भेजी और लिखा कि 'यह कविता देश के बड़े अखबार छापते नहीं—सरकार इसके रेडियो-प्रसारण के लिए तैयार नहीं—अहिंसा के नाम से नकार दिया गया है।'

अहिंसा के नाम पर पलने वाली यह नपुंसकता ही हमारे दुर्भाग्य का कारण बनी है और चतुर्दिक हिंसा का ताण्डव जारी है। राष्ट्र की भावी पीढ़ियों को इस क्लैव्य से मुक्त कर स्वाभिमानी जीवन की ओर अग्रसर कराने के उद्देश्य से ही हमने निविड़ अंधकार में डूबे हुए बलिदानी चरित्रों को सामने लाने का प्रयास किया है।

क्रान्ति कोन पथे?

'क्रान्ति' तथा 'विप्लव' शब्द को लेकर यह सोचना कि भारतीय क्रान्ति का सुदीर्घ काल भौतिकवादी वामपंथ से ही प्रेरित-प्रभावित और अनुप्राणित था, युक्तियुक्त नहीं।

वस्तुतः 'संन्यासी विद्रोह' (1761), अनन्तर '1857 की क्रान्ति' और फिर सन् 1872 में 'कूका-विद्रोह' से लेकर 'बंग-भंग आंदोलन' से सम्बद्ध बंगाल का विप्लव 'अलीपुर बम केस' आदि, 'गदर पार्टी', 'दिल्ली षड्यंत्र', 'मैनपुरी-केस' एवं 'काकोरी-केस' (सन् 1925) तक का 164 वर्षों का जो कालखण्ड है और उसमें ये सब जो विप्लवी प्रयास हुए हैं, वे धर्मोन्मुखी क्रांति के ही अंतर्गत आते हैं। जहां तक क्रांतिकारी इतिहास के लेखन की बात है, 'काकोरी-केस' के श्री मन्मथनाथ गुप्त का नाम सर्वविदित है, वह भी मानते हैं कि 'बंग-भंग आंदोलन मुख्यतः एक हिन्दू आंदोलन ही रहा है, क्योंकि हिन्दू भद्र लोक श्रेणी के लोग ही अंग्रेजी शिक्षित थे।...धार्मिक भावों से अधिक लाभ उठाया गया। पूर्वीय देशों के उत्थान का प्रारम्भिक इतिहास इसी प्रकार के धार्मिक रंग में रंगा हुआ है। चाफेकर ने 'हिन्दू धर्म-बाधा-निवारिणी समिति' बनाई थी। सावरकर-बंधु भी धार्मिक रहे। बंगाली क्रांतिकारियों ने भी धर्म के सहारे लोगों की भावनाओं को उभारा था। इस वाक्य से शायद यह गलतफहमी हो कि वे धर्म को नहीं मानते थे, उससे केवल लोगों की भावनाओं को उभारने का काम लेते थे। इसलिए यह कह देना जरूरी है कि वे स्वयं धर्म के कट्टर मानने वाले थे।' ('भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास', पृष्ठ 43-44)। यहां यह उल्लेखनीय है कि स्वयं मन्मथनाथजी मार्क्सवादी विचारों के हैं तथा ईश्वर या धर्म कुछ भी नहीं मानते।

राष्ट्रीयता का हिन्दू रूप

अपने उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ 7-8 पर वे लिखते हैं : 'केशवचन्द्र सेन (सन् 1860), स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस तथा उनके शिष्य विवेकानन्द ने साम्राज्यवाद के द्वारा कुचले हुए भारतीय आत्म-सम्मान को पुनः स्थापित करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया।...किसी

ने कहा, 'तुम्हारा धर्म और संस्कृति औरों के बराबर है', किसी ने कहा, 'तुम्हारा धर्म और संस्कृति सबसे ऊंची है।...' हम धर्म को मानें या न मानें, यह मानना पड़ेगा कि इन सुधारकों ने भारतीयों में एक नई जान फूंक दी। पद-दलित तथा पराधीन भारतवासियों ने इनके मुंह से धर्म के रूप में ही सही, नवीन युग की नई वाणी सुनी। यह सब तो हुआ, पर साथ ही ये लोग हिन्दू थे, इनकी भाषा हिन्दी थी, इनके व्याख्यानों में ऐसे दृष्टांत तथा ऐसे युगों का उल्लेख रहता था जिसे हिन्दू ही समझ सकते थे। नतीजा यह हुआ कि इनकी वाणियों से पुष्ट होकर जो राष्ट्रीयता बनी, उसका रूप बहुत कुछ हिन्दू हो गया।' वह आगे लिखते हैं, '...जब हिन्दू अपनी नवजागृत चेतना में जोर पहुंचाने के लिए राजपूतों के इतिहास, सिखों के इतिहास तथा शिवाजी आदि से अनुप्रेरणा लेते थे, तो उसमें भी मुसलमानों का कोई स्थान नहीं हो सकता था।...हिन्दू राष्ट्रीयता तथा मुसलमानों की मनोवृत्ति ने विभिन्न मुखी दिशाएं लीं। यह कहना मूर्खता होगी कि हिन्दुओं की राष्ट्रीयता जिस तरह उत्पन्न हुई और बढ़ी, वह दूसरे तरीके से भी हो सकती थी। यह सब कल्पना में ठीक है, पर जिस तरह शक्तियों ने अपना विकास किया, उसमें इस प्रकार के अटकलपच्चू की कोई गुंजाइश नहीं।...इसमें संदेह नहीं कि प्रारम्भिक युग में राष्ट्रीयता ने धर्म की आड़ में, बल्कि धर्म से अनुप्रेरणा लेकर उन्नति की। यह अनिवार्य था...।'

यहां यह कह देना जरूरी होगा कि स्वयं मन्मथनाथजी हिन्दू राष्ट्रीयता के हामी नहीं रहे हैं किन्तु वे पाकिस्तान बनने के भी पक्ष में नहीं रहे। जबकि औसत मार्क्सवादी की दृष्टि में पाकिस्तान बनना कोई आपत्तिजनक बात नहीं, वे उसे 'आत्म-निर्णय के अधिकार' के अंतर्गत मानते हैं। यहां तक कि जिन दिनों शेख मुजीबुर्रहमान अपने हजारों साथियों के साथ पूर्वी बंगाल में याह्या खां और टिक्का खां के दमन से जूझ रहे थे—मन्मथनाथजी ने मुझे एक लेख भेजा, जिसका उन्होंने शीर्षक लिखा था, 'याह्या खां को फांसी पर लटकाया जाए'। यह लेख एक मार्क्सवादी साहित्यकार श्री मुद्राराक्षस को बहुत खल गया। वे उन दिनों दिल्ली में ही आकाशवाणी से सम्बद्ध थे। मुद्राराक्षसजी ने तत्काल दिल्ली में 'मुक्तधारा' में मन्मथनाथजी के लेख के विरोध में लेख लिखा कि 'मुजीब ही क्यों, याह्या क्यों नहीं?' यही नहीं, उन्होंने बड़ा गुस्सा व्यक्त किया कि 'ऐसे (मन्मथनाथजी के उक्त शीर्षक के जैसे) लेख हिन्दुस्तान में छपते हैं।'

यहां मात्र मुझे यह कहना है कि साम्यवादी दृष्टिकोण राष्ट्रीय हिताहित को भी किस तरह अन्तर्राष्ट्रीय तराजू पर चढ़ाकर अपने पक्ष में डंडी मारने की कुचेष्टा करता है। मन्मथनाथजी ने आजादी की लड़ाई में 15 साल की लम्बी सजा काटी है। 'बंग-भंग' के वे पहले भी विरोधी रहे और भारत-विभाजन के भी वे उतने ही खिलाफ रहे। पूर्वी बंगाल के ढाका, चटगांव, कुमिल्ला, मेमनसिंह, मिदनापुर, रंगपुर क्रान्ति-केन्द्र रहे हैं। क्रान्तिकारियों ने वहां की भूमि को, घाटियों को अपने तरुण रक्त से सींचा है। वह सब प्रदेश पाकिस्तान में चला जाए, यह कोई विप्लवी कैसे सहन कर लेता? इसीलिए

क्रांतिकारी नेता त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती ने पाकिस्तान बन जाने पर ढाका नहीं छोड़ा। वह अनेक वर्ष यहां तक कि बांग्लादेश बनने तक वहां की जेलों में ही पड़े सड़ते रहे। 'काकोरी केस' के क्रांतिकारी गोविन्दचरण कॅर महाशय भी पाकिस्तान बनने के बावजूद वहीं चले गये थे कि 'यह हमारा देश है, यहीं रहेंगे।' लेकिन बाद में वहां जब भीषण दंगे हुए तथा अल्पसंख्यकों को बीन-बीनकर मारा जाने लगा तो गोविन्दचरण कॅर भी उस लपेट में आ गये, मार-काट में देह पर अनेक जख्म खाकर वे ढाका अस्पताल में भर्ती रहे। उनकी जान तभी बची जब उन्होंने दंगाइयों को विश्वास दिलाया कि 'मैं भी मुसलमान हूं।' कहते हैं दंगाइयों ने जब उनके इस कथन का परीक्षण किया तो प्रकृति की अनुकम्पा किंवा करतब से वे अपने इस दैहिक परीक्षण में भी मुसलमान साबित हो गये। इस तरह जान बची भी तो एक दिन ढाका अस्पताल में उनके मुहल्ले की एक मुस्लिम लड़की जो उस अस्पताल में नर्स थी, उन्हें पहचानकर पुकार उठी—'चाचा!' कॅर महाशय ने घबराकर उसे मना किया कि 'तुम किसी को यह न बता देना कि मैं मुसलभान नहीं हूं वरना मार दिया जाऊंगा।' वह नर्स चुप रही। इलाज होता रहा और फिर वहां के एक मुस्लिम सज्जन के ही सहयोग से नेहरूजी ने कॅर दा को भारत बुलवा लियां।

ऐसे क्रांतिकारी मन्मथनाथजी की तरह समाजवादी शिविर के हो भी जायें तो अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म की वेदी पर वे राष्ट्रीयता की कभी बलि चढ़ाना गवारा नहीं करेंगे। यह नहीं कह सकेंगे कभी कि 'मुजीब ही क्यों, याह्या खां क्यों नहीं?' आज जो कम्युनिस्ट विचारक मुजीब और याह्या खां में कोई फर्क नहीं समझते—वे भारतीय क्रांति-इतिहास को समग्रतः वामपंथी किंवा मार्क्सवादी रंग में रंगा दिखाना चाहें तो किमाश्चर्यम्!

अध्यात्म और क्रांति

एक अन्य उदाहरण दूंगा स्वनामधन्य प्रसिद्ध विप्लवी नेता शचीन्द्रनाथ सान्याल का। वे वरिष्ठ तथा समर्पित क्रांतिकारी थे। भगतसिंह को उनकी शादी की चर्चा के समय उन्होंने ही घर छोड़ देने को कहा था तथा उन्हें चिट्ठी देकर गणेशशंकर विद्यार्थी के पास कानपुर भेज दिया था। और यही भगतसिंह थे, जिनके प्रयास और चिन्तन से पार्टी में 'सोशलिस्ट' शब्द पहली बार संयुक्त हुआ। कारण, भगतसिंह पक्के समाजवादी थे, ईश्वर में भी उनका विश्वास या आस्था कभी देखी नहीं गई। परन्तु इनके जो नेता थे—शचीन्द्रनाथ सान्याल, वे अध्यात्मवादी क्रांतिकारी थे। वे कम्युनिस्टों के आर्थिक पक्ष को स्वीकार करके भी कम्युनिस्ट क्यों नहीं बन सके, इस संदर्भ में यहां मैं स्वयं उन्हीं का कथन उद्धृत करता हूं—

'मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि पाश्चात्य सभ्यता का श्रेष्ठ दान है—कम्युनिज्म का महान आदर्श। इस आदर्श के अनुसार समाज के कल्याण के सामने व्यक्तिगत लाभ

या क्षति की कोई परवाह न करना परम कर्तव्य समझा गया है। कम्युनिज्म ऐसे सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना चाहता है, जिसमें व्यक्तिगत लाभ या मुनाफे के ख्याल को हटाकर मानव-सेवा की भावना को ही चरम स्थान दिया जा सके।...इस सिद्धान्त के साथ भारतीय प्राचीन आदर्श का कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता। लेकिन कम्युनिज्म के सिद्धान्त को ग्रहण करते समय मेरे कितने ही साथियों ने भारत के अध्यात्मवाद को तिलांजलि दे दी है। मैं ऐसा नहीं कर पाया। इसलिये जेल में रहते ही मेरे साथियों से मेरा प्रचंड विरोध पैदा हो गया......।'

'......कम्युनिस्ट पार्टी में रहते हुए यह सम्भव नहीं है कि रूस के थर्ड इण्टरनेशनल की एक्जीक्यूटिव का कोई भी विरोध कर सके। ऐसी अवस्था में कोई भी विचारशील पुरुष कैसे कम्युनिस्ट पार्टी में योगदान कर सकता है?......'

'जिस व्यक्तित्व की मर्यादा के लिए मैं सर्वस्व त्याग कर सकता हूं, कम्युनिस्ट समाज में उस व्यक्तित्व के विकास का कोई अवसर नहीं है, बल्कि उलटा कम्युनिस्ट समाज में वैसे व्यक्तियों का जीवित रहना ही कठिन है। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, श्री रामकृष्ण परमहंस या श्री अरविन्द जैसे महान व्यक्तियों के लिए कम्युनिस्ट समाज में स्थान कहां है? जिस समाज-व्यवस्था में परमहंस रामकृष्ण जैसे योगी ऋषियों का उद्भव होना सम्भव नहीं है वैसी समाज-व्यवस्था संसार के कल्याण के लिए नहीं हो सकती।......'

'मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि संसार की भलाई के लिए भारतीय अध्यात्मवाद परम कल्याणप्रद है। इस बात का मुझे गौरव है कि हमारे समाज में मनुष्यों को मर्यादा देते समय हम उसे देवता के स्थान पर बैठाते हैं। उसे हम ईश्वर का अवतार कहने में भी नहीं हिचकते, लेकिन व्यक्तिगत विचार-स्वातंत्र्य का महत्व हम इतना अधिक समझते हैं कि जिसे हम आज ईश्वर का अवतार कहने में नहीं हिचकते, कल उसे भ्रान्त कहने को भी हिम्मत रखते हैं। हमें इस बात का भी अभिमान है कि हमारे ही देश में, हमारे ही समाज में, आचरण की भी इतनी आजादी है कि यदि पिता बौद्ध है तो पुत्र वेदाचारी हो सकता है, यदि पति शाक्त है तो पत्नी वैष्णवी हो सकती है।'

'...जो लोग इस सिद्धान्त के पक्षपाती हैं, उनका परम कर्त्तव्य है कि राष्ट्रीय क्षेत्र में संगठित शक्ति के द्वारा, अपने राजनीतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक आदर्श को सक्रिय एवं फलीभूत करें। इनको यह समझना चाहिए कि राष्ट्र-शक्ति को दूसरी संस्थाओं के हाथ में जाने न देकर उसे अपनी कार्यकुशलता के जरिये सुनियंत्रित और संगठित शक्ति के द्वारा अपने हाथों में करना चाहिए। इस दृष्टि से अगर संगठन नहीं किया जाएगा तो एक समय ऐसा आयेगा, जब पछताने का अवसर भी नहीं मिलेगा।' ('विचार-विनिमय', पृष्ठ—4, 7, 8, 9, 10 व 11, सन् 1938)

अग्निमय कर्म-पथ

इसी तरह 'बंदी जीवन' के पृष्ठ 347 पर वे लिखते हैं–

'आज भी मेरा हृदय हर्ष, अभिमान और गुमान से भर आता है कि हमारे देश में अभी ऐसे साधु-संत हैं, जिन्हें मेरे जैसे विद्रोही के अग्निमय कर्म-पथ से आंतरिक प्रीति है। और हम अपनी सामाजिक व्यवस्था की निगूढ़ बातों के प्रति ध्यान देने से आज भी पीछे नहीं हटते। कर्तव्य-कर्म चाहे कितना ही संकटपूर्ण और अग्निमय क्यों न हो, हमारे समाज के शीर्ष स्थानीय संन्यासी आज भी उससे विचलित नहीं होते और मेरे ऐसे विद्रोहियों के कठोर कार्यों का वे हृदय से समर्थन करते थे।' स्पष्ट है, वामपंथी विचारों और आचरण से इन उद्गारों का कोई मेल नहीं बैठाया जा सकता।

शचीन्द्र सान्याल की यह पुस्तक ('बन्दी जीवन') ब्रिटिश दासता के दिनों में दो खंडों में छपी थी तथा जब्त कर ली गई थी। अनेक वर्षों तक इस पुस्तक ने आजादी के दीवानों को प्रेरणा और कर्मण्यता का उत्साह प्रदान किया है। इसके लेखक शचीन्द्र दा को दो-दो बार जन्म-कैद की सजा मिली। जेल में उन्हें यक्ष्मा हुआ और वे उसी में गलते-छीजते रिहा होकर भी संसार त्याग गये। वे रासबिहारी बोस के परम विश्वस्त थे, उनके दाहिने हाथ थे। उन्होंने फौजों की छावनियों में विप्लव-ज्वाला धधकाई थी। जमशेदपुर में मजदूरों में भी काम किया था। इसलिए उनके विचारों को जहां तक क्रांतिकारियों के वैचारिक जगत का प्रश्न है, अनदेखा नहीं किया जा सकता।

'बन्दी जीवन' (प्रथम खंड) के प्रथम परिच्छेद में शचीन्द्र दा लिखते हैं कि 'भारत की छाती पर जो यह महान आंदोलन हुआ और हो रहा है, यह भगवान की इच्छा से ही हुआ और हो रहा है। यही हम लोगों का विश्वास है।'

'हमने जो आध्यात्मिक साधना ग्रहण की थी, एक शब्द में उसे आत्मसमर्पण-योग कहा जा सकता है। भक्ति-योग अथवा प्रेम-साधना से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। मैं भगवान से प्यार करता हूं, इतना प्यार करता हूं कि उसके सिवा अन्य किसी वस्तु को अपना नहीं कह सकता। मैं जो कुछ करता हूं, वास्तव में वह मैं स्वयं नहीं करता, मैं तो केवल निमित्त मात्र हूं।'

यह है बंगाल की 'अनुशीलन समिति' तथा उससे सम्बद्ध होकर उत्तर प्रदेश, राजस्थान से लेकर पंजाब तक विप्लव-प्रयास में सक्रिय शचीन्द्रनाथ सान्याल एवं उनके अमृत (शशांक) हाजरा प्रभृति अनेक समर्पित साथी क्रांतिकारियों का विचार-दर्शन।

जिस शशांक हाजरा का ऊपर जिक्र आया है, वे बंगाल की प्रसिद्ध 'बरहा डकैती' में शामिल थे। क्रांतिकारी दो बड़ी नावों में सवार हो एक धनी नवाब के यहां रातों-रात बरहा पहुंचे थे तथा वापसी में नदी तट पर तथा धारा में पीछा कर रही सशस्त्र पुलिस से संघर्ष करते हुए लौटे थे। यही शशांक हाजरा बाद में संन्यासी हो गये थे। सिद्ध है कि धर्म-भावना उन्हें प्रेरणा और शक्ति देती थी। त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती ने जीवन के तीस वर्ष जेलों में ही काटे, संसार में किसी विप्लवी के कारावास का शायद यह

अन्यतम रिकार्ड है। अलीपुर जेल में उन्होंने 'गीता' के चार अध्यायों की व्याख्या लिखकर संतोष पाया था और समझा था कि उनका वह समय सार्थक हुआ और यह उन्होंने पुण्य-संचय के लिए नहीं किया था वरन उनका आह्वान था कि देश के युवक संघर्ष के लिए तैयार हों, कर्मक्षेत्र से विविध बहाने बनाकर पलायन न करें। त्रैलोक्य महाराज का कहना था–'विप्लवी मौन कार्यकर्त्ता थे। उनके जीवन में गीता का निष्काम कर्मयोग और उसकी साधना चरितार्थ हुई थी। यश की ईप्सा उनमें नहीं थी। दल में भर्ती होते ही उन्हें आचरित करना होता था कि नाम तथा यश-प्राप्ति अथवा नेतापद की स्पृहा उनके लिये त्याज्य है। न उनके सामने कोई प्रलोभन था, न स्वार्थ-साधन और फूलमालाएं। अवश्य ही इधर रूस की क्रांति सफल होने पर दुनिया में समाजवाद का आदर्श फैलने लगा। 'अनुशीलन समिति' के क्रांतिकारियों से भी वह ओट में नहीं रहा। अतः सन् 1920 में जब अनेक विप्लवी रिहा हुए तो उन्होंने अपनी पहले की कार्य-पद्धति में परिवर्तन किये और पुनः नये सिरे से देश में युवकों को संगठित करने में लग गये।'

विप्लवी सर्जक हैं

इसी कारण 'बांग्लाय विप्लववाद' के यशस्वी लेखक तथा बंगाल की प्रसिद्ध 'बरहा डकैती' एवं 'ढाका षड्यन्त्र केस' के क्रांतिकारी नेता श्री नलिनीकिशोर गुह कहते थे–

'सच्चा विप्लवी ध्वंसकामी नहीं, असल में वह होता है सृजनधर्मी। उसका काम है नवीन रूप देना, रूपान्तरण। एक तथा अविभाज्य परम-सत्य के बीच में जब अनैक्य विभेद और विघटन सत्य को विकृत-विच्छिन्न करता है, तब विप्लव का संग्राम शुरू होता है। उसके विरुद्ध एक अविभाज्य सत्य की प्रतिष्ठा करने के लिए वस्तुतः विप्लवी ऐक्य में, सृजन में तथा नव-रूपान्तर में विश्वास रखता है। मिथ्या, असत् के विरुद्ध विप्लवी वह ध्वंसकर्त्ता त्रिशूल धारण करता है, जिसका प्रयोजन सामयिक या क्षणिक–कुछ समय के लिए ही भले हो, किन्तु दरअसल विप्लवी के हाथ में रहता है सृजन का कमण्डलु। नव पत्र-पल्लव के उद्यम से ही जराजीर्ण मृतपत्र झड़ते हैं, गिरते हैं। मृत अमृत होता है। मृत संजीवनी का गंगाजल ही सृष्टि के कमंडलु में रहता है। अतः संख्या-वृद्धि तथा लोक-संग्रह के कार्य में वह, चाहे जो विषम स्थिति हो, निराश, हताश नहीं होता।'

'फांसी की रस्सी से झूलते हुए शहीद को तो लोगों ने पहचाना, परन्तु संसार के सारे बन्धनों का अतिक्रमण करने वाले, कामना तथा वासना-रहित वैरागी विप्लवी हृदय से लोग अपरिचित रह गये। विप्लवी की मोह, वैराग्य-साधना, जिससे उसका चरित्र उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर तक पहुंच सका, उसके आत्म-बलिदान की राजनीतिक प्रतिक्रियाएं लोगों की दृष्टि से ओझल रह गईं। उनके बलिदान का मूल्यांकन केवल राजनीतिक कसौटी पर करना पर्याप्त न होगा। उनका असली कर्मयोगी स्वरूप लोगों

की दृष्टि में नहीं ही आ सका। इसे कभी समझने की चेष्टा नहीं की गई कि ये कैसे सर्व त्यागी पुरुष के स्तर तक उठ सके? मानव-कल्याण-बोध द्वारा प्रेरित होकर वे अपने विश्वास की वेदी पर, निज जीवन तथा यौवन का स्वेच्छापूर्ण बलिदान इतनी सरलता से क्योंकर दे सके? देशप्रेम के मूल्यों से दीक्षित होकर पूर्ण संन्यासी की तरह घर छोड़ा। संन्यासी जीवन के कठोर संयम द्वारा उनका मन 'प्रवृत्तियों' की शृंखला से मुक्त हुआ। आदर्श के लिए निज प्राण की आहुति देने में ही अपने जीवन की सार्थकता तथा परिपूर्णता समझी कि मानो कर्मयोग के साधन-मार्ग द्वारा सारे दर्शन-शास्त्र के तात्विक निचोड़ को उन्होंने अपने जीवन में आत्मसात् कर लिया था। लक्ष्य की पूर्ति अथवा उसी प्रयास में मृत्यु उनका प्रण था।'

'सन् 29 के जून में 'असेम्बली बम-कांड' के केस में आजन्म कारावास की सजा का अभिनन्दन करते हुए हमारे (मेरे और भगतसिंह) के हृदय से उसी प्रण की प्रतिध्वनि निकली थी कि 'तुम हमारे सरीखे कुछ व्यक्तियों को तो नष्ट कर सकते हो किन्तु यह हमारा राष्ट्र है उसको नष्ट नहीं कर सकते।'

विवेकानन्द का कर्मयोग

आजाद, भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त, राजगुरु, सुखदेव के क्रांतियुग की प्रेरणा के संदर्भ में भी कोई भ्रान्ति नहीं है। इसके बावजूद कि दल के नाम में 'सोशलिस्ट' शब्द सबकी सहमति से जुड़ा था, बटुकेश्वर दत्त स्पष्ट कहते हैं—'स्वामी विवेकानन्द द्वारा निर्देशित कर्मयोग का सिद्धान्त ही 'क्लास रेवोल्यूशनरीज'—विप्लवियों के जीवन का आधार रहा है, लेकिन उन कर्मयोगी विप्लवियों का दार्शनिक दृष्टिकोण उनके आत्म-बलिदान से उत्थित राजनीतिक कोलाहल में दबा रह गया। दर्शनशास्त्र के ग्रंथों को पढ़कर तात्विक ज्ञान-लाभ करना उनके लिए सम्भव न था, परन्तु विप्लवी जीवन में प्रतिक्षण निर्भीकता से मृत्यु का इंतजार करते हुए 'कर्मयोग' के साधन-मार्ग द्वारा दर्शनशास्त्र के तात्विक निचोड़ को उन्होंने अपने जीवन में अपनाया था। अपनी छोटी-सी जिन्दगी में व्यक्तिगत जीवन की तंग सीमा का अतिक्रमण करके वे संसार की माया-ममता से ऊपर उठे।'

वह आर्त्त अकुलाहट

मनुष्य के चरम ध्येय के प्रति बटुकेश्वर दत्त क्या सोचते थे, यहां स्वयं उन्हीं के विचार उद्धृत करता हूं—

'मनुष्य मात्र का हृदय संवेदनशील है। ब्रह्माण्ड की विशाल कर्मशाला में वह प्रतिक्षण विचित्र अनुभूतियों से ग्रहीत होता चल रहा है। अपने अलग-अलग दृष्टिकोण तथा कार्यक्षेत्र के अनुसार मनुष्य की अनुभूतियां भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। अनुभूति की इस प्रकार की विचित्रता के बावजूद मनुष्य के हृदय में अन्तस्तल से सर्वदा एक आर्त्त अकुलाहट का करुण स्वर उठता सुनाई देता है। कर्म के कोलाहल तथा स्वार्थ

के संघात में फंसे हुए आत्मकेंद्रित मनुष्य को इसकी सुधि नहीं है। दिनांत के पश्चात् इस कर्म-व्यस्त जगत के कोलाहल तथा जीवनधारा की इस विषम प्रतियोगिता से कुछ क्षुब्ध होकर जब हम घर पहुंचते हैं, रात्रि की निस्तब्धता को भुलाने के लिए अपनी आंखें बन्द कर लेते हैं, संसार के थपेड़ों की याद को सुख-निद्रा में विलीन कर देने की चेष्टा करते हैं, ठीक उसी क्षण मनुष्य-मात्र के हृदय से एक करुण क्रन्दन स्वर फूट पड़ता है—'मुक्ति! मुक्ति! मुक्ति! मुझे मुक्ति दो!

'मैं कौन हूं?'

'परन्तु किसकी मुक्ति के लिए यह आर्त्त पुकार, कहां से मुक्त होने के लिए यह सरिता बह रही है? वैभव-विलास का ठाट-बाट हमारी आंखों को चकाचौंध कर रहा है। पद-प्रतिष्ठा तथा सत्ता के नशे में मनुष्य चूर है, फिर भी क्यों 'मुक्ति' प्राप्त्यार्थ मानव हृदय यह असहाय क्रन्दन कर रहा है? इसी क्रन्दन के स्वर में प्रतिपल क्यों ध्वनित हो रहा है मानव हृदय का यह चिरंतन प्रश्न—'मैं कौन हूं? कहां से आया और किधर चला हूं?' कौन इसका उत्तर दे? मानव के इस अंतर्द्वंद्व का समाधान भारतीय दर्शनशास्त्र में इस प्रकार उल्लिखित है—

'पहचानो, अपने को पहचानो। अपने अन्दर स्थित अनन्त शक्ति के स्वरूप को उद्घाटित करो, तभी समाप्त होगी यह छटपटाहट और मिलेगी मुक्ति।' संस्कृत में इसी को कहा है—'आत्मानं विद्धि।'

फिर भी स्वभावतः यह प्रश्न रह जाता है कि किस साधन-मार्ग से मनुष्य अपने अंतर्निहित दिव्य स्वरूप का पता लगाये? विभिन्न महापुरुषों ने एतदर्थ कई मार्गों का संकेत किया, यथा—'ज्ञानयोग', 'भक्तियोग' और 'कर्मयोग' आदि। इन योगों के व्याख्याकार बनकर इस संसार में अनेक महानुभाव आये। शंकराचार्य तथा रामानुज जैसे व्यक्ति अवतीर्ण हुए, इसी भारत में। यहीं महाप्रभु चैतन्य और रामकृष्ण परमहंस जैसे अवतारी पुरुषों ने जन्म लिया। कर्मवीर संन्यासी स्वामी विवेकानन्द जैसे युग-मानव भी यहीं पैदा हुए। ये सभी लोग विभिन्न मार्गों के पथ-प्रदर्शक रूप में चिह्नित होकर हमारे बीच से चले गये। पर संसार के अति साधारण व्यक्ति के लिए दिव्य ज्ञान के इस उन्नत शिखर पर पहुंचना आसान नहीं। इसीलिए परमहंस श्रीरामकृष्ण देव ने सहज तथा सरल रास्ते का संकेत किया, 'भक्ति मार्ग'। विश्वास तथा भक्ति के सहारे निष्ठापूर्वक यदि मनुष्य अपनी व्यक्तिगत सत्ता का ज्ञान भूलकर विश्व की उस अनन्त शक्ति में अपने को विलीन कर सके, तो अवश्य ही वह मुक्त पुरुष बन सकता है। अविचल भक्ति के सहारे ही वे बन गये परम पुरुष श्रीरामकृष्ण।'

'मैं' की जगह समाज

कर्मवीर स्वामी विवेकानन्द कर्मयोग की बारीकी लेकर उपस्थित हुए। प्राणी रूप में जब

मनुष्य ने इस संसार में जन्म लिया है, तब कर्मकांड से अछूता नहीं रह सकता। पर कर्म का उद्देश्य स्वार्थ की जगह परमार्थ होना चाहिए। तभी 'मैं' बोध की जगह समाज, राष्ट्र तथा मानव-समाज के कल्याण-बोध की चेतना आयेगी। विवेकानन्द ने कहा है, 'तुम अपनी मुक्ति चाहोगे तो जहन्नुम चले जाओगे, इसीलिए तुम्हें औरों की मुक्ति की चेष्टा करनी चाहिए।' इसी चेतना से मनुष्य की आत्म-केन्द्रित दृष्टि के समक्ष प्रकृति का विश्व रूप प्रकट हो जायेगा।…आत्मत्यागी क्रांतिकारियों का मानसिक गठन और जीवन-चिन्तन 'निष्काम कर्मयोग' के इसी स्वर पर मुख्यतः साधा हुआ था। स्वेच्छापूर्वक जीवन की बाजी लगाकर अपने विचार तथा राष्ट्र के भविष्य के सम्बन्ध में जो पुनीत प्रत्यय हमारे हृदय से व्यक्त हुआ था, वही गतिशील विप्लवी जीवन की धुरी था। विवेकानन्द ने कहा है, 'जब श्रद्धा नष्ट हो जाती है, तब मानव भी नष्ट हो जाता है।' अतः श्रद्धा को स्वयं में जीवित रखो तथा तुम उस पर मर मिटने के लिए तैयार रहो। उस श्रद्धा से ही तुम्हारे अन्दर स्वाभिमान जागृत होगा।

राष्ट्र-जीवन के विभिन्न स्तरों पर क्रांतिकारियों के अलग-अलग विचार आये।

स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता से इन्कलाब और समाजवादी विचारधारा तक निस्संदेह क्रांतिकारी आंदोलन का राजनीतिक स्वरूप रहा। फिर भी इस आंदोलन के आरम्भ से अन्त तक विप्लवी जीवन में आध्यात्मिक मूल्य-बोध का स्थान सर्वोपरि रहा।

…लक्ष्य-प्राप्ति के लिए एकाग्र चिन्तन ही क्रांतिकारियों के जीवन में 'ध्यान' स्वरूप रहा। आदर्श के दृढ़ प्रत्ययन ने ही उन्हें आत्मबल से बली बनाया। कठोर शारीरिक यातना सहकर उन्होंने आचरण में निष्ठा प्राप्त की। उपवास की आग में निज देह और मन को झुलसाना उनके जीवन में तपश्चर्या स्वरूप ही था। और आत्म-बलिदान उस तपश्चर्या में पूर्णाहुति स्वरूप था। उनके इस भांति प्रस्थान को आप किस नाम से पुकारेंगे, मालूम नहीं, पर हमारे कानों में महात्मा गांधी के वे शब्द प्रतिध्वनित हो रहे हैं कि 'जो मानव स्वतंत्र्ता के लिए बना है, उसको सर्वस्व होम देना पड़ता है।'

फांसी नहीं, पुनर्जन्म

विप्लवी जीवन-दर्शन का यह गम्भीर तथा मर्मस्पर्शी विश्लेषण बटुकेश्वर दत्त की अन्तिम देन है, एक ऐसा ऐतिहासिक दस्तावेज, जो क्रांतिकारी इतिहास के प्रति व्याप्त विविध विवादों तथा भ्रांतियों का न केवल निराकरण करता है वरन उस मार्ग में एक ज्योतिपुंजमय दीप-स्तंभ प्रस्तुत करता है। इस आलोक में यदि हम विप्लवी जीवन को समझने का प्रयास करेंगे तो कोई भी विदेशी छलना हमारी आंखों को अपनी चकाचौंध से भ्रांत नहीं कर सकेगी। दत्त बाबू के विचार देश में कम ही प्रकाशित हुए हैं, इसलिए भी विप्लवियों के वैचारिक पक्ष को उजागर करने की गरज से मैंने विस्तार से उनके दृष्टिकोण, ऊहापोह को उद्धृत करना जरूरी समझा। हम देखेंगे कि ये विचार शचीन्द्रनाथ

सान्याल के दृष्टिकोण से विलक्षण साम्य रखते हैं, उनमें कहीं भी द्वैत नहीं है। बकौल मन्मथनाथ गुप्त "जब वे लखनऊ स्टेशन पर रोशनसिंह के पास से गुजरे तो देखा, वे निरन्तर 'ओउम्! ओउम्! की ध्वनि गुंजा रहे हैं। उन्हें फांसी की सजा सुनाई जा चुकी थी और उस समय वे इलाहाबाद की मलाका जेल भेजे जा रहे थे, जहां रोशनसिंह को फांसी दी जानी थी। रोशनसिंह ने सजा सुनने के बाद जज हैमिल्टन को कहा था—'मुझे पुनः जीवन देने के लिए आपको धन्यवाद है।' 'काकोरी केस' के ही रामदुलारे त्रिवेदी ने मुझे बताया था कि 'रोशनसिंह के चेहरे पर उस समय अटल शांति दीप्त थी। रामप्रसाद 'बिस्मिल', राजेन्द्र लाहिड़ी तथा रोशनसिंह तीनों फांसी के असामी मुस्कराते हुए पुलिस लारी में जा बैठे थे।'

उन शहीदों की यह मुस्कराहट ही दत्त बाबू की उस वैचारिक व्याख्या की ज्वलंत साक्षी है। फांमी वाले दिन प्रातः स्नानादि करके 'बिस्मिल' ने नित्य की तरह संध्या-वन्दन किया। मां को एक चिट्ठी लिखी और जब फांसी देने के लिए सिपाही उन्हें बुलाने आये तो, 'वन्देमातरम्' की ध्वनि के साथ वे यह कहकर आगे बढ़ गये—

मालिक तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे,
बाकी न मैं रहूं न मेरी आरजू रहे।
जब तक कि तन में जान रगों में लहू रहे,
तेरा ही जिक्र यार तेरी जुस्तजू रहे॥

कोई मुक्तप्राण संन्यासी ही जीवन के अन्तिम क्षणों में यह कामना व्यक्त कर सकता है, 'मैं नहीं तू ही'। मृत्यु की कसौटी पर बैठे हुए उस युवा पुरुष ने विप्लवी जीवन-दर्शन की व्याख्या अपने रक्त-बिन्दुओं से अंकित कर दी है और वह अमिट है। फांसी के प्रभात से पूर्व पिछले दिन की संध्या को जेल-कर्मचारी उनके लिए बैरक में दूध देने आया तो बिस्मिल ने उसे वापस कर दिया। कहा—'यह दूध अब मुझे नहीं चाहिए। माता का आंचल मेरे लिए आकुल हो रहा है। प्रातः मुझे वह आंचल अपना लेगा, तब अन्नपूर्णा के स्तन मुझे नवजीवन दान देंगे।' इसी तरह फांसी के दिन अशफाक ने गले में कुरान शरीफ़ का बस्ता लटकाया; कुरान की आयतें पढ़ते आप फांसी की कोठरी की तरफ बढ़ते गये थे और कहा था—'मेरा इंसाफ खुदा करेगा।' उन्होंने लिखा था—

कुछ आरजू नहीं है, है आरजू तो यह है,
रख दे कोई जरा-सी, खाके वतन कफन में।

आखिरी वक्त में, महाप्रयाण बेला में सिर्फ देश की मिट्टी को अपने कफ़न में संजोने की कामना? काश! यह निष्ठा हर भारतवासी को छू जाये। पंडितों-मौलवियों के दिल में घर कर जाए। अशफाक ने कहा था—

वतन हमेशा रहे, शाद काम और आजाद,
हमारी क्या है अगर हम रहे, रहे न रहे।

शहीद राजेन्द्र लाहिड़ी ने भी गोंडा जेल से फांसी के पूर्व पत्र में लिखा था—

'हमारे लिए मृत्यु शरीर का परिवर्तन मात्र है, पुराने कपड़ों को त्याग कर नये कपड़े पहन लेना है। मृत्यु आ रही है। मैं प्रसन्न चित्त और प्रसन्न मुख से उसका आलिंगन करूंगा।...वन्देमातरम्।'

ये पंक्तियां किस जीवन-सिद्धान्त का निर्देश करती हैं, हर कोई समझ सकता है।

बंगाल की सर्वज्ञात 'अनुशीलन समिति' भी गीता के 'कर्मयोग' को आधार बनाकर, उससे प्रेरित हो अग्नि-पथ पर अनेक जीवन्त आहुतियां देती चली थी। 'समिति' के एक जाने-माने विप्लवी नेता त्रैलोक्य महाराज का कहना है, 'अनुशीलन समिति के तरुण कार्यकर्त्ता अंधकारमय मार्ग से, नैराश्य के हावी होने पर भी 'गीता' के निष्काम कर्मयोग की साधना के व्रती हुए। वे मौन कार्यकर्ता थे। उन्होंने 'गीता' के निष्काम कर्मयोग की साधना को ही अपनाया था। इसीलिए वे चरित्र को पवित्र और निर्मल रखने की चेष्टा करते थे।...वस्तुतः 'अनुशीलन' नाम में ही 'अनुशीलन समिति' का जीवन-दर्शन निहित है। 'समिति' द्वारा कल्पित समाज में प्रत्येक स्त्री-पुरुष के मनुष्यत्व का पूर्ण विकास होगा। आर्थिक, सामाजिक, संप्रदायगत, प्रांतगत सभी विषमताएं मिटाकर सभी मनुष्यों में, समाज में समता लानी होगी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत को पूर्ण स्वातंत्र्य चाहिए, क्योंकि राष्ट्रीय सरकार ही ऐसा परिकल्पित समाज कायम कर सकती है।'

यह उन विप्लवी जनों का सपना था, साध थी और संघर्ष का हेतु था।

विप्लवी विचार-दर्शन का जब प्रसंग आया है तो 'गदर पार्टी' के नेता लाला हरदयाल का भी स्मरण अप्रासंगिक न होगा। वे देशभक्त तो थे ही, अखिल मानव-समाज के भक्त थे। संसार के पीड़ितों के परम मित्र थे। साथियों से कहते थे—'बन्धु ! यदि भारत में स्वराज्य आ जाए तो मैं इंग्लैंड से स्वदेश नहीं लौटूंगा वरन् रूस चला जाऊंगा तथा वहां के लोगों की सेवा करूंगा क्योंकि वे बहुत दुःख उठा रहे हैं। न तो मुझे अपने जीवन से प्रेम है और न उसके सुखों से—'कामये दुःखमाप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्।'

वे दल में भर्ती होने के इच्छुक युवकों को जो पुस्तकें शुरू में देते थे, वे थीं— 1. गैरिबाल्डी, 2. कावूट का इटालियन आंदोलन, 3. विस्मार्क द्वारा जर्मन-साम्राज्य का निर्माण, 4. जापान का उत्थान, 5. फ्रांस की राज्य-क्रांति, 6. जार के विरुद्ध रूसी क्रांति तथा 7. जर्मनी का राष्ट्रवादी आंदोलन।

आक्सफोर्ड से लौटने के बाद भी उन पर पश्चिमी धर्म, सभ्यता तथा संस्कृति का रत्ती भर भी असर नहीं परिलक्षित हुआ। वे उन्हीं दिनों कानपुर में 22 दिन ठहरे। रोज गंगा-स्नान करते। घुटनों तक ऊंचा धोती, ऊंचा ग्रामीण ढंग का बिना क्रीज का

कुर्ता, कन्धे पर लाठी और उसी के एक छोर पर धोती टांग लेते। यह वेश था उस उद्‌भट क्रांतिकारी का जो अनेक वर्ष विदेश में रहकर लौटा था। वे रामायण खूब सुनाते, उनकी उसमें बड़ी रुचि रहती लेकिन राम-कथा की व्याख्या करते-करते राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय तमाम राजनीतिक प्रश्नों का भी विश्लेषण कर डाला करते।

'पागल ही हूं'

राष्ट्रवाद से लाला हरदयाल के दृष्टिकोण का क्या साम्य था, इसे स्पष्ट करने के लिए मैं स्वयं उन्हीं के उद्‌गार उद्‌धृत करता हूं। एक बार कांग्रेस के सर्वोच्च नेता गोपाल कृष्ण गोखले ने कह दिया, 'हरदयाल तो देश के लिए पागल हो रहे हैं।' इस पर लाला हरदयाल ने लिखा–'मैं तो वास्तव में पागल हूं और कुछ हिन्दुओं को भी अपने साथ पागल बनाना चाहता हूं। यदि केवल एक करोड़ हिन्दुओं के दिल और दिमाग में मेरी अपेक्षा आधा पागलपन आ जाए तो हिन्दू राष्ट्र न केवल कल भारत का स्वराज्य ले लेगा वरन् पूर्वी अफ्रीका, फिजी, मारीशस आदि देशों पर भी अधिकार कर लेगा। यह हिन्दू संगठन पागल भक्तों का आदर्श होना चाहिए। निस्संदेह मैं तो हिन्दू नवयुवकों को वीरों और हुतात्माओं के उस गौरवमय पागलखाने में प्रविष्ट कराना चाहता हूं, जहां त्याग को लाभ, गरीबी को अमीरी और मृत्यु को जीवन समझा जाता है। मैं तो ऐसे पक्के एवं पवित्र पागलपन का प्रचार करता हूं। पागल! हां मैं पागल हूं। मैं खुश हूं कि मैं पागल हूं।'

इस विचारधारा के विरुद्ध जब उन्हें कई लोगों ने उनके पास स्वीडन में पत्र भेजे तो लाला हरदयाल ने पुनः लिखा–

'कुछ बेसुध राजनीतिज्ञ चुपके से मेरे कान में कहते हैं–'सावधान! इतना न चिल्लाओ। कहीं मुसलमान नेता न सुन लें। वे नाराज हो जायेंगे और समझौता न करेंगे कि वे कांग्रेस में न आएंगे–चुप! चुप! दिल में तो हमारे भी यही विचार है क्योंकि हम भी हिन्दू हैं लेकिन इस प्रकार खुल्लमखुल्ला कहने और लिखने से विच्छेद बढ़ जायेगा, इसलिये चुप रहो। ऐसी बात कहने की आवश्यकता ही क्या है? मेरा उत्तर यह है कि 'यह मेरी आत्मा का संदेश है। न मुझे मतांधों से समझौता करना है, न कांग्रेस की सभा में जाना है। न मुझे ऊपर के दिखावे से काम है, न समाचार-पत्रों के सम्पादकों का डर है। मेरे हृदय में एक विचार काम करता है और उसके प्रति मेरा कर्त्तव्य है। वह यह है कि यदि हिन्दू राष्ट्र की देह के अंतस्थल में कहीं भी जरा सुलगती हुई आग शेष है तो उसे फूंक मारकर ऐसी ज्वाला पैदा की जाए कि उसमें हमारी गुलामी और गरीबी, जिल्लत और ख्वारी हमेशा के लिए भस्म हो जाए।'

सन् 1925 में अपने स्वीडन-प्रवास-काल में ही उन्होंने लिखा था–'हिन्दू राष्ट्र में बहुत से पंथ और संप्रदाय हैं और उनके अलग-अलग प्रचारक हैं। कोई पंथ अद्वैत को मानता है, कोई द्वैत को सत्य समझता है। कोई आत्मा को सर्वव्यापी मानता है तो

कोई इसका विरोधी है। परन्तु हिन्दू राष्ट्र में सदियों से पूरी धार्मिक स्वतंत्रता तथा सहिष्णुता रही है। इसी कारण इतने विभिन्न धार्मिक विचार प्रचलित हैं। यही हाल सभ्य यूरोप तथा अमेरिका का भी है । मानव मस्तिष्क को किसी सिद्धान्त के पिंजरे में कानून की सहायता से बन्द नहीं किया जा सकता ...... धार्मिक प्रश्नों पर बहस-विवाद करने से ही सत्य का भेद खुल सकता है, जिन राष्ट्रों ने धार्मिक सहिष्णुता का उच्च सिद्धांत नहीं सीखा है, वे जरा-जरा से मतभेद के कारण सदाचारी और नेक आदमियों को जीवित जला देते हैं या पत्थरों से मार डालते हैं। परन्तु हिन्दू सभ्यता ऐसे पापों से बिल्कुल मुक्त रही है।' राष्ट्रवाद, संस्कृति तथा धर्म के प्रति ये विचार एक ऐसे सुविख्यात क्रांतिकारी के हैं जो दुनिया की 17 भाषाओं का ज्ञाता था और यूरोप के कई देशों में जिसके व्याख्यान सुनने की होड़ मचती थी, इसके बावजदू कि वे एक निर्वासित थे। भारत आने पर उन्हें अंग्रेज फांसी पर चढ़ा देते, यह तय था। अनंतर सन् 1933 में जब वे लंदन में रहकर 'हिंट्स फार सेल्फ कल्चर' नामक अपना ग्रन्थ लिख रहे थे, भाई परमानन्द ने उन्हें पत्र लिखा कि 'आप हिन्दू राष्ट्रवाद पर भी एक पुस्तक जरूर लिख दें क्योंकि आज भारत में कितने ही लोग हैं जो राष्ट्रीयता का भ्रममूलक अर्थ लेते हैं।'

सच्ची राष्ट्रीयता

लाला हरदयाल ने यह आग्रह स्वीकार किया। सन् '33 के ही 10 अगस्त को पेरिस से एक पत्र में वे लिखते हैं—'हिन्दू राष्ट्रवाद पर वह पुस्तक मैं अभी समाप्त नहीं कर पाया, देर लग रही है।'

यही नहीं, पत्र में आगे बड़ी तल्खी से वे लिखते हैं—'यदि एक हिन्दू सनातन धर्म छोड़कर आर्य समाजी बन जाए या देव समाज छोड़कर राधास्वामी पंथ में सम्मिलित हो जाए या सिख सम्प्रदाय में चला जाए तो राष्ट्रीय राज्य-मर्मज्ञ की दृष्टि से कोई हानि नहीं क्योंकि हिन्दू राष्ट्र में इन सभी संप्रदायों को पूर्ण स्वतंत्रता है। परन्तु यदि कोई कपूत विजयादशमी का त्यौहार न मनाये या गुरु गोविन्द सिंह की निंदा करे ...... तो वह राष्ट्रीय राज्य की जड़ों को कमजोर करता है और राष्ट्र की जड़ काटता है। ऐसे मनुष्य के लिए स्वतंत्रता और सहिष्णुता नहीं है। स्वतंत्रता मजहबी विचारों के लिए है, राष्ट्रीय नमकहरामी के लिए नहीं।'

यही वजह है कि लंदन में रहते हुए भी उनकी इच्छा थी कि वे नेपाल जाकर वहां ईटन और हैरो सरीखे पब्लिक स्कूल खोलें, जहां बकौल उनके 'राजमर्मज्ञ तथा राष्ट्र-निर्माताओं का निर्माण हो क्योंकि वही होंगे जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में लोगों को उचित दिशा दे सकेंगे।' नेपाल इसलिए कि वह स्वतंत्र देश था।

भारतीय राष्ट्रवाद पर बंगाल के उग्रवादी नेता विपिनचन्द्र पाल अपनी पुस्तक 'दि स्पिरिट् ऑफ इंडियन नेशनलिज्म' में लिखते हैं—

'हिन्दुओं की तथाकथित मूर्ति-पूजा अधिक आध्यात्मिकता या उदात्त रूप ग्रहण कर रही है। यह प्रक्रिया वास्तव में बंकिमचन्द्र से प्रारम्भ हुई, जिन्होंने सर्वाधिक सर्वप्रिय हिन्दू देवियों का अर्थ यह किया कि ये तो राष्ट्रीय विकास की विभिन्न अवस्थाओं की प्रतीक हैं।'

लाला लाजपतराय ने भी सन् 1916 में एक पुस्तक लिखी—'यंग इंडिया'। इसमें उन्होंने भारत के विप्लवियों को दो वर्गों में बांटा। लिखा—'एक तो वे हैं, जिनको कोई नैतिक या धार्मिक संकोच नहीं है। वे शून्यवादी हैं परन्तु उनकी संख्या बहुत ही कम है। वे लोग अनैतिक नहीं हैं। व्यक्तिगत जीवन में वे कोई ऐसा काम नहीं करेंगे जो प्रचलित आचारसंहिता के विरुद्ध हो। वे न चोरी करते हैं, न लूटते हैं परन्तु अपने आंदोलन के निमित्त वे कुछ भी कर सकते हैं।

'दूसरे जो लोग हैं, वे बहुत ही धर्मनिष्ठ या अध्यात्मवादी हैं। उनमें से कुछ काली के भक्त हैं, अन्य वेदान्ती। कुछ ईश्वरवादी या आस्तिक भी हैं। जो भी हो, ये धार्मिक उग्रवादी समझते हैं कि अंग्रेज हमारी मातृभूमि के शत्रु हैं और हमारे धर्म के भी। मातृभूमि की उपासना एवं भक्ति वे इसलिए करते हैं कि उसके द्वारा वे जगदम्बा, विश्व की मातेश्वरी की पूजा के योग्य हो जायेंगे।'

'सूली' शब्द उचारेगा : 'स्वदेशी'-प्रवर्त्तक

धर्मोन्मुखी क्रांति के सन्दर्भ में जब लिखने बैठा हूं और देखता हूं कि 'गदर पार्टी' के अन्यतम नेता लाला हरदयाल जहां बार-बार गुरु गोविन्दसिंह और उनके चार शहीद पुत्रों को याद करते हैं तो स्वाभाविक ही पंजाब के एक अन्य महान क्रांतिकारी नेता गुरु रामसिंह का उल्लेख आवश्यक समझ पड़ता है। ये सन् 1815 (संवत 1872 वि.) की शुक्ल पंचमी, गुरुवार को लुधियाना जिला के अंतर्गत ग्राम राईआं में जन्मे। यह गांव भैणी के निकट है। इनके जन्मोपरांत इनके माता-पिता भैणी में ही रहने लगे। पिता थे बाबा जस्सासिंह और मां थीं सदाकौर जी। गुरु रामसिंह को 'बारहवें पातशा' भी कहते हैं। इनका आंदोलन विप्लवी इतिहास में 'कूका-विद्रोह' नाम से प्रसिद्ध है। जन्म-साखी, बड़ी, भाई वाले वाली में इनके प्रति दर्ज है—

'भाई अजितिआ, बारवांजामा सद्‌गुरु होवेगा, निरलम्भ सबते निरलेप, सब दुनियां ते न्यारा रहेगा अते आपको बनायेगा नहीं कार निरमोद होवेगा और आसरा जो लवेगा, इक अकाल पुरुष का लवेगा ते तिसको कोई लख न सकेगा। 'सूली' शब्द उचारेगा और शब्द कमायेगा और जो सिख होवनगे जिनको बी शब्द ही दस्सेगा।'

इसी तरह 'सौ साखी' में जिक्र है—

रामसिंह मेरो होई नामा। बाढ़ी सुत भैणी को धामा ॥
रामसिंह उठे नीचत डेरे। अवनी एक रसौदी केरे ॥
कलयुग में सतयुग बरताऊं। तबै बारवां बाप कहाऊं ॥

'पंथ प्रकाश' भी कहता है, 'मेरो अवतार अस रामसिंह है भरै।' भैणी साहब में शुरू में ये लोहे और वस्त्रों के व्यवसायी थे, लेकिन ये तो प्रेमा-भक्ति के अग्रदूत थे, अतः दुकान का माल-मत्ता भक्त मंडली को खिलाने-पिलाने में स्वाहा कर दिया। मुनाफ़ा कमाना सीखा नहीं। बस, 'शब्द' की 'मस्ती' में हाल-बेहाल रहा करते। नाम-प्रचार में तन्मय रहने से 'नामधारी' कहलाये। गुरु रामसिंह बड़े उच्च स्तर से भगवन्नाम की पुकार लगाते थे। इसी कारण ये 'कूके' कहे जाने लगे क्योंकि कूकना चिल्लाने का ही पर्याय माना गया है।

'सद्गुरु' कहलाने के पूर्व आपने महाराज रणजीतसिंह की सेना में नौकरी की। यह खालसा फौज थी। फौज एक बार हजरो (फैजलपुर) गई, वहां रामसिंहजी की भेंट हुई गुरु बालकसिंहजी से। उनके उपदेश आत्मसात कर कालांतर से आपने खालसा फौज की नौकरी छोड़ दी। आपने यह प्रचार प्रारम्भ किया कि 'जब तक देश को राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं मिलती, धार्मिक स्वतंत्रता कैसे रहेगी?' अतः गुरु रामसिंह ने व्यापक संगठन-कार्य के साथ-साथ ब्रिटिश सरकार का बहिष्कार करना प्रारम्भ कर दिया। उसके 40 साल बाद गांधीजी ने भी वही रास्ता अपनाया। गुरु रामसिंह के संगठन में तीन लाख लोग शामिल हो गये। उनका सिद्धान्त था—1. "सरकारी नौकरियों का बहिष्कार करना, 2. सरकारी स्कूल-कॉलेजों का त्याग यानी बहिष्कार, 3. सरकारी अदालतों का बहिष्कार, 4. विदेशी वस्त्र और वस्तुओं का बहिष्कार तथा 5वां था कि वह कानून मत मानो जो तुम्हारी आत्मा के प्रतिकूल पड़े।" यह स्पष्ट असहयोग था।

22 सूबों (जिलों) के नाम से पूरे पंजाब को विभाजित कर गुरु रामसिंह ने वहां अपने प्रचारक रखे। एक बार दीवाली पर अपने 20 हजार सशस्त्र शिष्यों के साथ अमृतसर पधारे थे। आगे मालेरकोटला-कांड हो गया। यह घटना 23 जनवरी, 1872 में घटित हुई। कोटला बाजार से गुरु रामसिंह का एक शिष्य जा रहा था कि उसने एक मुसलमान गाड़ीवान को बैल को पीटते देखा। पीटने से मना किया, इससे झगड़ा हो गया। पुलिस ने दोनों को थाने भेज दिया। दरोगा मुसलमान था। उसने उस कूके के सामने ही बैल को कटवा डाला। कूका दुःखी हो भैणी पहुंचा। फलतः गुरु रामसिंह के लाख समझाने के बावजूद कूके उत्तेजित हो निकल पड़े। 150 कूकों ने मलौंध दुर्ग पर धावा बोल दिया। शस्त्रास्त्र लूट लिये। दूसरे, मालेरकोटला और महल पर भी छापा मारा। खजाने पर चढ़ाई की। फलतः पटियाला की सीमा पर रढ़ गांव के पास जंगल में संघर्ष के बीच 68 कूके पकड़ लिये गये, इनमें 50 को डिप्टी कमिश्नर कॉवन ने तोप से उड़वा दिया। उड़ाये जाते समय हर कूका हर्षित हो 'जय' बोलता था। इसी दिन वहां एक 13 वर्ष का बालक कत्ल करवाया गया; क्योंकि गुरुजी को जब कॉवन ने गाली दी तो उसने कॉवन साहब की दाढ़ी पकड़ ली—छोड़ी नहीं। तब बालक के दोनों हाथ काटे गये, फिर हत्या कर दी गई। बाकी 30 कूके मलौंध में फांसी पर चढ़ा दिये गये। कहते हैं, बालक से कॉवन ने कहा था—'अगर तुम कूका होने से इन्कार

कर दो तो हम रिहा कर देंगे।' पर वह दृढ़व्रती बालक कहता रहा कि वह गुरु रामसिंह का शिष्य है, कूका है। अंग्रेज कूकों द्वारा रेल, डाक, तार आदि के बहिष्कार-कार्यक्रम से चिढ़े थे ही, गुरु रामसिंह को भी देश-निकाला देकर बर्मा में कैद कर दिया, जहां सन् 1885 में उनका निधन हो गया। कूकों की गो-भक्ति प्रसिद्ध थी तथा गौ-रक्षा उनके कार्यक्रम में सम्मिलित थी। भगवन्नाम के साथ देशभक्ति तथा आजादी की अलख जगाने वाले जैसे ये कूके थे, वैसे ही महाराष्ट्र के चाफेकर बन्धु। वे कीर्तनकार और भजन-गायक होकर भी अंग्रेज अफसरों को मौत के घाट उतार गये। इन सबके प्रेरणा-स्रोत धर्म में ही सन्निहित थे। विदेशों में इनका प्रेरणा-स्रोत खोजना अन्याय होगा। उस समय रूस की क्रांति का कहीं नाम भी नहीं था। यही नहीं, 'अनुशीलन समिति' के संगठन और कार्यशैली का विधान बहुत कुछ रूस के बोलशेविकों से साम्य रखता है परन्तु बंग-भंग आंदोलन रूसी क्रांति से पहले हुआ, अतः रूस से प्रेरणा लेने का उस समय सवाल ही नहीं उठता था। अलबत्ता 'अलीपुर बम केस' के असामी हेमचन्द्रदास बम बनाना सीखने पेरिस गये थे, रूस में बम का प्रचलन तब तक हुआ ही न था।

भगतसिंह की जवानी

अन्त में आप देखेंगे कि धर्म, ईश्वर और भारतीय दर्शन के संदर्भ में भगतसिंह, जिन्हें 'नास्तिक' कहा गया, का वैचारिक पक्ष क्या था? भगतसिंह स्वयं लिखते हैं कि—

"......मैं जो कहना चाहता हूं, वह यह है कि ईश्वर के प्रति अविश्वास का भाव क्रांतिकारी दल में भी प्रस्फुटित नहीं हुआ था। 'काकोरी-केस' के प्रसिद्ध चारों शहीदों ने अपने अन्तिम दिन भजन-प्रार्थना में गुजारे थे। रामप्रसाद बिस्मिल एक रूढ़िवादी आर्य समाजी थे। समाजवाद तथा साम्यवाद में अपने बहुत अध्ययन के बावजूद राजेन्द्र लाहिड़ी उपनिषद् और 'गीता' के श्लोकों के उच्चारण की अपनी अभिलाषा नहीं दबा सके। मैंने उन सबमें सिर्फ एक ही व्यक्ति को देखा जो कभी प्रार्थना नहीं करता था और कहता था, 'दर्शनशास्त्र मनुष्य की दुर्बलता अथवा ज्ञान के सीमित होने के कारण उत्पन्न होता है।' वह भी आजीवन निर्वासन की सजा भोग रहा है परन्तु उसने भी ईश्वर के अस्तित्व को नकारने की कभी हिम्मत नहीं की। इस समय तक मैं केवल एक रोमांटिक आदर्शवादी क्रांतिकारी था। लेकिन आगे मुझे विश्व क्रांति के अनेक आदर्शों के बारे में पढ़ने का खूब मौका मिला। मैंने अराजकतावादी नेता बाकुनिन को पढ़ा, कुछ साम्यवाद के पिता मार्क्स को, किन्तु अधिक लेनिन, ट्राटस्की व अन्य लोगों को पढ़ा जो अपने देश में सफलतापूर्वक क्रांति लाये थे। वे सभी नास्तिक थे। बाकुनिन की पुस्तक 'ईश्वर और राज्य' इस विषय पर यद्यपि आंशिक रूप में, एक अच्छा अध्ययन है पर बाद में मुझे निरालम्ब स्वामी द्वारा लिखी एक पुस्तक 'सहज ज्ञान' मिली। इसमें केवल एक रहस्यवादी नास्तिकता थी। इस विषय के प्रति मेरा गहरा सम्मान हो गया।

1926 के अंत तक मुझे विश्वास हो गया कि एक सर्वशक्तिमान परम आत्मा की बात, जिसने ब्रह्मांड का सृजन किया, दिग्दर्शन और संचालन किया, एक कोरी बकवास है``मैं एक उद्घोषित नास्तिक हो चुका था``मैं जानता हूं कि जिस क्षण रस्सी का फंदा मेरी गर्दन पर लगेगा और मेरे पैरों के नीचे से तख्ता हटेगा, वह पूर्णविराम होगा, वह अंतिम क्षण होगा, मैं या संक्षेप में आध्यात्मिक शब्दावली की व्याख्या के अनुसार मेरी आत्मा, सब यहीं समाप्त हो जाएगी।

'......मैं यथार्थवादी हूं। मैं अपनी अन्तःप्रकृति पर विवेक की सहायता से विजय चाहता हूं।'

भक्ति का फल भी भक्ति ही है

नास्तिकता के बावजूद भगतसिंह का लिखा यह दस्तावेज बहुत महत्वपूर्ण है, खासकर आज के व्यक्तिमुखी, स्वार्थपरता की आपाधापी के बीच जी रहे किंवा जीने का ढोंग कर रहे उन युवकों के लिए, जिनके जीवन में कोई महत् उद्देश्य नहीं, महान लक्ष्य नहीं और जीने-मरने के बीच की लोक-यात्रा में समाज, देश, दीन-दलित मानवता का कोई विचार नहीं, उसके प्रति कोई संवेदनशीलता नहीं। त्याग-तपस्या और समष्टि-शक्ति की भावना से उन्हें देशाराधना के सिद्ध मंत्र की दीक्षा कौन दे, समय आज बीच रास्ते पर यह चुनौती देता खड़ा है। हम देशप्रेम क्यों करें? आज की पीढ़ी कहीं यह प्रश्न न करने लग जाय, क्योंकि बुजुर्गों में उसकी परिणति कहीं परिलक्षित होती नहीं। देश-देवता में यदि हमारी भक्ति स्थिर हो सके, उसे रोम-रोम से, समग्र मन से हम प्रेम कर सकें तो हम देखेंगे कि आज का यही देशवासी कितने उच्च स्तर तक उठ जाता है। सफलता उसे जरूरत से ज्यादा उत्फुल्ल नहीं करेगी, असफलता अवसादग्रस्त नहीं बना सकेगी। स्थायी आनन्द और सुख उसके हृदय में हिलोरें लेगा। वास्तविक धर्म, देश-सेवा उससे आचरित होगा। उसकी निष्ठा संयम, भक्ति, प्रेम, मधुरता, मृदुता, चरित्र—सबमें उस सेवा से प्रसूत उपलब्धि, एक ऊंचाई नजर आयेगी। उत्सर्ग-भावना मनुष्य को यह ऊंचाई प्रदान करती है, देश के प्रति अनन्य प्रेम-भक्ति से भी इसकी सहज संप्राप्ति होती है। वह चाहे जितना रिक्त, सर्वहारा पुरुष होगा, संसार के चाहने-भावने के हिसाब से वह परे, बहुत ऊंचा हो रहता है।

प्रेम से, भक्ति से क्या मिलता है? परमात्मा? नहीं। भक्ति का फल है भक्ति, प्रेम का पुरस्कार भी प्रेम ही है। 'नारद भक्ति सूत्र' में कहा गया है, 'भक्ति स्वयं अपने में फलस्वरूपा है।' अपने में ही अपना सब कुछ पा लेना, यह सिद्धि सर्वस्व समर्पण की अपूर्व साधना से ही उपलब्ध होती है और उस साधक के मन में बिन्दु मात्र भी कोई कामना शेष नहीं रहती। ऐसा प्रेमी या भक्त आंतरिक रूप से सर्वसम्पन्न होता है, उसे संसार से कुछ चाहना नहीं होता। यहां भगवत्प्रेम तथा देश-प्रेम परस्पर पर्याय रूप हैं—उनमें कोई द्वैत नहीं परन्तु वह क्या अनायास लभ्य है!

अस्तु, ज्ञात-अज्ञात उन तमाम शहीद देश-भक्त क्रांतिकारियों का यह देश-प्रेम, यह उत्कट देश-भक्ति नवीन भारत को, नई पीढ़ी को भी देश-हित में त्याग-बलिदान की प्रेरणा प्रदान करे—इसी लक्ष्य से यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है। एतदर्थ मैं अपने सुहृद स्नेही मित्र श्री शिवकुमार गोयल तथा प्रवीण प्रकाशन के संचालक श्री श्रीकृष्ण गुप्ता का अमित आभारी हूं।

—वचनेश त्रिपाठी

क्रम

जब संन्यासी-दलों ने क्रांति की

स्वतंत्रता-संग्राम के उन मामलों (केसों) को लोग जान सके, जो कभी बहुचर्चित रहे अपने जमाने में, लेकिन वह गुजरे जमाने की बात हो चुकी—आज वह सब इतिहास विस्मृति की अंधेरी पर्तों में दबता जा रहा है। निश्चित ही वह इतिहास-कथा आज भी देशवासियों को, नई पीढ़ी को राष्ट्रीय सन्दर्भों में प्रेरणादायक सिद्ध हो सकती है। इसी विचार से मैं यहां क्रांतिकारी युग के कुछ मामलों-मुकदमों (केसों) के बारे में लिखूंगा।

क्या सन् 1857 की क्रांति के भी पहले कोई क्रांति-प्रचेष्टा इस देश में हुई थी? इसका उत्तर है सन् 1700 का 'संन्यासी-विद्रोह'। इस क्रांति से भारत के साधु-संन्यासी-वनवासी, संथाल, चुआड़-भील सम्बद्ध रहे थे। तत्कालीन संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) के घाघरा तट से लेकर ब्रह्मपुत्र नदी के कछारों तक यह क्रांति-शृंखला फैली थी। और सर्वाधिक महत्त्व की बात यह है कि बंकिमचन्द्र ने जिस विश्व-विख्यात

राष्ट्रीय गीत 'बन्देमातरम्' को अपने प्रसिद्ध क्रांतिकारी उपन्यास 'आनन्द-मठ' में समाविष्ट किया—वह 'संन्यासी-विद्रोह' की ही पृष्ठभूमि से उपजा है। उस 'बन्देमातरम्' को 'आनन्द-मठ' के 'भवानन्द' सरीखे क्रांतिकारी संन्यासी भाव-विभोर होकर गाया करते थे। उस कथा की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक घटनाओं का आधार रखती है, वह मात्र कोई कल्पना-प्रसूत कथा नहीं है। अंग्रेजों ने 'आनन्द-मठ' को जब्त कर रखा था। उस पुस्तक की स्वतन्त्रता-संग्राम को बहुत बड़ी देन है। विप्लवी दलों के सदस्य 'आनन्द-मठ' अवश्य पढ़ते रहते थे। क्रांतिकारी इतिहास बिना 'आनन्द-मठ' का उल्लेख किये कभी पूर्णता नहीं पाता। फिर इस शीर्षक पर भी ध्यान देने से पता चलता है कि इसमें उन्हीं क्रांति-केन्द्रों को 'मठ' कहा गया है, जहां विप्लवी सशस्त्र संन्यासी रहा करते थे या ठहरते थे तथा जहां से उनकी क्रांति-योजनाएं संचालित-कार्यान्वित हुआ करती थीं।

पश्चात् जब पराधीनता-काल में भी ख्यातिनामा लेखकों ने क्रांति-इतिहास को लेकर वृहद ग्रंथ लिखे, तो देखा गया कि प्रायः उनमें भी 'संन्यासी-विद्रोह' का अध्याय छूट ही गया है। उसका एक कारण यह रहा कि वे विप्लवी संन्यासी कहीं स्थायी निवास तो करते न थे कि अंग्रेज लेखक याकि अंगेजों का खुफिया विभाग उनका क्रमबद्ध विवरण तथा उनके नाम-पते या क्रिया-कलाप लिपिबद्ध करा पाता! वे तो अपने हजारों संन्यासियों के दल बांधे आज यहां, तो कल वहां सर्वत्र विचरते रहते थे। 'बहता पानी रमता जोगी इनकी कौन मेढ़ मरजाद' की उक्ति ही इन संन्यासी-समूहों पर लागू होती थी। संन्यासी वैसे भी निर्बन्ध रहता है, बंधित रहे तो वह संन्यासी कैसा!

सत्ता बनाम संन्यासी

जहां तक इन संन्यासियों के इतिहास की बात है, आज भी तीर्थों में इनके वास-स्थान 'अखाड़े' कहलाते हैं, 'छोटी छावनी' सरीखी शब्दावली से इनके परिचयार्थ नाम आज भी प्रचलित हैं। अयोध्या में 'छोटी छावनी'-'बड़ी छावनी' के जो नाम चलते हैं, वे साधुओं के मठों के ही हैं। अयोध्या में 'मणिराम की छावनी' मैंने देखी। एक बार वहां के 'गोकुल-भवन' गया, जहां बाबा मंगलदास रहते थे। सुना था, उन्हें 'नाद-सिद्धि' है। मिला था उनसे, तो पता चला कि वे पहले अयोध्या की 'बड़ी छावनी' में रहते थे। इन शब्दों से वे सूत्र जुड़े हुए हैं कि जब देश के धर्म-स्थानों पर रहने-विचरने वाले साधु-संन्यासियों ने विदेशी सत्ता के विरुद्ध साका-संगाम चलाया। अंग्रेजों के पहले मुगलों से भी कभी ये साधु-संन्यासी-वैरागी लड़े थे। स्वामी प्राणनाथ ऐसे ही संन्यासियों-वैरागियों के प्रमुख थे, नेता थे। नागा संन्यासियों के समूह के समूह घोड़ों-ऊँटों-रथों, गाड़ियों, हाथियों पर सशस्त्र चलते मैंने आज से 50-55 साल पहले आम सड़कों पर देखे हैं। उनमें जो मुखिया या महंत होता था—उसके हाथी पर आगे-आगे धौंसा (नगाड़ा) बजता चलता था। यह शृंखला छत्रपति शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास से जुड़ी है। स्वामी रामदास ने स्वराज्य के ही लिए देश में दर्जनों

'अखाड़े' चलाये थे। उनका प्रामाणिक इतिहास अलिखित नहीं रह गया है। यत्र-तत्र वह लिखा मिलता है।

सन् 1567 में मौजूद पुरी तथा गिरि सम्प्रदाय के लड़ाकू यानी संग्रामी संन्यासियों का पता इतिहास में प्राप्य है। ये संन्यासी उस समय थानेश्वर में युद्धरत रहे थे। वह समय अकबर का था। अंग्रेज लेखक स्मिथ साहब ने उन सशस्त्र संन्यासियों का विवरण अपने इतिहास-ग्रंथ में दिया है तथा यह भी लिखा है कि 'खुद अकबर इस युद्ध का प्रत्यक्षदर्शी रहा था।' 'जेम्स ग्रांट' ने कुछ गवाहियां अपने ग्रंथ में संजोई हैं, जिनसे पता चलता है कि औरंगजेब की फौज से भी ये समूह-बद्ध सशस्त्र संन्यासी संग्राम कर सके थे और एक युद्ध की नेत्री तो एक बार एक वृद्धा संन्यासिनी ही थी। इस देश में कोई संन्यासिनी भी औरंगजेब सरीखे अत्याचारी से जूझ सकी थी—यह प्रमाण अंग्रेज लेखक ने दिये हैं। अतः संन्यासी-विद्रोह के पीछे जो एक सुदीर्घ परम्परा लड़ने-मरने की चली आई, उसी के रक्त-रंजित दर्शन हमें बंकिमचन्द्र ने अपने 'आनन्द-मठ' और 'देवी चौधुरानी' में कराये हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है। इसी तरह सन् 1640 में एक युद्ध सशस्त्र नागा-दलों का उस जमाने के जो संप्रदाय मदारी और जलाली नाम के थे—उनसे हुआ था। वैसे 'शाह' फकीरों को हिन्दू सूफी ही बताया गया है।

आगे ये संन्यासी दल अपना एक सुदृढ़ गुप्तचर विभाग रखते थे—जो गुप्त रूप से यह सूचना एकत्र करता था कि 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के अंग्रेज अफसरों, अंग्रेज व्यापारियों और अमीर नवाबों के खजाने कहां पर हैं? किस जगह उनकी पूंजी रहती है? उस खजाने के पहरे पर कितने हथियारबंद पहरुवे तैनात हैं? संन्यासी दलों के जो मुखिया रहते थे, उनके पास ऐसी सूचनाएं पहुंचाई जाती थीं।

ऐसे भी कई प्रसंग आये, जब हिन्दू संन्यासी और सूफी फकीर मिलकर अंग्रेजों से लड़े। बंकिमचन्द्र के 'देवी चौधुरानी' नामक ऐतिहासिक उपन्यास में जिन भवानी पाठक ओर एक सूफी फकीर नेता मजनूशाह का जिक्र आया है, वे ऐतिहासिक व्यक्ति रहे हैं, काल्पनिक नहीं। देवी चौधुरानी, भवानी पाठक और मजनूशाह ने मिलकर एक ही दल संगठित कर लिया था, जो अंग्रेजों से संग्राम करता रहा। इस दल के लिए धन-संग्रह करने के लिए देवी चौधुरानी धनी नवाबों के यहाँ डाके डालती थीं। ऐसे ही एक राष्ट्रवादी सूफी फकीर नेता थे कानपुर जिले के बदितेद्दीन। मक्खनपुर के निवासी थे। हिन्दू संन्यासी जैसा ही इनका रहन-सहन था। देह पर भस्मी भी पोतते थे। दिनाजपुर में भी ऐसे ही एक जो फकीरों का गिरोह रहता था—वह हिन्दू संन्यासियों-नागाओं से सम्बद्ध अंग्रेजों के विरुद्ध था। ये फकीर अपने नाम में 'शाह' शब्द संयुक्त करते थे। सूफी मत मानते थे। गायावर थे। बहुतांश इन्हें 'हिन्दू' ही माना गया है। खासकर 'दबिस्ता' के लेखक ने इन्हें 'हिन्दू' सूफी' ही लिखा है। इसके बावजूद अनेक अंग्रेज और खुद हिन्दू लेखकों ने भ्रम या भूल से इन्हें 'मुसलमान' लिखा। यही कारण है कि बंगाल की प्रसिद्ध क्रांतिकारिणी देवी चौधुरानी का मजनूशाह फकीर से मेल हो

सका था। वे मुसलमान या कट्टरपंथी फकीर होते तो यह मेल सम्भव न होता। ये 'शाह' फकीर हिन्दू सूफी थे–'दबिस्तां' जैसे ग्रंथ का यह कथन महत्त्वपूर्ण है जबकि उसका लेखक मुसलिम ही था परन्तु अंग्रेज तथा भारतीय लेखकों का ध्यान उधर गया नहीं। इसी कारण मजनू शाह आदि को उन्होंने 'मुसलमान' लिख डाला।

जब संन्यासियों ने अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये

बंगाल में अंग्रेजों के विरुद्ध सक्रिय इन संन्यासी-क्रांतिकारी दलों का पता चलता है। यहाँ तक कि खुद नवाब मीर कासिम ने भी सन् 1764 में अंग्रेजों से लड़ाई के दौरान इन्हीं संन्यासी दलों से मदद मांगी थी। कासिम का यह अन्तिम युद्ध था जिसमें संन्यासी दलों ने उसे सहायता दी थी, इसके तीन साल पहले सन् 1761 में भी बंगाल में एक युद्ध हुआ, जिसगें दुधारसिंह और बर्दवान के शासक मिश्री खान ने संन्यासियों और सूफी फकीरों के सहयोग से अंग्रेजों के छक्के छुड़ाये थे। यह लड़ाई बर्दवान तथा सान्ता गोला के मध्यवर्ती क्षेत्र में हुई थी। इसमें वीरभूम की फौज लड़ी थी। इस युद्ध में संन्यासियों और सूफी फकीरों के भाग लेने का वर्णन कैप्टन मार्टिन ह्वाइट ने अपने एक दस्तावेज में किया है। अंग्रेज आसानी से बर्दवान पर कब्जा नहीं कर पाये थे, वरन उन्हें प्रभूत क्षति तथा प्राणहानि उठानी पड़ी थी। एक और वर्णन मिलता है, जिसके अनुसार बंगाल के बाकरगंज क्षेत्र में 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के एक एजेन्ट मि॰ केली रहते थे। सन् 1760 में संन्यासी दल ने वहां धावा बोला तो उसका अवरोध करते समय मि॰ केली को जान के लाले पड़ गये थे। इसी तरह ढाका में जो 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' की कोठी थी, वहां 'कम्पनी' का फौज-फाटा तथा खजाना आदि था। उस पर भी संन्यासी दल ने छापा मारा। मि॰ लिसेस्टर वहां के अधिकारी थे–उन्होंने बड़ी कोशिश की कि जो सैनिक कोठी में हैं, वे संन्यासी दल से संग्राम करें, लेकिन वे स्वयं ही सैनिकों तथा अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के पहले ही कोठी छोड़कर भाग खड़े हुए। अंग्रेजों की इस भगदड़ से संन्यासी-विद्रोह की शक्ति तथा उनके साहस और शौर्य की साक्षी उजागर होती है। वे नदी में कई नावें दौड़ाकर कोठी का खजाना और रुग्ण या घायल लोगों को निकाल ले गये थे। वहां से 'कम्पनी' के सैनिक भी भाग गये थे सामने युद्ध का मौका आने पर। और वह भगदड़ भी बड़ी उपहासास्पद थी–हड़बड़ी और घबराहट में जिसे जिधर राह मिली, भाग निकला। काफी बाद में कैप्टन ग्रान्ट ढाका कोठी पर सेना लेकर आ सका था। इसके पूर्व कोठी के अंग्रेज अफसर लिसेस्टर साहब से जब 'कम्पनी' ने जवाब तलब किया उस भगदड़ से चिढ़कर, तो लिसेस्टर साहब ने सच-सच बयान कर दिया था कि 'कई कर्मचारियों सहित मैं ही पहले भागा था कोठी छोड़कर'। जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले। लिसेस्टर साहब की यह साक्षी उन संन्यासी क्रांतिकारियों के विजय-अभियान की ही गौरव-कथा है।

संन्यासी क्रांतिकारियों के संघर्ष की यह शृंखला लम्बी है। इसी साल (1763)

एक अन्य संन्यासी दल ने धावा बोला 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' की रामपुर बोआलिया-स्थित कोठी पर। मि. बोनट नाम के एक अंग्रेज अफसर उस कोठी में मौजूद थे—उनके साथ 'कम्पनी' के सैनिकों को पराजित करते हुए संन्यासी क्रांतिकारियों ने न सिर्फ उस कोठी पर कब्जा कर लिया वरन् बोनट साहब को कैद कर रखा। तत्पश्चात् कैदी हालत में ही संन्यासियों ने उन्हें पटना रवाना कर दिया—जहां संन्यासियों ने उसी वर्ष (1763) अक्तूबर में उन्हें खत्म कर दिया। यह घटना क्या तत्कालीन संन्यासी दलों की सक्रियता तथा सक्षमता का सबूत नहीं देती?

बिहार में भी

इसके तीन साल पूरे होते न होते सन् 1766 में कूच बिहार में संन्यासियों तथा अंग्रेजों में भीषण संग्राम हुआ। वहां के राजा अंग्रेजों से मिले हुए थे। फलतः रामानन्द गोसाईं ने राजा को मार डाला। लेफ्टिनेंट मारिसन उस राजा की मदद में था। बाद में रिचर्ड और कैप्टन रेनेल भी आये। इन तीनों संन्यासियों का पहले मोगल घाट में, फिर दीनहाटा में भयंकर संग्राम हुआ, जिसमें लेफ्टिनेंट मारिसन जान बचाकर भाग खड़ा हुआ। शेष बचे अंग्रेज सेनाधिकारी कैप्टन रेनेल और रिचर्ड—ये जख्मी होकर गिरे। उनके साथ सेना में जो आर्मेनियन सैनिक था—संन्यासियों से युद्ध में वह जहन्नुम चला गया। ये संन्यासी दल विजय पर विजय प्राप्त करते बढ़त गये। कुछ समूह जिनमें कई हजार संन्यासी थे—रंगपुर तक छा गये। तब सन् 1769 चल रहा था। कैप्टन डी. मैकेंजी उनके मुकाबले में फौज लेकर उतरा—दूसरी तरफ से लेफ्टिनेंट कीथ सेना लेकर आया। युद्ध हुआ तया संन्यासी दल ने लेफ्टिनेंट कीथ को मारकर खत्म कर दिया। 'कम्पनी' की अंग्रेज फौज के धुर्रे उड़ गये। कैप्टन डी. मैकेंजी को संन्यासी क्रांतिकारियों से मुंह की खानी पड़ी। यह इतिहास क्या कहता है? क्या भारतवासियों ने सहज ही अंग्रेजों की दासता स्वीकार कर ली थी? क्या केवल एक ही दल था कांग्रेस, क्या वह ही दासता दूर करने के लिए संघर्ष करता रहा था? शेष भारत सो रहा था? ये संन्यासी क्रांतिकारी जब 16-16 हजार की संख्या में अंग्रेजों की फौज से जूझ रहे थे, बंगाल में, बिहार में, तब कांग्रेस का तो जन्म ही नहीं हुआ था। उसके पौने दो सौ साल बाद वह जन्मी। उन संन्यासी क्रांतिकारियों ने एक-दो नहीं, कितने ही अंग्रेज सेनाधिकारी सम्मुख समर में यमलोक भेज दिये थे।

इस विद्रोह की शेष कथा आगे देंगे। यह कौन रास्ता था? बंगाली जज वरदाचरण मित्र लिखते हैं—

मायेर खड्ग व्यग्र धीर, मायेर अराति नाशन
शत्रु रक्ते मायेर तर्पण, जवार वदले छिन्न शिर—

कोई पूछता था, 'क्रांति कौन पथे?' तो विप्लवी उसे यही उत्तर देते थे।

परंपरा का आदर

इनमें शैव, वैष्णव, नागा, वैरागी, फकीर—सभी वर्गों के सशस्त्र विप्लवकारी साधु शामिल थे, अनेक मुस्लिम साधु भी थे जिनके नाम उक्त रिपोर्ट के अनुसार सर्वश्री बदितेद्दीन मदार, मजनूशाह, मूसाशाह, नुरूल मुहम्मद तथा चिरागअली आदि हैं। इन मुसलमानों के काफिलों में बड़ी संख्या में इनके मुसलमान मुरीद (शिष्य) भी अंग्रेजों के खिलाफ चलाये गये सशस्त्र संघर्ष में शामिल थे। इन सबने उन्हें सख्त हिदायत दे रखी थी कि 'खबरदार! आप कोई भी कभी आम रियाया (प्रजा) के साथ कोई बदसलूकी या जोर-जुल्म कतई न करें, हमारी लड़ाई अंग्रेजों से है। उनको हम कभी नहीं बख्शेंगे। उनकी कोठियां, बंगले, छावनी हम जरूर लूटेंगे, उन पर कब्जा करेंगे ताकि उनके डेरे हम हिन्दुस्तान से उखाड़कर फेंक सकें।'

इसके बावजूद वारेन हेस्टिंग्स सरीखे झूठे गवर्नरों तथा अंग्रेज अफसरों ने इन क्रांतिकारियों को 'पेशेवर डाकू', 'राहजन' और 'लुटेरे' लिखा है, टीक वैसे ही जैसे डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव सरीखे कई भ्रांत सरकारी भारतीय लेखकों की नजर में आजाद और भगतसिंह 'कातिल व डाकू' थे!

इतिहास-ग्रंथ 'दबिस्तां' में दर्ज है कि 'ये क्रांतिकारी फकीर कठमुल्ले या कि कट्टर किस्म के मुसलमान नहीं थे।' शायद इसी कारण 'दबिस्तां' ने उन सशस्त्र जुझारू फकीरों को 'सूफी संप्रदाय वाले हिन्दू' लिखकर संतोष किया है, जबकि सच में वे इस्लाम मतानुयायी ही थे। अलबत्ता मजनूशाह और मूसाशाह के दल के विप्लवी मुसलमान हिन्दू परम्परा, संस्कृति, भाषा-रीति, पर्वों तथा तीर्थों का आदर करते थे।

तीर्थों-मन्दिरों के दर्शन करने वाले

प्रमाणस्वरूप ऐतिहासिक ग्रंथों की साक्षी है कि विप्लवी नेता मजनूशाह ने एक बार रानी भवानी को एक चिट्ठी में अपनी यह भावना प्रकट की थी कि 'हमारा काफिला जहां-तहां बंगाल में यात्रा पर जाता है, ऐसा कोई साल नहीं गुजरता, जब हम अपने उस पूरे काफिले के साथ मंदिरों, शिवालयों और मशहूर तीर्थों में जाकर दर्शन न करते हों। उन सभी जगहों की रियाया (प्रजा) से हमारे दल को भरपूर भिक्षा, हर किस्म की मदद और दोस्ती व मुहब्बत से लबरेज बरताव भी मिलता रहा है।'

और इन फकीरों, साधुओं, वैरागियों के काफिले कितने विशाल थे, आज के इतिहासकार शायद यकीन भी न कर सकें। उस समय इनके हर काफिले में पचास हजार सशस्त्र विप्लवी अंग्रेजों के खिलाफ दल बनाकर जूझते थे। मजनूशाह के ही एक सहयोगी भवानी पाठक का चित्रण बंकिमचंद्र ने अपने प्रसिद्ध 'देवी चौधुरानी' नामक विप्लवी उपन्यास में किया है।

संन्यासी और फकीर क्रांतिकारी

डॉ॰ पट्टाभि सीतारमैया गांधीजी के बहुत विश्वस्त तथा समीपवर्ती नेता हो गये हैं, कांग्रेस-अध्यक्ष के चुनाव में जब सुभाष बोस के मुकाबले ये हार गये, तो गांधीजी ने कहा था, 'पट्टाभि सीतारमैया की हार मेरी हार है।' गांधीजी का यह कथन सुभाष बोस को मार्मिक चोट पहुंचा गया और उन्होंने अध्यक्ष पद का चुनाव जीतकर भी इस्तीफा दे दिया—कांग्रेस भी छोड़ दी। उन्हीं पट्टाभि ने कांग्रेस का एक बृहद् इतिहास-ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथ के प्रथम खण्ड (द्वितीय संस्करण) में वे लिखते हैं 'मि॰ ह्यूम जिन्होंने कांग्रेस कायम की, एक ऐसी महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट पा गये, जो पूरी सात जिल्दों (खण्डों) में लिखी गयी थी। इस रिपोर्ट में भारत के उन अनेक संतो-महंतों, मठाधीशों, वैरागियों, धर्मगुरुओं और उनके शिष्यों के बीच हुए उस पत्र-व्यवहार का ब्योरा और तमाम पत्रावली थी, जो पूरे हिन्दुस्तान में गदर (विप्लव) चलाने के उद्देश्य से लिखी-भेजी गई थी।'

परंपरा का आदर

इनमें शैव, वैष्णव, नागा, वैरागी, फकीर—सभी वर्गों के सशस्त्र विप्लवकारी साधु शामिल थे, अनेक मुस्लिम साधु भी थे जिनके नाम उक्त रिपोर्ट के अनुसार सर्वश्री बदितेद्दीन मदार, मजनूशाह, मूसाशाह, नुरूल मुहम्मद तथा चिरागअली आदि हैं। इन मुसलमानों के काफिलों में बड़ी संख्या में इनके मुसलमान मुरीद (शिष्य) भी अंग्रेजों के खिलाफ चलाये गये सशस्त्र संघर्ष में शामिल थे। इन सबने उन्हें सख्त हिदायत दे रखी थी कि 'खबरदार! आप कोई भी कभी आम रियाया (प्रजा) के साथ कोई बदसलूकी या जोर-जुल्म कतई न करें, हमारी लड़ाई अंग्रेजों से है। उनको हम कभी नहीं बख्शेंगे। उनकी कोठियां, बंगले, छावनी हम जरूर लूटेंगे, उन पर कब्जा करेंगे ताकि उनके डेरे हम हिन्दुस्तान से उखाड़कर फेंक सकें।'

इसके बावजूद वारेन हेस्टिंग्स सरीखे झूठे गवर्नरों तथा अंग्रेज अफसरों ने इन क्रांतिकारियों को 'पेशेवर डाकू', 'राहजन' और 'लुटेरे' लिखा है, टीक वैसे ही जैसे डॉ॰ आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव सरीखे कई भ्रांत सरकारी भारतीय लेखकों की नजर में आजाद और भगतसिंह 'कातिल व डाकू' थे!

इतिहास-ग्रंथ 'दबिस्तां' में दर्ज है कि 'ये क्रांतिकारी फकीर कठमुल्ले या कि कट्टर किस्म के मुसलमान नहीं थे।' शायद इसी कारण 'दबिस्तां' ने उन सशस्त्र जुझारू फकीरों को 'सूफी संप्रदाय वाले हिन्दू' लिखकर संतोष किया है, जबकि सच में वे इस्लाम मतानुयायी ही थे। अलबत्ता मजनूशाह और मूसाशाह के दल के विप्लवी मुसलमान हिन्दू परम्परा, संस्कृति, भाषा-रीति, पर्वों तथा तीर्थों का आदर करते थे।

तीर्थों-मन्दिरों के दर्शन करने वाले

प्रमाणस्वरूप ऐतिहासिक ग्रंथों की साक्षी है कि विप्लवी नेता मजनूशाह ने एक बार रानी भवानी को एक चिट्ठी में अपनी यह भावना प्रकट की थी कि 'हमारा काफिला जहां-तहां बंगाल में यात्रा पर जाता है, ऐसा कोई साल नहीं गुजरता, जब हम अपने उस पूरे काफिले के साथ मंदिरों, शिवालयों और मशहूर तीर्थों में जाकर दर्शन न करते हों। उन सभी जगहों की रियाया (प्रजा) से हमारे दल को भरपूर भिक्षा, हर किस्म की मदद और दोस्ती व मुहब्बत से लबरेज बरताव भी मिलता रहा है।'

और इन फकीरों, साधुओं, वैरागियों के काफिले कितने विशाल थे, आज के इतिहासकार शायद यकीन भी न कर सकें। उस समय इनके हर काफिले में पचास हजार सशस्त्र विप्लवी अंग्रेजों के खिलाफ दल बनाकर जूझते थे। मजनूशाह के ही एक सहयोगी भवानी पाठक का चित्रण बंकिमचंद्र ने अपने प्रसिद्ध 'देवी चौधुरानी' नामक विप्लवी उपन्यास में किया है।

अंग्रेजों को जनता की मदद नहीं

खुद गवर्नर वारेन हेस्टिंग्स का एक चिट्ठी में बयान है कि 'हमारे सूबे में इस वक्त जबर्दस्त युद्ध जारी है। हमारी पूरी फौज पर इन साधुओं ने हमला बोल रखा है और हमारे दो अंग्रेज अफसर जिनमें कैप्टन टामस भी थे, कत्ल कर डाले हैं। उनके सिर काटकर ले गये हैं, इन बागियों के शरीर पर कपड़े तक नहीं हैं, न इनका कहीं कोई घरबार है, न डेरे। जंगलों-पहाड़ों और नदी-नालों में मोर्चे बनाकर ये लड़ते हैं।' यही नहीं, इसी झोंक में हेस्टिंग्स ने इनके कठोर कर्तव्यपालन और शक्तिमत्ता की भी चर्चा अपनी चिट्ठियों में की है, शायद इस मजबूरी में कि ब्रिटिश कौंसिल ज्यादा फौज-फाटा उनके दमन में झोंक सके।

अंग्रेजों के 'गजेटियर' में इन बल, स्फूर्ति, दृढ़ता, शौर्य-सम्पन्न साधुओं-फकीरों की संख्या बीस लाख दर्ज है। वारेन हेस्टिंग्स ने अपने पत्रों में लिखा है कि 'यद्यपि ये यायावर हैं, फिर भी तिब्बत घाटी के दक्षिण इनका वास है, परन्तु इनके ठिकानों का पता चल पाना बड़ा मुश्किल है। इनके खिलाफ हमें जनता की कोई मदद मिल नहीं पाती, क्योंकि गांवों-शहरों के लोग उनका बहुत सम्मान करते हैं।'

किसानों को शक्ति प्रदान की

विप्लव-कार्य में प्रवृत्त तथा आचरित उक्त मुस्लिम फकीरों (साधुओं) की देशभक्ति, राष्ट्रीयता, हिन्दू क्रांतिकारियों के साथ उनकी अंतर्भूत एकता और स्नेह-सौहार्द इतिहास की अतीव शिक्षाप्रद तथा उत्प्रेरक कड़ी है, परन्तु सरकारी इतिहास-लेखकों की नजर उधर इसीलिए नहीं जा पाती, क्योंकि वे वीर बलिदानी हमारे देश की स्वतंत्रता के लिए लड़े गये सशस्त्र संग्राम के गौरव-स्तम्भ हैं।

परन्तु अंग्रेज होकर भी मि. एल. एस. एस. ओमेली तथा मि. हण्टर ने 'हिस्ट्री ऑफ बंगाल, बिहार एण्ड उड़ीसा अण्डर ब्रिटिश रूल' (प्रकाशित सन् 1925) में इन भारतीय बहादुरों को न डाकू लिखा है, न राहजन, बल्कि उन्हें 'अनिकेतन तथा सर्वव्यापी साधु' दर्ज किया है और लिखा है कि 'ये पचास-पचास हजार की तादाद में पूरे हिन्दुस्तान में विचरते पाये जाते थे।'

इन काफिलों में लाखों ऐसे किसान थे, जिनकी जमीनें, खेत आदि अत्याचारी मुगलों तथा अंग्रेजों ने छीन लिये थे, खासकर उस स्थिति में जब वे सूखा पड़ जाने से भीषण अभावों के झंझावातों से जूझ रहे थे। मजनूशाह, मूसाशाह, देवी चौधुरानी तथा भवानी पाठक ने तब उन लोगों को राह दिखायी, शस्त्र दिये और शक्ति प्रदान की।

सन् सत्तावन की क्रान्ति हुई थी, इसी हिन्द के बीच

सन् 1857 की क्रान्ति संसार की यद्यपि बहुत बड़ी क्रान्ति थी, सबसे बड़ा विप्लव, किन्तु जैसा कि ऐसे विराट् आयोजनों में प्रायः देखा जाता है, संबंधित समुदाय अपने जोश-खरोश, उत्तेजना, आवेश को बहुत कम संयमित रख पाता है और तब अनुशासन निश्चित अवधि किंवा तिथि का अनुपालन संभव नहीं रह जाता। 1857 की विराट् क्रान्ति के विषय में भी ऐसा ही हुआ—देसी पलटनों के सैनिक क्रान्तिकारियों ने मई के अन्त में जो निश्चित तिथि थी, उसके पूर्व ही छावनियों में क्रान्ति प्रारम्भ कर दी। 21 अप्रैल, 1857 को क्रान्तिकारी सैनिक मंगल पाण्डेय को फांसी दी जा चुकी थी। 22 अप्रैल, 1857 को जब सन्ध्या का अंधेरा घनीभूत हुआ—मेरठ फौजी छावनी में क्रान्तिकारी सैनिकों ने आग लगा दी। फलतः घबराकर अंग्रेज कर्नल स्मिथ ने वहां जो रेजीमेन्ट थी, उसको हुक्म दिया—'प्रातः परेड स्थल पर तीसरा देसी रिसाता उपस्थित

हो।' यह आदेश अग्नि-काण्ड के दूसरे दिन 23 अप्रैल को जारी हुआ। 24 अप्रैल का प्रभात आया तो देखा गया कि परेड-स्थल पर उस पलटन के सिर्फ 90 सैनिक ही हाजिर हुए। शेष गये ही नहीं। स्पष्ट ही अवज्ञा थी। और फिर जो वहां 90 सैनिक गये भी थे उन्हें जब नये कारतूस दिये जाने लगे तो वे बोले कि 'ये कारतूस हम नहीं लेंगे।' उनका कारतूस लेने से इन्कार करना बताता था कि मेरठ छावनी की देसी पलटन में कितना असंतोष व्याप्त है। असंतोष इतना कि यदि शेख पलटू नाम का एक सैनिक पीछे से मंगल पाण्डेय को पकड़ न लेता तो मंगल पाण्डेय की गोली से प्रेसीडेन्ट डिवीजन का सेनापति जनरल हियर्स भी मारा जाता—मंगल पाण्डेय ने एडजुटेंट लेफ्टिनेन्ट बॉथ और एक अन्य अंग्रेज सेनाधिकारी ह्यूसन पर भी गोली चलाई ही थी; सत्तावन की क्रान्ति में सर्वप्रथम अंग्रेजों पर गोली चलाने वाला क्रान्तिकारी सैनिक मंगल पाण्डेय ही था और वही उस क्रान्ति का प्रथम शहीद था। कहते हैं, दमदम नामक स्थान पर एक रोज जनवरी 1857 में एक खलासी ने प्यास से परेशान होकर सैनिक से कहा, 'जरा अपना लोटा देना, मैं भी पानी पी लूं!' वह सैनिक था ब्राह्मण। बोला—'मैं तुम्हें अपना लोटा नहीं दे सकता, कारण—तुमने मेरा लोटा छुआ तो फिर वह मेरे काम का तो रहेगा नहीं।'

यह सुनकर वह खलासी तलखी से बोला—'पंडित महाराज, अब यह पाखण्ड चलेगा नहीं—पता है? अंग्रेज सरकार तुम सबके लिये जो नये कारतूस बनवा रही है, उनको चिकनाने के लिए गाय और सुअर की चर्बी लगाई गई है और वे कारतूस अब तुम्हें दांत से काटकर खोलने होंगे।' वह सैनिक छावनी में गया तो उसने यह खबर सैनिकों को सुनाकर सनसनी फैला दी। क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, सभी सैनिक उत्तेजित होकर सोचने लगे कि अंग्रेज सरकार उन्हें ईसाई बनाकर धर्मभ्रष्ट करना चाहती हैं। इस स्थिति में पलटनों के देसी सैनिक भड़क उठे परन्तु क्रान्ति कहीं खबरों से पूरे देश में नहीं शुरू हो जाती। सत्तावनी क्रान्ति का इतिहास साक्षी है कि इस क्रान्ति के आयोजन में, प्रचार में तमाम साधु महात्मा फकीर रोटी और कमल साथ लेकर गांवों-शहरों में घूमते रहे थे। जब रोटियां किसी गांव में खत्म हो जातीं तो उस गांव के लोग और रोटियां बनवाकर दूसरे गांव के लिये भेजते। उस रोटी का एक टुकड़ा ग्रहण करने का अर्थ था कि हम भी इस क्रान्ति के ध्वज-वाहक हैं, शामिल हैं विप्लव में, देश को ब्रिटिश दासता से मुक्त कराने में। कमल तो उस क्रान्ति का प्रतीक ही था। उन रोटियों से देश में जो छुआछूत का भाव था, वह कुछ अंशों तक दूर हुआ। जन-जन एकता-सूत्र में बंधा। एकता आई, भिन्न मजहब, भिन्न वर्ण-जाति उपासना-पद्धति उसमें बाधक नहीं बनी। फैजाबाद के मौलवी अहमद उल्लाह शाह 'नक्कारा शाह' कहलाते थे। वे जब हाथीनशीन होकर अपने हजारों शिष्यों के साथ चलते थे तो आगे-आगे उनके हाथी पर नक्कारा बजता होता था। निशान (झण्डा) भी उनका हाथी पर फहराता चलता था। ये लखनऊ के घसियारी मण्डी मुहल्ले में भी रहते थे लेकिन मूल निवासी

थे अर्काट (तमिलनाडु) के। मुसलमान इनमें बड़ी श्रद्धा रखते थे। इनका बहिर्रूप मौलवी का ही था—थे भी मौलवी लेकिन वस्तुतः ये तो उस क्रान्ति के ही पुरोधा रहे थे। क्रान्ति ही इनका मजहब था और क्रान्ति ही कौमियत। ये मौलवी साहब उत्तर प्रदेश में घूम-घूमकर क्रान्ति का प्रचार करते रहे थे। फलतः इन्हें अंग्रेजों ने आगरा से 'शहर-बदर' (निष्कासित) कर दिया। अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोहात्मक पर्चे बांटते और डंके की चोट पर बगावत कर देने का एलान करते हुए पकड़े गये। पकड़े जाते समय इनके दल ने खूब मारकाट की। पुलिस पकड़ न पाई, तब फौज भेजी गई। युद्ध करते इनके कई साथी शहीद हुए, तब मौलवी गिरफ्तार हुए। ये शाह जी नाम से प्रसिद्ध थे। अंग्रेजों ने इन्हें फांसी की सजा सुनाई पर फांसी दी नहीं जा सकी। क्रान्तिकारी सैनिकों ने फैजाबाद की जेल तोड़कर इन्हें रिहा करा लिया। फैजाबाद के हिन्दू मुस्लिम सभी क्रान्तिकारी सैनिकों ने शाह जी को ही अपना सेनापति मनोनीत किया—उन्हें सम्मान में तोपों की सलामी दी।

आगे क्रान्ति प्रारम्भ हो जाने पर फैजाबाद से भागते हुए कई अंग्रेज फौजी अफसर क्रान्तिकारियों ने मार गिराये। ये अंग्रेज सेनाधिकारी नावों द्वारा फैजाबाद के छावनी घाट से भागे थे। मारे गये अंग्रेज अफसरों के नाम हैं—सर्जेन्ट मेजर मैथ्यूज, मेजर मिल, कर्नल गोल्डने, लेफ्टिनेन्ट ब्राइट, लेफ्टिनेन्ट आर॰ कॅरी, लेफ्टिनेन्ट सी॰ एम॰ आर॰ पार्सन्स। इनके अलावा अन्य 13 अंग्रेज भी मौत के शिकार बने। क्रान्तिकारी मरना ही नहीं, मारना भी जानते थे। मरते थे तो वह भी लड़ते-लड़ते। इन अंग्रेजों का हमराह उनका एक खैरख्वाह सैनिक तेगअली भी था, जो 22वीं देशी पलटन का था। यहां यह ज्ञातव्य है कि शाहजी फैजाबाद में अंग्रेजों के खिलाफ 'जेहाद' छेड़ने पर मार्च 1857 में ही गिरफ्तार कर लिये गये थे।

सर हेनरी लारेन्स मार्च 1857 में लखनऊ आया और इसने चीफ कमिश्नर के नाते काम करना शुरू किया—दरअसल यह पद उसके लिए कांटों का ताज ही था, उस विप्लव काल में। इसको जैसे ही विप्लव का पूर्वाभास हुआ—उसके दमन की तैयारी में लग गया। इस समय पश्चिमोत्तर प्रदेश में लेफ्टिनेन्ट गवर्नर था—सर काल्विन, गवर्नर-जनरल के पद पर आरूढ़ था लार्ड केनिंग तथा जार्ज ऐन्सन इस वक्त कमाण्डर-इन-चीफ था।

गाय और सुअर के चर्बी वाले कारतूसों की खबर सेना में असंतोष उभार ही रही थी, उसी समय एक अफवाह छावनी दर छावनी यह भी फैलाई गई कि कानपुर में पलटन के लिए जो आटा मेरठ से लाया गया है, क्योंकि कानपुर के बाजार में गेहूं का भाव तेजी पर था—उस आटे में गाय की हड्डियों का चूरा मिलाया गया है और वही आटा फिरंगी सरकार सैनिकों और जनता को खिला रही है—साथ ही गाय की हड्डियों का बुरादा अंग्रेज लोग कुओं में भी डलवा रहे हैं ताकि उसका पानी अपवित्र हो जाये। असंतोष की आग के बीच गांवों-नगरों, मंदिरों-मस्जिदों, सेना की छावनियों

में उद्घोष गूंजा—'मारो फिंरगी को।'

अभी तक सर जेम्स आउटरम लखनऊ नहीं आया था—लखनऊ में कमाण्डर था—जनरल हैवलाक। सुल्तानपुर में जो 15वीं इर्रेगुलर अश्वारोहिणी फौज थी, उसका कमाण्डर था—कर्नल एस. फिशर। इस तरह 8वीं अवध इर्रेगुलर पैदल पलटन का कमाण्डर कैप्टेन डब्ल्यू. स्मिथ था। कैप्टेन ब[illegible]री मिलिटरी पुलिस की पहली रेजीमेन्ट का अफसर था।

इस मौके पर जमींदारों, राजाओं में एकता का अभाव था। नतीजा यह हुआ कि एक बार वीरहार के सोमवंशी राजा उदितनारायणसिंह ने छापा मारकर जब कैप्टेन रीड और कैप्टेन अलेक्जेण्डर की रेजीमेन्ट न सिर्फ लूट ली, वरन् उन दोनों अंग्रेज अफसरों को वंदी भी बना लिया [illegible] तत्काल ही वीरहार का ही दूसरा जमींदार माधव नारायणसिंह उन कैदियों की स[illegible]यता करने दौड़ा आया। उसने उन्हें रिहा कराकर गोपालपुर भेज दिया। इसी तरह अंग्रेज सेनाधिकारी कर्नल लेनाक्स को जब गोरखपुर जाते हुए क्रान्तिकारी सैनिक ने पकड़ कर कैद कर लिया तो उसी वक्त बहराइच के मुहम्मदहुसैन खां ने आकर उस अंग्रेज को रिहा करा लिया और 9 दिनों तक अपने यहां उसकी खातिरदारी की। अंततः गोरखपुर के पैटर्सन साहब के आदमी जब उस अंग्रेज को लेने आये तो मुहम्मदहुसैन ने वखुशी उसे उनके साथ भेज दिया। आगे इन्हीं अंग्रेज सेनाधिकारियों ने जो जुल्म गांवों तक की निरीह जनता पर ढाये, जिस तरह गांव के गांव जला दिये—वह क्रूर कथा लम्बी है। इन्हीं पैटर्सन साहब ने महुआदावर नाम की आवादी को आग लगवाकर फुंकवा दिया था। यह अंग्रेज गोरखपुर में मजिस्ट्रेट था और मुहम्मदहुसैन पहले नाजिम रहा था। महुआदाबर की बाजार में अंग्रेज सर्जेन्ट बूशर को बाबू बल्लीसिंह ने पकड़कर कैद कर लिया था। सैनिक तेगअली सर्जेन्ट बूशर का खैरख्वाह था तथा बस्ती में इसी अंग्रेज की टुकड़ी में सक्रिय था। क्रान्ति की आशंका से अंग्रेजों ने पहले ही शाहगंज के राजा मानसिंह को फैजाबाद में कैद कर रखा था—अंग्रेज चीफ कमिश्नर सर हेनरी लारेन्स ने। लखनऊ में एक और किस्सा हो गया था इन्हीं दिनों। वहां डा. वेल्स सर्जन थे। एक रोज अस्पताल में दवाइयों का मुआयना करने आये। सरकारी अस्पताल था। मुआयना करते वक्त सामने अलमारी से दवा की एक बोतल उठाई। कार्क खोली और बोतल में मुंह लगाकर वह अंग्रेज डाक्टर लगा 'गट-गट' कर दवा पीने। पीने के बाद कार्क बन्द कर बोतल फिर अलमारी में यथा स्थान रख दी—उसके साथ जो एक देसी डाक्टर अस्पताल का मुआयना कर रहा था—उसने यह हरकतें देखीं तो बाहर जाने पर सेना के सिपाहियों को बता दी—वे हिन्दू तिलंगे तो पहले ही फिरंगियों पर जले-भुने बैठे थे, क्रान्ति-दिवस का इन्तजार करते बैठे थे। वे यह हाल उस डॉक्टर की जबानी सुनकर कहने लगे—'हम अब इस अस्पताल की कोई दवा न लेंगे।' बात बढ़ते-बढ़ते फौज के कमाण्डर कर्नल पायर तक पहुँची तो उसने जो देसी सेनाधिकारी थे उन्हें बुलाकर उनके सामने ही वह जूठी दवा

वाली बोतल तुड़वाकर फेंकवा दी। सर्जन डॉ. वेल्स की भर्त्सना भी की, पर पलटन के हिन्दू सैनिक तो अशांत ही बने रहे—एक दिन उन्होंने उस अंग्रेज सर्जन के बंगले में आग लगा दी और कर्नल पायर इस आगजनी में किसी भी देसी सैनिक को दंडित कर पाने की हिम्मत नहीं कर सका। ऐसा वातावरण बन गया था उन दिनों छावनियों में। 48वीं पलटन के ही सैनिकों ने यह आग लगाई थी, यह बात कर्नल पायर भी जानता था। इस अशान्तिपूर्ण स्थिति की खबर बराबर कलकत्ते में गवर्नर-जनरल और शिमला में कमाण्डर-इन-चीफ को दी जाती रही थी। मेरठ की क्रान्ति की खबर भी उन्हें विदित हो ही चुकी थी।

न केवल लखनऊ बल्कि 17 से 22 अप्रैल तक पलटन के क्रान्तिकारी सैनिक गोरों के कई बंगले और दफ्तर जला चुके थे। 36वीं पलटन की एक रेजीमेन्ट पहले से अम्बाला छावनी में पड़ाव डाले थी—एक दिन मार्च 1857 में ही दो देसी अफसर उस पड़ाव पर अपने दोस्तों से मिलने आये तो उस पलटन के कुछ सैनिकों ने उनसे कहा—'तुम तो हो गये क्रिस्तान (ईसाई), बेदीन हो गये हो, क्योंकि तुमने चर्बी वाले नये कारतूसों को दांतों से काटा जो है, उन्हें लेने से इन्कार नहीं किया।' यह सुनकर वे दोनों देसी सेनाधिकारी बड़े लज्जित हुए—ग्लानि अनुभव करते हुए चिन्ताग्रस्त होकर लौटे। ये देसी अफसर मार्च के बीच में कमाण्डर-इन-चीफ ऐन्सन के दौरे के वक्त उसके साथ अम्बाला छावनी आये थे। अपनी छावनी में लौटकर उन्होंने कारतूसों वाली बात सब सैनिकों को सक्रोध बताई। बरहामपुर की 19वीं पैदल पलटन और वहीं बैरकपुर से आई 34वीं पलटन की दो रेजीमेन्ट पहले ही विद्रोह का शंखनाद कर चुकी थीं। फलतः बैरकपुर और रानीगंज में जो गोरे अफसरों के बंगले और कोठियां थीं, वे धू-धू कर जल उठे थे। इसी क्रम में 22 अप्रैल 1857 को मेरठ छावनी में भी आग लगा दी गई। यह काम संभवतः कर्नल स्मिथ के तीसरे देसी रिसाले ने किया था। इन्हीं स्मिथ साहब ने नये चर्बी वाले कारतूस लेने से इन्कार करने पर 90 देसी सैनिकों की अम्बाला छावनी में रिपोर्ट भेजकर हर एक सैनिक को 10-10 साल की कैद की सजा कराई थी। 9 मई को वे सब सैनिक बेड़ियां झनझनाते हुए मेरठ जेल रवाना हो गये थे। उस दिन शनिवार था। 10 मई 1857 को इतवार पड़ा। दोपहर हुई तो देसी सैनिक मेरठ शहर में इतस्ततः घूमते दिखाई दिये। उनके जो साथी बेड़ियां डालकर कारागार में डाल दिये गये थे—उनके कारण वे अशांत दिख रहे थे। इतवार को गोरे अफसर गिरजाघर जाते ही थे। उस रोज भी शाम को वहां के अंग्रेज गिरजाघर जाने के लिए इकट्ठे हुए तो उनके साथ गोरे सैनिक भी जमा हो गये—उन्हें भी गिरजाघर जाना रहा होगा, परन्तु इस जमघट की खबर जब देसी सैनिकों ने पाई तो यह धारणा बनते देर न लगी कि हो न हो गोरी फौज तोपखाना लेकर देसी पलटन की बन्दूकें छीनने आने वाली है। फलतः देसी सैनिक भी मेरठ छावनी से भाग कर एक जगह इकट्ठे हो गये और खुले तौर से क्रान्ति का एलान कर दिया। क्रान्ति की पहल की

दूसरी पलटन के अश्वारोही सैनिकों ने। वे सीधे मेरठ जेल की तरफ बढ़ चले। जनता भी उमड़ चली उनके पीछे। कौन कहता है कि यह सिर्फ 'सिपाही-विद्रोह' था? उन कई सौ घुड़सवार सैनिकों ने जेल का फाटक ध्वस्त कर दिया, लौह सीखचे तोड़ डाले। कारागार में घुसकर अपने सब कैदी सैनिक भी रिहा कर लाये। इस पर अंग्रेज कैप्टेन क्रेमी तथा लेफ्टिनेन्ट मेलवाइल क्लार्क ने अपनी फौज को कूच कराकर मेरठ के परेड मैदान में इकट्ठा किया। कोलाहल सुनकर दूसरी पलटनों के भी सैनिक वहां दौड़ आये। सैनिकों को मनाना जारी था कि एक सैनिक भागता हुआ वहां आया और पुकार कर कहले लगा—'होशियार! अंग्रेज सेना तुम्हारी बन्दूकें छीनने आ रही हैं।' तुरन्त 20वीं पलटन के देसी सैनिक दौड़े बैरकों की तरफ कि बन्दूकें-कारतूस उठा लायें। कर्नल फ्रिनेसने 11वीं पलटन को समझाने-बुझाने और धमकाने में लगा कि एक सैनिक ने उसे गोली मारकर वहीं ढेर कर दिया। उस क्रान्ति में भवानी को किसी अंग्रेज की यह प्रथम बलि थी। फिर तो जो गोरा मिला, मारा गया। छावनी जला दी गयी। गोरों के बंगले लूट लिये गये। फिर यह क्रान्तिकारी कारवां दिल्ली कूच कर गया। 11 मई, 1857 को लाल किले पर कब्जा कर लिया। दिल्ली की पलटनें भी इनके साथ हो गई। राह-गली-बाजार-छावनी, जहां भी कोई गोरा मिला, मार दिया गया। अब दिल्ली में भी क्रान्ति की धूनी धधक उठी। उस रोज गोरे ढूंढ़-ढूंढ़कर मारे गये। दिल्ली की देसी पलटनों ने अपने अंग्रेज अफसरों को मारकर मेरठ की क्रान्तिकारी सेना का साथ दिया। बादशाह बहादुरशाह 'जफ़र' से कहा—'आप इस क्रान्ति के रहबर बनें। हम रुपये की कमी नहीं होने देंगे। आपके कदमों में धन का अम्बार लगा देंगे।' कारण, जफर ने कहा था, 'मेरा खजाना खाली है। फौज कैसे जुटायें?' एक अखबार से भी क्रान्ति का प्रचार किया गया—नाम था, 'पयामे आजादी'। जिसके पास यह अखबार बरामद हो जाता—उसे जेल में डाल दिया जाता था। 15 दिनों तक अंग्रेज मूक दर्शक मात्र बने रहे—कुछ न कर सके। क्रान्ति ने राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त कर लिया। हर वर्ग का, हर कौम का आदमी उससे जुड़ा—कई खानदानी रईस भी साथ हो गये। किसान-दुकानदार, मजदूर-मुनीम कोई उससे विलग न रहा। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, बिहार के बाबू कुंवरसिंह, बिठूर के नाना साहब पेशवा, रावसाहब, तात्या टोपे, गोंडा के राजा देवीबख्शसिंह, रुइयागढ़ी के नरपतिसिंह, बेरुवागढ़ के गुलाबसिंह, सण्डीला के लक्कड़ शाह, अमजदअली खां, लखनऊ की बेगम हजरतमहल, बैसवाड़े के प्रबल विप्लवी वीर राना बेनीमाधवसिंह, रुहेलखंड का नवाब, नवाब बांदा, पटना के पीरअली, सफदरअली, कानपुर की अजीजन, लखनऊ के राजा जयलालसिंह, क्रान्ति वीर कप्तान रघुनाथसिंह, कप्तान उमरावसिंह, शहीद रसूलबख्श वकील (काकोरी), महमूदाबाद के राजा नवाबअली, राजा तुलसीपुर, शहीद आगा मिर्जा, शहीद गौसबेग, विप्लवी तालिबेयारखां, मलिहावाद के अनेक पठानों, कप्तान महमूदबख्श, खैराबाद के राजा हरप्रसाद, उनका भाई जयंतीप्रसाद, चौधरी जस्सासिंह (फतेहपुर चौरासी), जहांगीराबाद मनवा व मलिहावाद

के जमींदार, गोसाईंगंज के अनन्दी व खुशाल, सेमरौता के राजा सुखदर्शनसिंह, सहजरामसिंह, अमेठी के लालमाधोसिंह, सण्डीला के हशमतअली, रसूलाबाद के चौधरी मनसबअली, डलमऊ और खजूर गांव के रघुनाथसिंह, नानपारा के कारिंदा कल्लूखां, अली खां, राजा बालकृष्ण। सूबेदार घमंडीसिंह जैसे नाम इस क्रान्ति से जुड़े हुए हैं। उन दिनों देश की आबादियों में यह लोक-गीत प्रचलित हुआ था–

सर बांध कफन का पाग, शहीदों की टोली निकली।
सत्तावन की क्रान्ति हुई थी, इसी हिन्द की बीच।
कलेजे बिच गोली निकली।

तोपची गुलाम गौस को गो-रक्षा भी चाहिए थी

अंग्रेजों ने गुलामी के दिनों में गो-रक्षा के प्रश्न को सांप्रदायिक बनाने की भरपूर चेष्टा की थी ताकि हिन्दुस्तान हमेशा फूट की आग में जलता रहे, इसके बावजूद गाय की चर्बी से बने कारतूसों को दांत से काटने के संदर्भ में इस देश में ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ जो बारूद भड़की, इतिहास उसे '1857 की क्रांति' के नाम से जानता है और यह भी जानता है कि इस क्रांति में हिन्दू-मुसलमान कंधे से कंधा भिड़ाकर अंग्रेजों से संघर्ष कर सके। लाल कमल और रोटी इस क्रांति के संदेश-वाहक बने। ये कमल और रोटियां मुसलमान फकीर और साधु लेकर चलते थे, देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक ये रोटियां घूमीं। एक शहर से दूसरे शहर, एक छावनी से दूसरी छावनी में इनका संदेश क्रांति की चिनगारी भड़काता गया। इस आग में ख़ुद को झोंकने वाले बहादुर क्रांतिकारी बरेली और बांदा के नवाब थे, नाना साहब के साथी अजीमुल्ला थे,

लखनऊ की बेगम हजरतमहल थीं, फैजाबाद के मौलवी अहमदशाह थे, रानी झांसी का तोपची गुलाम गौस और उसका बेटा था, पटना का पीरअली था, और फौज के वे सफदरअली थे जिन्हें अंग्रेजों ने फांसी पर लटका दिया। कहां था हिन्दू-मुसलमान का सवाल?

रानी झांसी किले पर सैनिक मोर्चेबंदी का मुआयना करती घूम रही हैं। तोपची गुलाम गौस भी अपनी तोप सजाये खड़ा है, वह रानी के तोपखाने का दरोगा है, बड़ा विश्वस्त सेनानी है रानी का। रानी उसकी तोपों के करीब से गुजरती हैं तो गुलाम गौस अर्ज करता है, 'रानी मां! एक पल रुकिए, मेरी घन-गर्जन तोप का एक फैर देखती जाइये।' रानी झांसी खड़ी हो जाती हैं। गुलाम गौस तोप से गोले छोड़ता है, 'धांय ऽऽ धड़ाम-धड़ाम।' भयंकर आवाज क़िले पर गूंजती है। तोप की लंबी नली धुआं छोड़ रही है। रानी अपने गले से बहुमूल्य, नौलखा हार निकालती हैं और आगे बढ़कर गुलाम गौस के गले में पहना देती हैं। गुलाम गौस के हाथ जुड़ जाते हैं, आंसू छलछला उठते हैं आंखों में। रुंधे गले से सिर्फ इतना ही कह पाता है—'रानी मां!......' यानी इसकी क्या जरूरत थी, 'आपकी नजरे इनायत है तो बहुत कुछ है। यही बहिश्त है गुलाम गौस के लिए।' मर्दे मोमिन आंसू पोंछकर तोपों की तैयारी में लग जाता है। रानी मुस्करा कर आगे बढ़ गई हैं। उनका मौन कह गया है, 'गुलाम गौस! तुम्हारी देश-भक्ति के आगे यह हार कुछ नहीं। मेरा वश चलता, तो तुम्हें हीरे-मोतियों और जवाहरातों से तौलती।' और इस गुलाम गौस को वह सब वाजिब था जिसे रानी वाजिब समझती थीं, गुलाम गौस को गो-रक्षा भी चाहिए थी। आजादी भी चाहिए थी।

सन् 57 की क्रांति में गुलाम गौस शहीद हुआ। उसकी अगली पीढ़ी रानी को पुकार कर, उसे याद करती हुई जोर-जोर से गा उठती थी—

अपने सिपहियन को लड्डू खवावै
आप पियै ठंडा पानी,
ओ! झांसी वाली रानी...!

"तुम अपने सिपाहियों को लड्डू बंटवाती थीं, खुद सिर्फ ठंडा पानी पीकर रह जाती थीं। ओ रानी मां! कहां हो तुम?"

और कहां है वह गुलाम गौस, जो अंग्रेजों के खिलाफ तोपों में बत्ती लगाने को बेताब रहता था, बेकरार और वतन के लिए अपनी जान की बाजी लगाने में कभी पीछे न रहा! ये यादें इसलिए भी कि मई महीने में ही सत्तावनी क्रांति का वह पर्व पड़ता है, महाबलिदान-पर्व! महामुक्ति-पर्व! स्वातन्त्र्य-संघर्ष का शुभारंभ दिवस! जो भड़क उठा था गाय की चर्बी से बने कारतूसों को दांतों से काटने की बात से। बैरकपुर की सेना का एक ब्राह्मण सिपाही 'प्यास से परेशान हो एक कुएं के पास ठिठक रहा। पानी भरने वाले से कहा, 'अपने लोटे से पानी पिला दे।' साथ ही पूछा—

'कौन जात हो?'

उसने अपने को अछूत बताया। सिपाही ने हाथ हटा लिए। कहा—'तब रहने दो।' इस पर कुएं पर पानी लिये खड़ा वह आदमी कह उठा—'वाह, महाराज! हमारे लोटे में तो छूत लगी है, लेकिन फिरंगी के उस कारतूस को दांत से काटकर खोलते हो जो गाय की चर्बी से बना है।'

बस!, सिपाही ने यह बात बैरकपुर की छावनी में जा कही। पल्टन का हर सैनिक भड़क उठा। अशांति और असंतोष को अनुकूल झंझावात मिल गया। मंगल पांडे आगे आया और समय से पहले ही उसकी बंदूक ने आग उगलनी शुरू कर दी। गोरे अफसर धराशायी होने लगे। मुसलमानों ने भी अपनी कुरबानी दी। बलि का खप्पर द्वार-द्वार घूमा।

दिल्ली में बागी बादशाह बहादुरशाह 'जफ़र' ने सरेआम खास सड़कों से एक जुलूस निकाला क्योंकि अंग्रेजों ने दिल्ली में यह जहर फैलाया कि सड़कों पर गौकशी करो, गाय काटो। अंग्रेजों का मंशा था कि गाय का सवाल सामने लाने पर हिन्दू क्रांतिकारी सिपाही बादशाह का साथ छोड़ देंगे। बादशाह बहादुरशाह को खबर लगी तो वह हाथी पर बैठकर आगे-आगे चला, पीछे लम्बा जुलूस और नगाड़ा बजा-बजाकर यह इत्तिलः हर खासो आम के लिए दी जा रही थी कि 'जो भी शख्स गौकशी करेगा, गाय कत्ल क़रेगा उसे शाही कानून के तहत सजाये मौत दी जायेगी।' कितनी बड़ी बात! और कितनी बढ़िया बात! दिल्ली शहर की हवा दुरुस्त हो गई। अंग्रेज अपना-सा मुंह लेकर रह गया, उसे क्या पता था कि बादशाह खुद गौकशी के खिलाफ मुनादी पिटवाते इस तरह आम सड़कों से गुजरेगा लेकिन इतिहास गवाह है कि यह हुआ।

उन बलिदानों को न भूलें

अप्रैल-मई का महीना क्रांति की कितनी ही यादों से जुड़ा है। अंग्रेज नहीं जानते थे कि स्वयं उन्हीं की सेना में मंगल पाण्डेय पैदा हो जायेंगे और झांसी के दुर्ग से घोड़ा दौड़ाती एक ऐसी नवदुर्गा दृश्यमान होगी, जिसकी वीरता और तेजस्विता, त्याग और अस्मिता आजादी की तड़प पैदा कर देगी, जिससे विवश हो कर उन्हें एक दिन बोरिया-बिस्तर समेटकर फिर से सात समुद्र पार लौट जाना पड़ेगा। सन् 1857 में धधकी क्रांति की वह आग कभी बुझी नहीं। इतना दीर्घ स्वातन्त्र्य-साका संसार के किसी भी देश में प्राप्य नहीं।

अंग्रेजों के आने के पहले जो आक्रमणकारी काफिले यहां आये, गोरी-गजनवी को छोड़कर प्रायः शेष यहीं रह गये। शक-हूण तो हिन्दुओं में ही विलीन हो गये। अलग से उनकी कोई पहचान शेष नहीं रह गई, यहां तक कि उन्होंने नाम भी स्वेच्छा

से हिन्दू रख लिये। सिक्के हिन्दू धर्म के चलाये। हजार-ग्यारह सौ वर्षों से लूटे जाते रहने के बाद भी भारत की सम्पदा इतनी कुछ थी कि संसार में उसकी कहानियां कही-सुनी जाती थीं। फारस का हकीम बुर्जोई यहां आकर हिमालय में संजीवनी बूटी खोजता फिरता था। पुर्तगाल, डच, फ्रांस और इंग्लैण्ड के लोग भी लार टपकाते यहां आये और चाहा कि हिन्दुस्तान उनकी जागीर बन जाय। बहाना बनाया व्यापार-वाणिज्य का। वे व्यापारी बन कर ही भारतीय समुद्र-तट पर उतरते रहे थे। फ्रांस देश से एक दिन एक यात्री यहां आया। वह यह देखकर दंग रह गया कि भारत में अकूत सोना-चांदी, हीरे-जवाहरात खत्तियों में भरे हैं। दूकानें उनसे पटी पड़ी हैं। व्यापारिक माध्यम से भी जो सोना दुनिया भर के देशों से भारत आता है—वह यहीं जमा होकर रह जाता है। उसकी निकासी का कोई रास्ता नहीं। उस घुमक्कड़ का नाम था बर्नियर। उस समय दिल्ली के तख्त पर मुगल थे—दक्षिण में छत्रपति शिवाजी का हिन्दवी स्वराज्य का ध्वज फहरता था। फारसी हकीम बुर्जोई और फ्रांसीसी बर्नियर ने यहां से जाकर वह फिजा बनाई कि सुदूर देश से व्यापारिक दल बनाकर विदेशी यहां आते रहे, स्वप्न देखते रहे यहां के धन से मालामाल होने के। इसी क्रम में सन् 1900 में अंग्रेजों का एक गिरोह यहां वाणिज्य करने आया, 31 दिसम्बर को उसका जहाज भारतीय सागर-तट से आकर लगा था। यही गिरोह 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' कहलाया। जितनी भी मक्कारी-बेईमानी, रिश्वत, फूट और जालसाजी की परिसीमा हो सकती थी, इस गिरोह ने भारत में पराकाष्ठा पर पहुंचाई। कहीं लालच, कहीं भय, कहीं चापलूसी तो कहीं तोड़-फोड़ कारगर करके अंग्रेजों ने यहां अपना प्रभाव, प्रसार और प्रभुत्व जमाया। उसे कौन सोच सका था कि जो आज कोठी बनाने के लिए जमीन की भीख मांगते हैं, वही कल यहां के स्वामी बनकर बैठ जायेंगे—बंगाल में उनका डेरा सन् 1760 में ही जम चुका था। 1757 में प्लासी की लड़ाई हुई और 3 साल बाद ही अंग्रेजों ने बंगाल में मीर कासिम से तीन जिले हथिया लिये। साथ में तीन करोड़ रुपये का स्वर्ण भी हड़प लिया। इस देश में अंग्रेजों की यह प्रथम उपलब्धि थी। उसी दिन 'सोनार बांगला' में रक्त-पिपासु कीट लग गया।

सन् 1762 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की मालगुजारी अंग्रेज वसूलने लगा। 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' उसके बदले वर्ष में 26 लाख रु॰ मुगल तख्त को भर देती थी। बंगाल इसी तरह तबाह-बर्बाद होता रहा। अगले 13 वर्षों में 'सोनार बांगला' कंकाल बन गया, भिक्षुक। तीन वर्षों में 50 लाख रु॰ का सोना यहां से कम्पनी ने इंग्लैण्ड भेज दिया। फिर भी अंग्रेज कहता था कि 'वे दिल्ली के मुगल बादशाह की रियाया हैं।' अंग्रेज गवर्नर-जनरल जो मुहर उस समय कागजात पर लगाता था, उसमें अंकित रहता था—'दिल्ली के बादशाह के खास फरमाबरदार।' अंग्रेज उस बादशाह के दरबार में कोर्निश भी करता था। झुक-झुककर सलाम बजाने में उसे आपत्ति न थी। तभी ग्वालियर के सिन्धिया ने चढ़ाई की और सन् 1785 में दिल्ली दबा ली। लाल किले

पर अपना गेरुवा ध्वज फहरा दिया। बादशाह शाहआलम को हटाकर सिन्धिया ने उसका 6 लाख रु॰ वार्षिक जेबखर्च निश्चित कर दिया। अंग्रेज की छाती पर सांप लोटने लगे। उन्होंने तोड़-फोड़ कर शाह आलम से सांठगांठ की और दिल्ली खुद हथिया ली। सिन्धिया अपनी सीमा में सिमट गया। अंग्रेजों ने शाहआलम का जेबखर्च दूना कर दिया—12 लाख रु॰ वार्षिक। इंग्लैंड धनी होने लगा, भारत उजड़ता गया। उसे इंग्लैंड का बलात् बाजार बनाया गया। कपास यहां से जाये, कपड़ा बनकर वहां से आये। इसी लूट-खसोट ने 1857 की क्रांति को जन्म दिया। दासता ही उसका मूल कारण बनी। सत्तावनी क्रांति के भूल में और कोई कारण खोजना भूल होगी। अब अंग्रेज गवर्नर-जनरल की मुहर से 'दिल्ली के बादशाह का खास फरमाबरदार' जैसी शब्दावली हट गई।

सन् 1837 में बहादुरशाह तख्त पर बैठे—उन्होंने कहा, 'जेबखर्च कम है—बढ़ाया जाय।' अंग्रेजों ने कहा, 'बादशाह अपने सब हक कम्पनी को दे दे, खर्च बढ़ा दिया जायेगा।' बहादुरशाह नहीं माने। नतीजा यह कि पहले का जेबखर्च भी बन्द। अपने बड़े बेटे जवांबख्त को 'जफ़र' ने युवराज घोषित किया—लार्ड डलहौजी उसे युवराज मानने से मुकर गया तथा सन् 1856 में 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' ने छोटे बेटे को युवराज करार दिया—जेबखर्च रखा उसका सिर्फ 15 हजार रु॰ मासिक और यह शर्त रखी कि वह लाल किले से चला जाय। युवराज किला छोड़ कर चला गया, तो डलहौजी ने 'जफ़र' से भी कहा कि वह भी किले से विदा हो।

अवध और बम्बई में भी कम्पनी ने अपना अधिकार-क्षेत्र बढ़ा लिया। 'कम्पनी' के भारतीय सिपाहियों को ईसाई बनाने का भी कुचक्र तेजी से चल पड़ा। राजाओं पर यह रोक लगी कि पुत्रहीन होने पर अपनी मर्जी से वे किसी को न तो गोद ले सकते हैं—न कोई पालित पुत्र उनका वारिस बन सकता है। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के भी अपना कोई बेटा न था। अपमान की सीमा नहीं रही। इन्हीं दिनों लार्ड केनिंग ने दो नये फर्मान जारी किये कि भारतीय सिपाहियों को सागरपारीय हमारे दूसरे इलाकों में भी जाना पड़ सकता है और दूसरा फर्मान यह था कि सूअर और गाय की चर्बी से चिकने बनाये गये जो नये कारतूस छावनियों में लाये गये, उन्हें दांत से काटकर ही खोलना पड़ता था—हर एक के लिए उनका उपयोग अनिवार्य कर दिया गया। भारतीय सिपाहियों में इससे और भी असंतोष भड़का—यों पहले से ही छावनियों में कमल और रोटी, क्रान्ति-सन्देश के रूप में घूम रही थीं। नाना साहब पेशवा, रानी लक्ष्मीबाई, बेगम हजरतमहल, अजीमुल्ला, मौलवी अहमदशाह, नवाब बांदा, रानाबेनी माधव, नरपतिसिंह, गुलाबसिंह, बिहार के बाबू कुंवरसिंह, रुहेला नवाब बरेली, तात्याटोपे आदि अन्दर ही अन्दर महाविप्लव की तैयारी में व्यस्त थे—31 मई को पूरे देश में एक साथ क्रान्ति का शंखनाद होना था परन्तु जब सर्वप्रथम बैरकपुर की 19वीं पलटन को नये कारतूस खोलने को विवश किया गया—यह पल्टन कुछ दिनों 34वीं पलटन के साथ रही थी।

34वीं पल्टन को क्रान्ति के लिए अलीनकी खां ने उकसाया था, अलीनकी कलकत्ते के निकट अड्डा बनाकर रहता था।

अन्दर ही अन्दर ब्रिटिश फौजों में क्रान्ति की जो आग फैल रही थी—उसकी भनक भी अंग्रेजों को न हो पाई और 31 मई के पूर्व हो भी नहीं पाती यदि 19वीं रेजीमेन्ट का मंगल पांडे बैरकपुर में सन् 1857 की 29 मार्च को ही परेड मैदान में रायफल लेकर न दौड़ पड़ता और अंग्रेज सेनाधिकारियों को गोली न मार देता। उसे 8 अप्रैल को फांसी दे दी गई। गोरों ने 19वीं पलटन भंग कर दी—इस पूरी पलटन ने नये कारतूसों को इस्तेमाल करने से मना कर दिया था। उधर 34वीं पलटन भी क्रांति का शंखनाद करने को तैयार थी। गोरों ने इसे भी भंग कर दिया—सब हथियार रखवा लिये।

वर्दियां फाड़ दीं

मंगल पांडे के बाद उसी रेजीमेन्ट के सूबेदार को भी गोरों ने फांसी दे दी। दोनों रेजीमेन्टों के भारतीय सिपाहियों ने अपनी वर्दियां फाड़ फेकीं, अपनी फौजी टोपियां जमीन पर फाड़कर फेंक दीं और उन्हें पांवों से कुचला। बूट उतार दिये। फिर गंगा-स्नान किया कि अब उनके शरीर पर ब्रिटिश गुलामी का एक सूत भी नहीं रहा है। हजारों मंगल पांडे बन गये। अभी 3 मई ही थी कि 4 भारतीय सिपाही लखनऊ में लेफ्टिनेन्ट मैशम के डेरे में घुस गये और रायफलें तान कर कहा—'तुम फिरंगियों के मरने का समय आ गया है।' उसने प्राणों की भीख मांगकर जान बचाई लेकिन यह बचकाना जोश था जो 31 मई का इन्तजार नहीं कर पाया था और इससे अंग्रेज सजग हो गये। बात फैल गई। दमन का दैत्य जग गया।

मेरठ में क्रान्ति

तब गोरों ने सोचा, देखा जाय—मामला कहां तक बढ़ा है? उन्होंने 6 मई को मेरठ में 90 भारतीय घुड़सवार सिपाहियों को नये कारतूस दिये लेकिन 85 सिपाहियों ने उन्हें लेने से इन्कार किया—5 ने ले लिया। फलतः इन 85 लोगों का 9 मई को कोर्ट मार्शल हुआ। 10-10 साल की कैद। हथकड़ी-बेड़ी पहनाई गई। उधर कुछ फौजी बाजार से निकले तो मेरठ की वेश्याओं ने उन पर ताने कसे कि 'बड़े मूंछ वाले बनते हैं, ऐंठकर चलते हैं जबकि इनके 85 साथियों को फिरंगियों ने कैद में डाल दिया। लो, हमसे चूड़ियां लेकर पहन लो—डाल दो ये बन्दूकें।' बात गहरे पैठ गई। सोचा, ऐसे जीवन को धिक्कार! गांवों की स्त्रियां भी राह चलते उन्हें टोकतीं, कहतीं—'ये मक्खी मारते घूमते हैं, उधर मर्द जेलों में जा बैठे हैं।' 20वीं पलटन और घुड़सवार रेजीमेन्ट में आग लग गई, अब कौन देखे कि 31 मई कब आती है।

अगले दिन 10 मई थी। शाम 5 बज रहे थे—दिन रविवार था। गोरे अफसर

गिरजाघर रवाना हुए—चर्च ने 5 का घंटा बजाया कि भारतीय सिपाही रास्ते में ही गोरों पर टूट पड़े। सब मारे गये। कुछ जान बचाकर जहां छिप सके—जा छिपे। गोरों को जान के लाले पड़ गये। उनके बंगले, दफ्तर, बैरकें, गिरजाघर, बैंक, आग की लपटों में 'धू-धू' कर जल उठे। जय क्रान्ति-चण्डी! गोरों के इस संहार में मेरठ की जनता, गांवों से दौड़े आये किसान भी शामिल हो गये। जेलें तोड़ दी गईं। विप्लवी 85 सिपाही अब मुक्त थे। वे भी क्रान्तिकारियों में मिल गये। कर्नल फिनिस, फिलिप्स, डॉ. क्रिस्टी, कैप्टन क्रेवी, लेफ्टिनेन्ट हैंडरसन, लेफ्टिनेन्ट पैंट, लेफ्टिनेन्ट हेंपलर मारे गये।

फिर नारा गूंजा—'दिल्ली चलो!' अगले दिन दो हजार क्रान्तिकारी सिपाहियों का कारवां दिल्ली की ओर कूच कर गया, दिल्ली स्वतत्र कराने। वह आजाद हुई भी, फिर बहादुरशाह बादशाह बनाये गये। पांच महीने तक दिल्ली स्वतन्त्र रहीं—क्रान्तिकारियों के कब्जे में। उधर बरेली, बांदा, लखनऊ, कानपुर, कालपी भी स्वतन्त्र हुए। वहां क्रान्तिकारियों ने अपनी सरकार स्थापित की। लखनऊ के बेलीगारद में लारेंस मारा गया—उसकी दीवारें तोप के गोलों से छलनी हो गईं—आज भी वे निशान देखे जा सकते हैं और देखी जा सकती है लारेन्स की कब्र। कानपुर में 500 अंग्रेज कत्ल किये गये।

झांसी-दुर्ग में युद्ध

एक जून को झांसी में गोरों के बंगले जलने लगे। लक्ष्मणराव पाण्डे ने यहां गोरों की 12वीं और 14वीं पलटन में जो कमल और रोटी बंटवाई थी, वह रंग लाई। झांसी दुर्ग पर गोरे अपना झंडा लगाकर बैठे थे। 7 जून को क्रान्तिकारी किले पर चढ़ आये। कर्नल डनलप, एन्साइन टेलर और कमिश्नर गार्डन मारे गये। कालेखां और मुहम्मद हुसैन ने दुर्ग का फाटक खुलवाकर दम लिया। 8 जून को झांसी की सड़कों से गोरे कैदियों का एक जुलूस गुजरा। क्या दृश्य था! गोरों की मुश्कें बंधी थीं। इनमें चीफ कमिश्नर स्कीन भी था। आखिर इन्हीं लोगों ने रानी झांसी को अपमानित किया था, उनका राज्य छीना था। जुलूस से बच्चे और मेमें अलग कर दी गईं—फिर बाकी 110 गोरों को गोली मार दी गई। 'जय क्रान्ति-भवानी!' उसका यही पथ है। 8 जून को झांसी स्वतन्त्र हो गई। 'रानी झांसी की जय!' अवनि-अम्बर में एक ही उद्घोष। 23 वर्ष की लक्ष्मीबाई फिर सिंहासनारूढ़ हुई। हिन्दू-मुस्लिम सभी की वह रानी थी। तोपची गुलाम गौस कितना खुश था! दुर्ग में जब युद्ध शुरू होने वाला था और रानी तोपों का निरीक्षण कर रही थी—कहा था तोपों के दरोगा गुलाम गौस ने बड़े हौसले से—'रानी साहिबा! एक फैर हमारी तोप का भी देख लें।' उसके बेटे मुहम्मद गौस ने गोले लगाये और 'दुड़म्-दुड़म्!' का भीम-भयंकर भैरव-स्वर हवा में धुएं के अम्बार के साथ गूंज गया था। कितना सच्चा था गुलाम गौस का लक्ष्य-भेद! रानी ने खुश होकर अपने गले से नौलखा हार उतारा और गुलाम गौस के गले में डाल दिया। बूढ़े तोपची का कण्ठ

34वीं पल्टन को क्रान्ति के लिए अलीनकी खां ने उकसाया था, अलीनकी कलकत्ते के निकट अड्डा बनाकर रहता था।

अन्दर ही अन्दर ब्रिटिश फौजों में क्रान्ति की जो आग फैल रही थी—उसकी भनक भी अंग्रेजों को न हो पाई और 31 मई के पूर्व हो भी नहीं पाती यदि 19वीं रेजीमेन्ट का मंगल पांडे बैरकपुर में सन् 1857 की 29 मार्च को ही परेड मैदान में रायफल लेकर न दौड़ पड़ता और अंग्रेज सेनाधिकारियों को गोली न मार देता। उसे 8 अप्रैल को फांसी दे दी गई। गोरों ने 19वीं पलटन भंग कर दी—इस पूरी पलटन ने नये कारतूसों को इस्तेमाल करने से मना कर दिया था। उधर 34वीं पलटन भी क्रांति का शंखनाद करने को तैयार थी। गोरों ने इसे भी भंग कर दिया—सब हथियार रखवा लिये।

वर्दियां फांड़ दीं

मंगल पांडे के बाद उसी रेजीमेन्ट के सूबेदार को भी गोरों ने फांसी दे दी। दोनों रेजीमेन्टों के भारतीय सिपाहियों ने अपनी वर्दियां फाड़ फेकीं, अपनी फौजी टोपियां जमीन पर फाड़कर फेंक दीं और उन्हें पांवों से कुचला। बूट उतार दिये। फिर गंगा-स्नान किया कि अब उनके शरीर पर ब्रिटिश गुलामी का एक सूत भी नहीं रहा है। हजारों मंगल पांडे बन गये। अभी 3 मई ही थी कि 4 भारतीय सिपाही लखनऊ में लेफ्टिनेन्ट मैशम के डेरे में घुस गये और रायफलें तान कर कहा—'तुम फिरंगियों के मरने का समय आ गया है।' उसने प्राणों की भीख मांगकर जान बचाई लेकिन यह बचकाना जोश था जो 31 मई का इन्तजार नहीं कर पाया था और इससे अंग्रेज सजग हो गये। बात फैल गई। दमन का दैत्य जग गया।

मेरठ में क्रान्ति

तब गोरों ने सोचा, देखा जाय—मामला कहां तक बढ़ा है? उन्होंने 6 मई को मेरठ में 90 भारतीय घुड़सवार सिपाहियों को नये कारतूस दिये लेकिन 85 सिपाहियों ने उन्हें लेने से इन्कार किया—5 ने ले लिया। फलतः इन 85 लोगों का 9 मई को कोर्ट मार्शल हुआ। 10-10 साल की कैद। हथकड़ी-बेड़ी पहनाई गई। उधर कुछ फौजी बाजार से निकले तो मेरठ की वेश्याओं ने उन पर ताने कसे कि 'बड़े मूंछ वाले बनते हैं, ऐंठकर चलते हैं जबकि इनके 85 साथियों को फिरंगियों ने कैद में डाल दिया। लो, हमसे चूड़ियां लेकर पहन लो—डाल दो ये बन्दूकें।' बात गहरे पैठ गई। सोचा, ऐसे जीवन को धिक्कार! गांवों की स्त्रियां भी राह चलते उन्हें टोकतीं, कहतीं—'ये मक्खी मारते घूमते हैं, उधर मर्द जेलों में जा बैठे हैं।' 20वीं पलटन और घुड़सवार रेजीमेन्ट में आग लग गई, अब कौन देखे कि 31 मई कब आती है।

अगले दिन 10 मई थी। शाम 5 बज रहे थे—दिन रविवार था। गोरे अफसर

गिरजाघर रवाना हुए—चर्च ने 5 का घंटा बजाया कि भारतीय सिपाही रास्ते में ही गोरों पर टूट पड़े। सब मारे गये। कुछ जान बचाकर जहां छिप सके—जा छिपे। गोरों को जान के लाले पड़ गये। उनके बंगले, दफ्तर, बैरकें, गिरजाघर, बैंक, आग की लपटों में 'धू-धू' कर जल उठे। जय क्रान्ति-चण्डी! गोरों के इस संहार में मेरठ की जनता, गांवों से दौड़े आये किसान भी शामिल हो गये। जेलें तोड़ दी गईं। विप्लवी 85 सिपाही अब मुक्त थे। वे भी क्रान्तिकारियों में मिल गये। कर्नल फिनिस, फिलिप्स, डॉ. क्रिस्टी, कैप्टन क्रेवी, लेफ्टिनेन्ट हैंडरसन, लेफ्टिनेन्ट पैंट, लेफ्टिनेन्ट हेंपलर मारे गये।

फिर नारा गूंजा—'दिल्ली चलो!' अगले दिन दो हजार क्रान्तिकारी सिपाहियों का कारवां दिल्ली की ओर कूच कर गया, दिल्ली स्वतत्र कराने। वह आजाद हुई भी, फिर बहादुरशाह बादशाह बनाये गये। पांच महीने तक दिल्ली स्वतन्त्र रहीं—क्रान्तिकारियों के कब्जे में। उधर बरेली, बांदा, लखनऊ, कानपुर, कालपी भी स्वतन्त्र हुए। वहां क्रान्तिकारियों ने अपनी सरकार स्थापित की। लखनऊ के बेलीगारद में लारेंस मारा गया—उसकी दीवारें तोप के गोलों से छलनी हो गईं—आज भी वे निशान देखे जा सकते हैं और देखी जा सकती है लारेन्स की कब्र। कानपुर में 500 अंग्रेज कत्ल किये गये।

झांसी-दुर्ग में युद्ध

एक जून को झांसी में गोरों के बंगले जलने लगे। लक्ष्मणराव पाण्डे ने यहां गोरों की 12वीं और 14वीं पलटन में जो कमल और रोटी बंटवाई थी, वह रंग लाई। झांसी दुर्ग पर गोरे अपना झंडा लगाकर बैठे थे। 7 जून को क्रान्तिकारी किले पर चढ़ आये। कर्नल डनलप, एन्साइन टेलर और कमिश्नर गार्डन मारे गये। कालेखां और मुहम्मद हुसैन ने दुर्ग का फाटक खुलवाकर दम लिया। 8 जून को झांसी की सड़कों से गोरे कैदियों का एक जुलूस गुजरा। क्या दृश्य था! गोरों की मुश्कें बंधी थीं। इनमें चीफ कमिश्नर स्कीन भी था। आखिर इन्हीं लोगों ने रानी झांसी को अपमानित किया था, उनका राज्य छीना था। जुलूस से बच्चे और मेमें अलग कर दी गईं—फिर बाकी 110 गोरों को गोली मार दी गई। 'जय क्रान्ति-भवानी!' उसका यही पथ है। 8 जून को झांसी स्वतन्त्र हो गई। 'रानी झांसी की जय!' अवनि-अम्बर में एक ही उद्घोष। 23 वर्ष की लक्ष्मीबाई फिर सिंहासनारूढ़ हुई। हिन्दू-मुस्लिम सभी की वह रानी थीं। तोपची गुलाम गौस कितना खुश था! दुर्ग में जब युद्ध शुरू होने वाला था और रानी तोपों का निरीक्षण कर रही थीं—कहा था तोपों के दरोगा गुलाम गौस ने बड़े हौसले से—'रानी साहिबा! एक फैर हमारी तोप का भी देख लें।' उसके बेटे मुहम्मद गौस ने गोले लगाये और 'दुड़म्-दुड़म्!' का भीम-भयंकर भैरव-स्वर हवा में धुएं के अम्बार के साथ गूंज गया था। कितना सच्चा था गुलाम गौस का लक्ष्य-भेद! रानी ने खुश होकर अपने गले से नौलखा हार उतारा और गुलाम गौस के गले में डाल दिया। बूढ़े तोपची का कण्ठ

रुद्ध। आंखें भीग गईं। कुछ कहना चाहा, 'रानी साहिबा!' ·····लेकिन न गला साफ हुआ, न आंखों की तरलता। आंसू ही आंसू! हार के मोती चमकते हैं, गुलाम गौस के आंसू भी चमके। 'जय हो रानी मैया की !

अपने सिपहियन को लड्डू ख़वावै
आप पियै ठंडा पानी,
अरे ओ झांसी वाली रानी!

(—'जो अपने सिपाहियों को लड्डू खिलाकर पानी पिलाती है लेकिन खुद सिर्फ ठंडा पानी पीकर ही संतोष करती है, ऐसी है झांसी की रानी') क्रान्तिकारी सिपाहियों के पुलक भरे स्वर हवा में तैरते जा रहे हैं दूर-दूर तक, दिग्दिगन्त तक।

'खल्क खुदा का, मुल्क बादशाह का, अमल रानी लक्ष्मीबाई का! झांसी में फिर से मुनादी पिट रही है, सड़कों पर गोरे कहीं नजर नहीं आते। 'सन् 57 जिन्दाबाद! जिन्दाबाद!' चतुर्दिक तुमुलनाद।

उधर इटावा का कलेक्टर एवेन ओक्टेवियन ह्यूम स्त्री वेश में एक ठाकुर के घर में जा छिपा था—इसी ने सन् 1885 में 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' को जन्म दिया ताकि इस देश में फिर कभी सत्तावनी क्रान्ति, 1857 न लौट आये। शुरू में यह महज सुधारों की भीख मांगने तक ही सीमित रहने वाली संस्था बनी रही। तभी सन् 1914 का महायुद्ध छिड़ गया। क्रान्तिकारी मौका पा गये। रासबिहारी बोस के नेतृत्व में शचीन्द्रनाथ सान्याल, पिंगले, कर्त्तारसिंह फौजों में क्रान्ति की अलख जगाने लग गये। पिंगले छावनी में पकड़े गये—फांसी पाई। 17 वर्षीय कर्त्तारसिंह भी फांसी चढ़े। रासबिहारी बोस फरार होकर जापान चले गये। शचीन्द्र सान्याल काले पानी पहुंच गये। क्रान्तिकारी रामरक्खा का अण्डमान में जनेऊ उतार डाला गया तो उन्होंने आत्महत्या कर ली।

दिल्ली में बम गिरा

इस समय गोपालकृष्ण गोखले ही कांग्रेस के सबसे बड़े नेता थे। नरम दली थे। तिलक, लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष गरम दली थे। 'बंग-भंग' के खिलाफ अरविन्द घोष का आन्दोलन सफल हो चुका था। अंग्रेजों को 'बंग-भंग' रद्द करना पड़ा था तथा अंग्रेज कलकत्ते से अपनी राजधानी दिल्ली उठा ले जाने को विवश हो गये थे। गोरे इन आन्दोलनों, क्रान्तिकारियों के विस्फोटों-गोलीकांडों को भूल नहीं पाये। रासबिहारी बोस के प्रयास से खास दिल्ली में लार्ड हार्डिंग्ज पर सरे बाजार बम फेंका गया जब उसका जुलूस निकल रहा था। साफ था कि क्रान्तिकारियों ने दिल्ली में भी अंग्रेजों का पीछा छोड़ा नहीं।

सहयोग का पुरस्कार : रौलट एक्ट

तिलक 6 साल बर्मा की मांडले जेल रहकर वापस आये। लाला लाजपतराय और सरदार

अर्जीतसिंह भी माण्डले के निष्कासन से लौटे। सन् 1915 में मोहनदास करमचन्द गांधी दक्षिण अफ्रीका से यहां आ गये। गांधी जी ने महायुद्ध में अंग्रेजों को खुला समर्थन और सहयोग दिया—अंग्रेज यहां जबरिया सैनिकों की भर्ती करते थे—50 लाख भारतीय भर्ती किये गये थे। बलात् युद्ध का चन्दा वसूलते थे। अंग्रेजों ने गांधीजी को 'कैसरे हिन्द' का स्वर्णपदक प्रदान किया। गांधीजी का अभी विद्रोही स्वरूप सामने नहीं आया था—वह आया तब जब महायुद्ध खत्म हुआ और अंग्रेजों ने भारतवासियों को कुछ देने के बजाय दबाने का उपक्रम किया—'रौलट ऐक्ट बिल' ले आये। तब गांधीजी चौंके, विद्रोही बन गये। सन् 1917 में ही अंग्रेजों ने एक कमेटी बनाई थी कि वह हिन्दुस्तान भर में क्रान्तिकारी गतिविधियों की जानकारी करे तथा उन्हें समाप्त करने के लिए क़ानून बनाये। इस कमेटी के अध्यक्ष थे जस्टिस रौलट। इस बिल का अर्थ था बिना मुकदमा चलाये किसी को भी पकड़ कर जेल में डाल देना। अपील, दलील, वकील की जरूरत नहीं। जनता ने इसे 'काला कानून' कहा। कहां तो कांग्रेस आशा लगाये बैठी थी कि अंग्रेज महायुद्ध जीतने के बाद भारत को कुछ देंगे, औपनिवेशिक स्वराज्य या आत्मनिर्णय का अधिकार, परन्तु गुड़ दिखाकर ईंट मारी गई। सामान्य नागरिक अधिकार ही छीने जाने की नौबत आ गई।

गांधीजी राजनीतिक क्षितिज पर सहसा छा गये जब उन्होंने कहा--'6 अप्रैल को रौलट ऐक्ट विरोध में पूरे देश में हड़ताल रखी जाय।' उन्होंने इस दिन को 'शोक-दिवस' कहा। अंग्रेजों ने पंजाब और दिल्ली में गांधीजी का जाना रोक दिया। गांधीजी नहीं रुके—दिल्ली रवाना हुए तो पलवल में पकड़कर बम्बई ले आकर छोड़ दिये गये। उधर पंजाब के प्रसिद्ध नेता डॉ. सत्यपाल और किचलू गिरफ्तार हो गये। कहां ले गये, कुछ पता नहीं। जनता क्षुब्ध-क्रुद्ध। जनता ने इन गिरफ्तारियों के विरुद्ध अमृतसर में 10 अप्रैल को प्रदर्शन किये। गोली चली। कई मारे गये। क्षोभ बढ़ता गया। आन्दोलन को जन-जन तक जगाने का श्रेय गांधीजी को ही है। उनके आह्वान से कांग्रेस जन-आन्दोलन बन गई। जनता में उग्रता भी आई। दिल्ली स्टेशन पर धावा हुआ। कई अंग्रेज मार डाले गये। स्वामी श्रद्धानन्द ने दिल्ली में जुलूस का नेतृत्व किया। अंग्रेजों ने कहा—'गोली मार देंगे।' श्रद्धानन्द ने अपनी छाती के बटन खोलकर कहा—'मार दो गोली।' अमृतसर को लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सर माइकेल ओ'डायर ने सेना के हवाले कर दिया। मार्शल ला लगा दिया। 13 अप्रैल को वैशाखी पर्व था, प्रथम सृष्टि का प्रथम दिन। पंजाब में बड़े उत्सव होते हैं। अमृतसर में उस दिन किसान भी बहुत जमा होते हैं।

निहत्थों पर मशीनगनें

अमृतसर में सेनाधिकारी था जनरल डायर। बड़ा क्रूर। उसने तय किया कि कहीं एक जगह भारतीयों को घेरकर शिकार किया जाय। ब्रिटिश दमन, गिरफ्तारियों तथा रौलट

ऐक्ट के खिलाफ जलियांवाला बाग में 13 अप्रैल को सभा थी। वैशाखी पर आने वाले ग्रामीण किसान भी इसमें भारी संख्या में आये। 25-30 हजार की भीड़ थी। दरवाजा एक ही था—वह भी गली में। तीन तरफ ऊंचे-ऊंचे मकान थे। बाग कुछ था नहीं। तीन पेड़ थे—एक कुआं था। डायर ने बिना चेतावनी दिये सभा पर दो मशीन गनों से हमला करा दिया। अंग्रेजों ने ही कहा—'379 लोग मर गये। 1200 घायल।' मरने वालों की संख्या दो हजार थी। रात में रतन देवी पति की लाश ढूंढ़ने आई—साथ था ऊधमसिंह, जो मदद के लिए आया था। गोरे संतरी ने गोली चला दी। ऊधमसिंह की बांह जख्मी हुई। उसने वहीं बाग में लाशों के पास खड़े-खड़े शपथ ली कि 'वह इस कत्लेआम का डायर से बदला लेगा।'

ऊधमसिंह का प्रतिशोध

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'सर' की उपाधि वापस कर दी। गांधीजी ने 'कैसरे हिन्द' का स्वर्ण पदक लौटाया। 'रौलट एक्ट' के विरोध ने देश को गांधी दिया, जलियांवाला बाग की जड़ से गांधीजी का असहयोग आन्दोलन जन्मा। आन्दोलन व्यापक बन गया। 20 साल बाद ऊधमसिंह ने लन्दन में डायर को गोली मार दी। क्रान्ति का कारवां कभी थमा नहीं—आजादी आने तक। उन ज्ञात-अज्ञात सहस्रों शहीदों को हम न भूलें, जो सत्तावनी क्रान्ति, बंग-भंग आन्दोलन, गदर-पार्टी के विप्लव और 'जलियांवाला बाग-हत्याकांड' के बीच बलिदान हुए। आगे 'जलियांवाला बाग-हत्याकांड' इस देश में नहीं होंगे, यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए देश को आगे भी रानी लक्ष्मीबाई, तात्याटोपे, नाना, अजीमुल्ला, कर्त्तारसिंह, पिंगले और ऊधमसिंह की जरूरत होगी। भारत मां ऐसे वीरों को फिर जन्म देगी—यह भविष्य सिद्ध करेगा।

कलम आज उनकी जय बोल
जो चढ़ गये पुण्य-वेदी पर,
लिए बिना जीवन का मोल।

महान शहीद ऊधमसिंह

पटियाला रियासत में एक प्राचीन कस्बा है सुनाम। 'यथा नाम तथा गुण' के अनुसार इस कस्बे ने इतिहास में अपना नाम रोशन कर दिया। इसने भारत के एक महान शहीद को जन्म दिया, यहीं के अन्न-जल में उसका बचपन पुष्ट हुआ। उस शहीद का नाम था ऊधमसिंह। सिख सरदार थे। 26 दिसम्बर 1899 को जन्मे और 12 जून 1940 को इंग्लैण्ड की पेंटन-विला जेल में फांसी पाकर शहीद हुए।

कहते हैं, सुनाम के ही एक सरदार रामसिंह के घर आये हुए एक ज्योतिषी ने काफी पहले ऊधमसिंह की रेखाएं देखकर भविष्य बता दिया था कि 'उन्हें विदेश में एक कत्ल के मामले में फांसी होगी। वे दो बार विदेश जायेंगे किन्तु दूसरी बार स्वदेश आपस न आ सकेंगे।' सरदार रामसिंह सेना में सूबेदार थे। उनके लड़के अजितसिंह और तारासिंह दोनों ही ऊधमसिंह के घनिष्ठ मित्र थे। ऊधमसिंह का उनके घर

आना-जाना हुआ करता था। यों ऊधमसिंह का ज्योतिष आदि पर न कोई विश्वास था, न भविष्य की चिन्ता, परन्तु अपने मित्र तारासिंह के कहने से उन्होंने ज्योतिषी से विनोद में कहा था, 'हाथ-वाथ तो मैं दिखाता नहीं, चाहो तो पैर देख सकते हो।' और यह ज्योतिषी भी अजीब ही था; बोला, 'तो लाइये, पैर ही देख लेता हूं।' तब ऊधमसिंह क्या कहते, विवश हो गये। मोजे निकाले, जूते उतारे और ज्योतिषी ने उनके दायें-बायें दोनों पांवों की रेखाएं ध्यान से देखीं-परखीं और फिर उक्त भविष्य सुनाया। बाकी लोग तो क्या समझे होंगे उसके शब्दों को परन्तु ऊधमसिंह चौंक उठे उसका भविष्यकथन सुनकर, क्योंकि वे तब तक क्रांतिपथ के पथिक बन चुके थे और उन्होंने मन में दृढ़ संकल्प कर रखा था कि जब भी सुयोग मिला, तो डायर को जीता न छोड़ूंगा। माइकेल ओ'डायर अमृतसर के 'जलियांवाला बाग-हत्याकांड' के समय लेफ्टिनेन्ट गवर्नर तो था ही, इस नाते अंग्रेज हुकूमत का प्रधान प्रशासक भी था। जलियांवाला बाग में निहत्थी 20 हजार जनता पर मशीनगन झोंकने वाले जनरल डायर की वाहवाही और समर्थन किया था लेफ्टिनेन्ट गवर्नर माइकेल ओ'डायर ने। उसने बाद में नृशंस दमन में भी कोई कसर नहीं उठा रखी थी।

ऊधमसिंह के पिता सरदार टहलसिंह नीलोवाल की नहर पर कर्मचारी थे; अनन्तर वे उपली रेलवे चौकी पर नौकर रहे। ऊधमसिंह का एक बड़ा भाई भी था साधूसिंह, ऊधमसिंह उससे दो वर्ष छोटे थे। परमात्मा ने ऊधमसिंह को जिस उद्देश्य के लिए संसार में भेजा था, उसके लिए तदनुकूल परिस्थितियां बचपन से ही उसके इर्द-गिर्द प्रादुर्भूत होने लगीं।

मां नहीं, पिता नहीं......

अभी ऊधमसिंह दो साल का ही हो पाया था कि उसकी जन्मदायिनी उसे सदा के लिए छोड़कर संसार से विदा हो गई। पिता भी चिन्ताओं तथा आर्थिक कठिनाइयों के कारण रुग्ण रहने लगे और आगे पांच वर्ष बीतने पर वे अपने दोनों पुत्र साथ लेकर सुनाम से अमृतसर आ गये—उस समय ऊधमसिंह सात साल का था। अमृतसर जैसे उसे जन्मते ही बुलाने लगा था अपनी दिशा में। पिता सरदार टहलसिंह अमृतसर आ तो गये लेकिन वहां उनका रोग भीषण रूप ले बैठा, पास दवा के लिए पैसा नहीं। दो बच्चों की चिन्ता अलग उन्हें सता रही थी। और अमृतसर उनके लिए एक नितान्त नई और अपरिचित जगह थी—टहलसिंह दो दिन बीतते-न-बीतते बच्चों को रोता छोड़कर इस संसार से चल बसे। बच्चे अनाथ, अनाश्रित हो गये।

परन्तु जिनका कोई नहीं उन्हें भी ईश्वर अन्ततः सहारा जुटा देता है; उन बच्चों को उस स्थिति में सहारा दिया भजनीक भाई चंचलसिंह ने। गरीब ही थे और जीविका के लिए जगह-जगह जाकर भगवान के भजन गाया करते थे। अमृतसर में उन दिनों एक ऐसा अनाथाश्रम था जहां अनाथ बच्चे न सिर्फ पलते थे वरन् उन्हें शिक्षा के

साथ-साथ दस्तकारी भी सिखाई जाती थी। भाई चंचलसिंह ने दोनों बच्चों को उसी अनाथाश्रम में भरती करा दिया। ऊधमसिंह और साधूसिंह वहां रहते हुए पढ़ने लगे और दस्तकारी भी सीखते रहे। परन्तु होनी कुछ और थी—एक दिन साधूसिंह भी रोगी होकर चल बसा। वह उस समय 19 साल का था, उठता तरुण। अब ऊधमसिंह संसार में एकाकी रह गये और इस स्थिति ने उन्हें बहुत चिन्तनशील तथा अन्तर्मुखी बना दिया। वे घंटों एकाग्र एकान्त में गम्भीर बैठे जाने क्या सोचते रहते।

तभी वैशाखी पर्व आया; पंजाब में उत्सव की धूम मच गई क्योंकि उस समय खेतों में अनाज की सुनहली फसलें पककर तैयार हो जाती हैं। 'सोने दी फसलां पकियां!' स्त्री-पुरुष खुशी व उत्साह के अतिरेक में झूम उठते हैं। चतुर्दिक आनन्द-उल्लास का समां बंध जाता है। उस अवसर पर अमृतसर में बड़ा भारी मेला जुड़ता है। लोग अमृतसर के पवित्र सरोवर में स्नान करते हैं, 'स्वर्ण मंदिर' और 'हर-मंदिर' में दर्शन करते हैं। गांवों-देहातों से भी हजारों नर-नारी अमृतसर उमड़ पड़ते हैं। उस साल भी मेला जुड़ा। इस साल की 13 अप्रैल 1919 को वैशाखी पड़ी थी और उस रोज जलियांवाला बाग में इसलिए और भीड़ आ घिरी क्योंकि 'रौलट ऐक्ट' के खिलाफ जलियांवाला बाग में एक जनसभा का एलान किया गया था। जनता क्षुब्ध और उत्तेजित थी क्योंकि अंग्रेज सरकार ने दमनात्मक रवैया अपनाकर दो प्रसिद्ध नेताओं डॉ. सत्यपाल तथा श्री किचलू को गिरफ्तार कर जेल में ठूंस दिया था। उस समय तक कायदेआजम मुहम्मद अली जिन्ना राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखते थे तथा उस समय वे अंग्रेजों के पृथकतावादी झांसे का शिकार नहीं बने थे—अतः जब महामना पं. मदनमोहन मालवीय और मजरुल हक जैसे नेताओं ने रौलट ऐक्ट का विरोध किया तथा उसके विरोधस्वरूप कौंसिल से त्यागपत्र दे दिया तो जिन्ना मियां ने भी उनके साथ ही कौंसिल की सदस्यता से इस्तीफा दे डाला। ऐसा वातावरण था उस समय देश का।

अस्तु, 13 अप्रैल को जलियांवाला बाग में एकत्र 20 हजार जनता पर नगर-फौज के कमाण्डर जनरल डायर ने 1650 चक्र गोलियां बरसवाईं—जिसमें 2000 लोग मर गये और 3600 जख्मी हो गये। उस समय संध्या हो रही थी—सूरज डूबने में सिर्फ 6 मिनट बाकी थे। अंग्रेज लेखक सर वेलेंटाइन सिरोल ने इस हत्याकांड पर जो पुस्तक लिखी—उसका नाम रखा, 'सूरज डूबने से 6 मिनट पूर्व।' इस जघन्य हत्याकाण्ड का प्रत्यक्षदर्शी रहा ऊधमसिंह। जलियांवाला बाग की वह सभा गांधीजी के आह्वान पर जुड़ी थी। तब से अमृतसर का जलियांवाला बाग संसार भर में प्रसिद्ध हो गया—यों किसी जलियां नामक माली के नाम पर इस बाग का नाम 'जलियांवाला' पड़ गया था, जहां आज उन हजारों शहीदों की स्मृति में एक स्मारक खड़ा है।

खिन्न, दुःखी और क्षुब्ध-मन ऊधमसिंह उसी रात बाबा टलनाम नामक स्थान से होकर गुज़र रहा था कि किसी रुदन करती हुई स्त्री के विलाप के कारण वह रास्ते में रुक गया। उसने पता किया कि यह स्त्री इस तरह क्यों रोती खड़ी है? तो उसे पता

चला कि वह पेशावर की रत्नदेवी है, पति के साथ वैशाखी-स्नान करने अमृतसर आई थी किन्तु पति जलियांवालाबाग में अंग्रेजों की गोली से मारा गया—यह बेचारी पति की लाश चाहती है परन्तु एकाकी अबला उस बाग में लाश खोजे कैसे, गोरे संतरी वहां पहरा दे रहे हैं और किसी को भी बाग में घुसने नहीं दे रहे। ऊधमसिंह उस स्त्री के पास चला गया। बोला, 'बहनजी! रोना व्यर्थ है। तुम्हें पति की लाश चाहिए तो चलो, मैं तुम्हारे साथ चलकर बाग में खोज देता हूं—मैं अकेला ही लाश उठा लाता लेकिन मैं उन्हें पहचानता जो नहीं। साथ ही एक शर्त भी है कि तुम बाग में लाश खोजकर भी रोओगी नहीं। रोने से संतरी सजग हो जाएंगे।' ऊधमसिंह की बात पर रत्नदेवी के आंसू थम गये। उसने वादा किया कि 'आप साथ चलें, मैं अब रोऊंगी नहीं।' वह ऊधमसिंह के साथ बाग में जाकर लाश खोजने में लग गई। गोरे संतरी भरी रायफलें लिये, अपने भारी बूट खटकाते घूम रहे थे परन्तु ये दोनों इस खामोशी से बाग में घुसे कि कोई संतरी उनकी आहट न पा सका। 2000 लाशों से पटा पड़ा था वह रक्तरंजित बाग। सब तरफ लाशें-ही-लाशें—हजारों घायल भी कराहते-तड़पते इधर-उधर अपने कटे-फटे अंग लिए लाचार पड़े थे। घना अंधकार छाया था। हाथ-को-हाथ नहीं सूझता था। प्रमुख गली जो मात्र एक ही रास्ता था, बाग में जाने का—उधर से ये लोग नहीं गये थे वर्ना घुस न पाते। एक अन्य संकीर्ण मार्ग से किसी तरह दोनों उन लाशों के मैदान में जा घुसे। लाशों को देखते-परखते, उन्हें बचा-बचाकर लांघते हुए ये दोनों आखिर एक लाश के पास जैसे ही पहुंचे और रत्नदेवी ने उस लाश का रक्तसना चेहरा देखा तो वह चीत्कार कर उठी—वह उसके पति की लाश थी। दुखिया रत्नदेवी भूल गई कि उसने न रोने का ऊधमसिंह से वादा किया है।

रत्नदेवी का चीत्कार सुनते ही गोरे संतरी ने उनकी तरफ गोली दाग दी और ऊधमसिंह उस घुप अंधेरे में भी जख्मी हो गया। गोली उसकी दाईं भुजा को चीर गई थी। उसी समय शहर के घड़ियाल ने 12 का गज्जर बजाया। ठीक आधी रात को गोली लगी थी ऊधमसिंह के। फिर भी ऊधमसिंह ने हिम्मत न हारी। पगड़ी उतारकर उससे घायल भुजा कसकर बांध ली। फिर रत्नदेवी और वे मिलकर उस लाश को खींचने लगे। किसी तरह बाग के बाहर उठा लाये उसे। शहर में कर्फ्यू लगा था—फिर भी ऊधमसिंह उस रात सुरक्षित अपने ठिकाने पहुंच गया। रत्नदेवी पति की लाश पाकर ऊधमसिंह को असीसती रही।

उधर अंग्रेजों का क्रूर दमन जारी रहा। उसी लेफ्टिनेन्ट गवर्नर माइकेल ओ'डायर ने आगे एक दिन गुजरांवाला में जनता पर विमानों से बमबारी की, मशीनगनें चलाईं। और यह दर्पोक्ति अखबारों में छपवाई कि 'गांधी से कह दो कि मेरा बाहु-बल उसकी आत्मशक्ति के मुकाबले कहीं अधिक प्रभावी और कारगर है।'

पंजाब में दमन का क्रूर चक्र चलता रहा। एक अंग्रेज (दीनबन्धु) सी. एफ. एण्ड्र्यूज भी थे जो गांधीजी के सहयोगी थे और उन्होंने इस क्रूर दमन की निन्दा करते

हुए लाहौर की एक सार्वजनिक सभा में कहा था—

'धिक्कार है इन शासकों को। खुद प्रत्यक्षदर्शी रहा हूं मैं ब्रिटिश सरकार के पाशविक अत्याचारों का; लोगों को भूमि पर घिसटने-रेंगने को विवश किया फौज ने—यही नहीं, स्त्री-पुरुषों को विवस्त्र किया गया सार्वजनिक तौर से और फिर उन्हें मजबूर किया गया कि वे सड़क पर औंधे होकर रेंगें। उन्हें सरेआम कोड़े लगाये गये जबकि प्रभु ईसा मसीह ने और 'बाइबिल' ने आदमी को परमात्मा के समान बताया है। लेकिन ये अंग्रेज अत्याचारी उसी मानव का हर तरह से सता रहे हैं।' 'जलियांवाला बाग-हत्याकाण्ड' की जांच-पड़ताल के लिए जो एक गैर-सरकारी खोज कमेटी बनी थी, उसने जो रिपोर्ट छापी—उस पर गांधीजी तथा देशबन्धु चित्तरंजन दास के भी हस्ताक्षर थे।

सर सी. शंकर नैयर नाम के एक दाक्षिणात्य सज्जन भी वायसराय की एक्जीक्यूटिव कौंसिल के सदस्य थे। 'जलियांवाला बाग-हत्याकाण्ड' से क्षुब्ध हो उन्होंने कौंसिल से तो इस्तीफा दे ही दिया, उन्होंने हत्याकाण्ड की निन्दा करते हुए एक पुस्तक लिखी और छपाई, जिसका नाम था 'गांधी एण्ड एनार्की'। इसमें अंग्रेजों के साथ ही गांधीजी की अहिंसा नीति की भी नैयर ने आलोचना की। ओ'डायर के क्रूर दमन को धिक्कारते हुए नैयर ने गांधीजी के असहयोग से भी अपना मतभेद प्रकट किया। इस पर ओ'डायर ने नैयर पर हरजाने का मुकदमा दायर कर दिया। नैयर पर मुकदमा चला और जबकि उस अदालत का जज भी विलायत का ठेठ अंग्रेज ही था, उसने ओ'डायर के पक्ष में फैसला दिया और नैयर पर 20 हजार पौंड हरजाना भरने की डिग्री जारी कर दी।

नैयर डिग्री चुका पायें, न चुका पायें—इसलिए स्वयं गांधीजी ने जनता के नाम सार्वजनिक तौर से अपील छपवाई अखबारों में कि 'जैसे भी हो, नैयर को आप सब लोग खुले दिल से सहयोग और मदद दें।'

इस स्थिति का प्रभाव ऊधमसिंह के दिल-दिमाग पर न पड़ता, यह कैसे संभव था। उन्होंने अनाथाश्रम तो कभी का छोड़ दिया था, आप भारत से अफ्रीका चले गये, वहां से अमरीका पहुंचे। इन्हीं दिनों उनका सम्पर्क भारतीय क्रान्तिकारियों से जुड़ चुका था। किसी तरह वे भगतसिंह-आजाद के विप्लवी दल से भी परिचित हो गये थे—एक दिन अमरीका में प्रवास करते हुए उन्हें भारत से एक पत्र मिला कि 'तुम्हारी देश को सख्त जरूरत है, लौट आओ।' कहते हैं, यह पत्र भगतसिंह—आजाद के ही दल ने उन्हें भेजा था। यह बात सन् 1928 की है। पत्र पाकर ऊधमसिंह ने अमरीका में 25 साथी जुटाये और उन्हें साथ लेकर भारत लौट आये। इन दिनों ऊधमसिंह के साथ एक अमरीकी युवती भी भारत आई और वह उन्हीं के साथ रहने भी लगी। कहते हैं, वह ऊधमसिंह के विचारों से प्रेरित हो अमरीका छोड़ आई थी और तय किया था कि वह ऐंसे श्रेष्ठ चरित्र तथा त्यागी वीर पुरुष के ध्येय की ही अनुगामिनी होगी, वह भी क्रांति-पथ पर चलेगी, चाहे जो भी हो—वैसा ही जीवन गुजारेगी; यद्यपि ऊधमसिंह उसे बहुत बार समझाते रहे कि 'मेरे जीवन का कुछ ठीक नहीं। यह रास्ता कठिन है। तुम

अपने देश लौट जाओ और अन्य लोगों की तरह अपने अनुकूल जीवन बिताओ।' परन्तु वह अड़ी रही अपनी जिद पर।

आखिर उसी साल ऊधमसिंह लाहौर में पकड़े गये और 4 साल की कैद दी गई उन्हें। उसकी कथा यह है कि ऊधमसिंह 25 साथी तो लाये ही थे अमरीका से, कई रिवॉल्वर आदि भी लाये थे दल के लिए। उन्होंने अपना सिख वेश बदल दिया था। दाढ़ी-केश सब साफ करा दिये थे। वे लाहौर में रहकर क्रान्ति-कार्यों में संलग्न थे कि एक दिन वे अपने दो साथियों व उक्त अमरीकी युवती के साथ सवेरे-सवेरे लाहौर से बाहर जाने के लिए निकले तो उनके तांगे को पुलिस दल ने घेर लिया। शायद खुफिया पुलिस उनकी पहले से निगरानी कर रही थी। यह घटना लाहौर-स्थित लैण्डो बाजार की है। जब ऊधमसिंह ने खुद को घिरा पाया तो उन्होंने तत्काल अपने बाकी दोनों साथियों व उस अमरीकी युवती को सचेत कर दिया कि, 'सावधान! तुम लोग किसी भी तरह मुझसे परिचित होना जाहिर न करना।' वही किया उन तीनों ने, इस कारण वे बच गये। ऊधमसिंह गिरफ्तार करके कोतवाली पहुंचाये गये और जब उनके सामान की तलाशी ली पुलिस ने, तो वह यह देखकर उछल पड़ी कि इनके संदूक में तो पूरे 400 कारतूसों सहित बढ़िया चमचमाते हुए नये चार अमेरिकन रिवॉल्वर रखे हैं। फिर क्या था, सन् 1928 में पकड़े गये थे, 4 साल कैद काटकर सन् 1932 में रिहा हो सके। सोचा, यहां रहकर काम होगा नहीं। फिर विदेश जाने की युक्ति की। अपना एक छद्म नाम रखा—'एम. एम. सिंह'। इस नाम से पासपोर्ट बनवाया और एक दिन भारत से चल पड़े। सन् 1933 में लन्दन आ गये। यहीं तो था उनका शिकार—माइकेल ओ'डायर।

लन्दन में पंजाब का एक मिष्टान्न-विक्रेता भी मिठाई की दूकान किये था, नाम था हरनामसिंह। वह जल्दी ही ऊधमसिंह का मित्र बन गया। उसके यहां ऊधमसिंह घंटों बैठते, खाते-पीते। एक दिन हरनामसिंह पूछने लगा, 'यार! तुम किस मतलब से यहां रह रहे हो?' ऊधमसिंह टाल गये। बोले—'है कुछ खास काम और वह बहुत जरूरी भी है—इसी से यहां रुका हूं।' बाद में हरनामसिंह कहा करता था—'ऊधमसिंह कभी भी मुझे सामान्य आदमी जैसा नहीं लगा, वह जाने किन विचारों में घंटों खोया रहता था। ऐशो-आराम की जिन्दगी जीनेवालों और खाने-पीने, मौज उड़ाने वाले वर्ग का वह कभी नहीं था।' हरनामसिंह की दृष्टि में तो 'वह एक दीवाना ही था।' काश! ऐसे दीवाने ही दुनिया में ज्यादा होते। कई साल आये-गये। ऊधमसिंह लन्दन में ही रहे। उनके विचार दृढ़तर होते गये।

आखिर एक दिन एक सुयोग ऊधमसिंह को हाथ लग गया। उन्हें पता चला कि कैक्सटन क्लब में अंग्रेज एक कान्फ्रेंस कर रहे हैं, उनमें ओ'डायर भी शामिल होने वाला है और दूसरे अनेक अंग्रेज उच्चाधिकारी भी उसमें आयेंगे, जिनमें कई भारत में हुकूमत कर चुके हैं और वहां चल रहे ब्रिटिश दमन के जिम्मेदार व भागीदार रहे हैं।

इस खबर से ऊधमसिंह खुश हो उठा। यह कान्फ्रेंस 13 मार्च को होनी थी, सन् था 1940। ऊधमसिंह ने उस मौके के लिए भरपूर तैयारी कर रखी थी। यह तो तय था कि उस काण्ड के बाद आगे जीवन नहीं रहना है, परन्तु ऊधमसिंह उन लोगों में से नहीं था, जो वयोवृद्ध होकर मौत का इन्तजार करते रहने के आदी होते हैं। उसने एक बढ़िया 6 चेम्बरें का 455 रिवॉल्वर उस दिन के लिए चुना, उसकी खूब सफाई की। लक्ष्य-वेध करके देखा। यह अमरीका का ही बना था। सन् 1914 के महायुद्ध के समय अमरीका ने ये रिवॉल्वर अंग्रेजों के लिए ही बनवाये थे। ऊधमसिंह ने 25 राउण्ड गोलियां भी रख लीं और एक सुतीक्ष्ण अच्छा चाकू भी रख लिया।

13 मार्च आई तो ऊधमसिंह भी शाम को कैक्सटन हॉल की कान्फ्रेंस में पीछे जाकर बैठ गये। खूब अच्छे कपड़े पहन रखे थे, दाढ़ी-केश साफ पहले से ही थे। कान्फ्रेंस में 'जलियांवाला बाग-हत्याकाण्ड' का भी हवाला आया और उसका जिक्र करने वाला था, वही ओ'डायर। उसने 'जलियांवाला बाग-काण्ड' की चर्चा इस सन्दर्भ में की कि 'जिस समय अमृतसर में भारतीयों पर गोलीबारी करने की आज्ञा दी गई, तो देखा गया कि वहां एकत्र सभी लोग जान बचाकर भाग निकलना चाहते हैं, इससे सिद्ध हो जाता है कि आगे भी सैकड़ों साल तक हिन्दुस्तान पर ब्रिटेन मजे से निर्विघ्न हुकूमत करता रह सकता है, हिन्दुस्तानी कायर हैं—कुछ नहीं कर सकते।'

ऊधमसिंह का लहू उत्तप्त हो उठा। उन्होंने देखा, ओ'डायर की गर्वोक्ति में 21 साल बाद भी जरा भी कमी नहीं आई है। कान्फ्रेंस खत्म हुई। ऊधमसिंह ने घड़ी देखी; 4 बजकर 30 मिनट हुए थे। उन्होंने रिवॉल्वर टटोली, और उठ खड़े हुए। पूरी दृढ़ता से उधर बढ़े—जहां मंच से ओ'डायर आदि चलने की तैयारी में थे। एकाएक उन्होंने छह गोलियां दाग़ीं। दो गोलियां ओ'डायर को बींध गईं। और वह वहीं ढेर हो गया, फिर नहीं उठा। लार्ड जेटलैण्ड, लार्ड लेमिंगटन और मि. लुईडेन भी गोलियों से घायल हुए। लुईडेन पहले पंजाब में गवर्नर रहा था, ऊधमसिंह की गोली ने इस टोडी बच्चे की बांह तोड़ डाली। लार्ड लेमिंगटन बम्बई के गवर्नर रहे थे, एक दिन भगतसिंह की फांसी का बदला लेने के लिए दुर्गा भाभी इस अंग्रेज गवर्नर को गोली मारने बम्बई पहुंची थीं, साथ थे सुखदेवराज और बाबा पृथिवीसिंह। तब लेमिंगटन बच गया था। वही लेमिंगटन आज ऊधमसिंह की गोली से लहूलुहान हो गया था। बड़ी बात थी। तीसरे जख्मी अंग्रेज का नाम था लार्ड जेटलैण्ड। यह भारत में मंत्री के पद पर रहकर भारतीय हितों की हत्या करता रहा था, आज इसने भी भारतीय क्रान्तिकारी की गोली का मजा चखा था। एक क्रान्तिकारी के लिए ये कम उपलब्धियां न थीं, वरन् ऊधमसिंह का तो विचार था कि लार्ड जेटलैण्ड को भी मारना चाहिए।

ऊधमसिंह शायद घटनास्थल पर गिरफ्तार न हो पाते क्योंकि उनके पास अपने बचाव के लिए अभी भी काफी कारतूस थे, लेकिन बीच में एक अंग्रेज स्त्री के आ जाने से उनका हाथ न उठा। और बजाय एक स्त्री की हत्या करने के उन्होंने स्वयं

को गिरफ्तार करा देना कहीं श्रेयस्कर समझा। ऐसे थे ऊधमसिंह।

अगले दिन जब उन्हें अदालत में लाया गया तो पुलिस से घिरे रहने पर भी वे स्वाभाविक रूप से हंस-बोल रहे थे। ऊधमसिंह ने अदालत को अपना जो नाम लिखाया, उस पर विश्वास नहीं किया गया—नाम बताया था 'राम मुहम्मद सिंह आजाद'। फिर भारत से लेकर लन्दन तक खोज की शृंखला चली तो अंग्रेजों ने जाना कि अभियुक्त का असली नाम ऊधमसिंह है। पहले भारत में भी सजा काट चुका है। पंजाबी सिख है।

ऊधमसिंह के ठिकाने की तलाशी ली गई, तो वहां जो डायरी ब्रिटिश पुलिस को मिली—उस पर देखा गया, कई पृष्ठों में ओ'डायर का नाम-धाम बार-बार लिखा गया है।

वहां एक अदालत थी 'ओल्ड वेली सेन्ट्रल क्रिमिनल मार्ट' नाम की। वहीं उन पर मुकदमा चला। जज और जूरी प्रायः ऊधमसिंह से चिढ़े ही रहे। द्वितीय महायुद्ध जारी था। अंग्रेज जज पूछता है, 'ओ'डायर को गोली मारने की वजह?' आपने तेज स्वर में कहा, 'कारण क्यों पूछते हो? जो मैंने किया, वह मेरा जरूरी फर्ज था। उसके लिए मुझे न कोई गम है, न पछतावा। तुम मुझे क्या सजा देते हो, इसकी मुझे जरा भी चिन्ता नहीं। मैंने अपने देशवासियों को भूख से दम तोड़ते देखा है—यह उसी का उग्र विरोध है। ओ'डायर पर मैं क्रुद्ध था—वह इसी लायक था। किसी गुलाम देश के युवक का जवानी में ही मरना अच्छा—मैंने वही किया। क्या लार्ड जेटलैण्ड अभी नहीं मरे? मैंने उनके इस जगह (अपने पेट से कपड़ा हटाकर) दो फायर किये थे।' फैसले में उन्हें प्राण-दण्ड सुनाया गया। फिर पेंटन-विला जेल में 12 जून, 1940 को उन्हें फांसी पर चढ़ा दिया गया। वे मर कर भी अमर हो गये।

बात तो तब है जब इस बात की जिद्दें ठानें।
देश के वास्ते कुरबान करेंगे जानें ॥

जिन्होंने फांसी को विजयादशमी माना

जब से सुना है मरने का नाम जिन्दगी है।
सर से कफ़न लपेटे, कातिल को ढूंढते हैं ॥

स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास में क्रान्तिकारियों की देश-सेवा एक विशद अध्याय है। हमारे इतिहास के ये स्वर्णिम पृष्ठ हैं। यह इतिहास मानव-कल्याण-बोध की प्रेरणा से ओतप्रोत है और मोह-मुक्त वैराग्य-साधना में निरत वासना-रहित उन वैरागी विप्लवियों ने उसे अपने तरुण रक्त से लिखा है।

वे कर्मयोगी थे

निश्चय ही वे लोग ऐसे कर्मयोगी थे, जो संसार के समस्त माया-बन्धनों को छिन्न कर सके थे—उन तरुण संन्यासियों का वह कर्मयोगी स्वरूप इतिहास-लेखकों की दृष्टि में

प्रायः कम ही आ पाया है। उन्होंने देखी उनकी केवल बन्दूकें-पिस्तौलें, सुने उनके बम-विस्फोटों के धड़ाके और उनकी आंखों के समक्ष झूलते हुए फांसी के वे फन्दे, जिन्हें हर्षित मन से कण्ठ में माला की तरह पहनकर हजारों सर्वत्यागी युवकों ने अपने प्राणों की पूर्णाहुति दी। मात्र उनका यह आत्म-बलिदानी स्वरूप ही इतिहास-लेखकों को उद्वेलित करता रहा है, किन्तु विप्लवी दल के आदर्शों—तप, त्याग और निरलस सेवा-भावना के पीछे संन्यस्त जीवन का जो साधन-मार्ग आधारभूत रहा है—वह पक्ष उनकी पकड़ाई में आया ही नहीं।

देशभक्ति में योग-साधना

जिस प्रकार उन तरुण क्रांतिकारियों ने वेदान्त-तत्व निष्काम भावना से आत्मसात् किया था, पातंजल-योग में चित्त-वृत्तियों के निरोध के अनुरूप जिस तरह उन्होंने अपने मन-मानस को संसार की सर्व प्रवृत्तियों से मुक्त कर लिया था, जिस तरह देश-सेवा के मूल्यों से दीक्षित होकर 'आनन्दमठ' के संन्यासियों की भांति अपने घर-परिवार छोड़कर जीवन और यौवन का स्वेच्छया उत्सर्ग कर सके और इसी पथ में मिटते-खपते उन्होंने अपना जीवन सार्थक समझा।

ठीक मूल्यांकन आवश्यक

उस गृह-त्यागी, सर्वत्यागी तरुण विप्लवी दल के स्तर को ठीक-ठीक समझने-पहचानने की प्रचेष्टा अभी तक इतिहास-लेखन के बीच हो नहीं पाई है। इसी से अपने को वरिष्ठ बताने वाले कथित सयाने-समझदार लोग भी आये दिन उन वीतरागी देश-सेवकों के काफिले को खूनी, हत्यारे, डाकू, लुटेरे, हिंसक, पथभ्रष्ट, अनुत्तरदायी और जल्दबाज बताने की भूल करते रहे हैं। यही नहीं, कहीं-कहीं तो स्वयं सरकारी पक्ष द्वारा लिखवाकर ऐसा इतिहास पाठ्यक्रमों में स्वीकृत-संचालित भी किया गया, जिनमें उन शहीदों को डाकू और हिंसक सरीखे शब्दों से विभूषित किया गया। यह किसके भ्रम या भूल से?

राजनीतिक दायरे नहीं

इसी से कहना पड़ता है कि उनके जीवन का निर्वेद इतिहास-लेखकों के पल्ले नहीं पड़ा और वह प्रायः लोक-दृष्टि से परे ही रहा है। ऐसी आसानी से अपने ध्येय और विश्वास-वेदी पर जो जिन्दगी निछावर कर गये, ध्येय की पूर्ति करेंगे या फिर इस कर्म-प्रचेष्टा में आहुत होंगे—ऐसा जिनका दृढ़ निश्चय था, एकांत व्रत था, उनकी भूमिका को मात्र राजनीतिक दायरे में सीमित करना तथा उनके उत्सर्ग को केवल राजनीतिक कसौटी पर कसना समीचीन नहीं। वस्तुतः विप्लवी दल के मूल प्रेरणा-स्रोत स्वामी विवेकानन्द के आदर्श थे। उनकी शिष्या भगिनी निवेदिता ने स्वयं बंगाल के

अनेक गांवों में जा-जाकर 'अनुशीलन समिति' की शाखाएं खोली थीं, साथ ही अरविन्द घोष भी जाते थे।

राष्ट्रीय एकता के द्रष्टा

भारत में अनेकविध भाषा-भेद, पंथ-संप्रदाय-भेद, मत-मतान्तर तथा अन्यान्य भेद चलते हैं, उनकी विविधता में भी उन विप्लवियों ने अंतर्भूत एकता के, एक मातृ-मूर्ति के दर्शन किये, यह क्या सामान्य घटना·मात्र है? भेद-विभेद में परम एकता का साक्षात्कार करके ही वे मानव-सेवा किंवा देश-सेवा को भगवत्-पूजा के रूप में आचरित कर गये हैं, इस तथ्य को कितने लोग समझ पाये? कथनी-करनी में एकता उन चरित्र-धनी विप्लवियों को विरासत में मिली थी। 'गीता' और उपनिषदों से, काली मां के सान्निध्य में और उन्हीं त्रिपुरेश्वरी के पाद-पद्मों में बैठकर उन्होंने 'वन्देमातरम्' के मंत्र से अपने जीवन को अग्निपथ के अनुकूल अनुशासन तथा कठोर संयम से मंडित किया था। जोखिम के नित नये कार्यों की पूर्ति में उन्होंने आत्मपरीक्षण किया और उससे जन्मे आत्मविश्वास की वेदी पर शीश-दान की प्रक्रिया पूरी कर गये।

महान त्यागी

इस कार्य में असीमित धीरज, मिथ्या-असत्-अनय-अत्याचार के विरुद्ध संघर्षमय जीवन के लिए कभी-कभी सुदीर्घ प्रतीक्षा की जरूरत होती है, अतः विप्लवी जनों को अपने हाथ में वह कमण्डलु रखना ही पड़ता है, जिसका जल उन्हें संसार के माया-मोह और ऐहिक ईप्सा-तृषा से बचाये रख सके कि मरण-काल में, आत्माहुति के क्षणों में भी संसार की कोई कामना-वासना उन्हें भ्रम या पछतावे में न डाले।

फांसी का दिन 'विजयादशमी' माना

तभी तो कटक के फांसी-घर से तरुण विप्लवी मनोरंजन और नीरेन्द्र ने अपना जो आखिरी पत्र कलकत्ते के साथियों को भेजा, उसमें लिखा—'दादा (बाघा जतीन) गये, चित्तप्रिय भी चला गया—अब हम भी विदा लेते हैं। विदा! चिरविदा! जो चले गये हैं, उन्हें वापस लाने का कोई मार्ग नहीं। आज हमारे जीवन की भी विजयादशमी है। आप सब बन्धुगण ग्रहीत कार्य जारी रखेंगे, यही आशा है।' दोनों को फांसी की सजा सुनाई जा चुकी थी। ये बंगाल के प्रसिद्ध विप्लवी बाघा जतीन की टोली में पुलिस-दल से आमने-सामने लड़े थे और अब चिर विदा ले रहे थे। लेकिन जो फांसी के दिन को 'विजयादशमी' कहकर आनंदित हो सके, उनके चारित्र्य को क्या केवल राजनीतिक सतह से समझा जा सकता है? इनमें मनोरंजन की उम्र ही क्या थी! किशोरवयी था।....

उस जमाने में टैगर्ट क्रांतिकारियों का कट्टर शत्रु था—गुप्तचर विभाग का प्रमुख

था वह, किन्तु जतीन की वीरता देखकर वह भी अवाक् रह गया था। उसने खुले मन से उन्हें सराहा—Though I had to do my duties, but I have great admiration for him' ('हालांकि मैं अपना फर्ज निभाने को मजबूर था लेकिन मेरे दिल में उस विप्लवी के लिए प्रभूत सम्मान भाव है।') क्योंकि टैगर्ट आगे लिखता है—'He was the only Bengali who died in an open fight from a trench.' ('वह अकेला विप्लवी था जो खाई के खुले युद्ध में लड़ते-लड़ते खेत रहा')। अंग्रेज अधिकारी का यह बयान उसके हृदय के हस्ताक्षरों से युक्त एक ऐसा दस्तावेज है जो ब्रिटिश दमन को तो लानत भेजता ही है, उसे चुनौती भी देता है। यह प्रसंगवश एक उदाहरण मैंने दिया कि जतीन ने प्राणों की चिन्ता नहीं की, चिन्ता की साथियों की। ऊंचे चरित्र के बिना यह साध्य नहीं।

देश-सेवा का मंत्र

विप्लवी का इस तरह मरना उन दिनों आम बात थी। पंजाब में भी क्रांतिकारी यही विश्वास करते थे कि देश-सेवा की जिन्दगी सहज नहीं है, गाते थे पंजाबी में—

देश-सेवा दी जिन्दड़िये बड़ी औखी
गल्ला करनियां ढेर सुखल्लियां ने,
जिन्हां इस सेवा विच पैर पाया
तिन्हां लख मुसीबतां झल्लियां ने।

—'देश-सेवा का जीवन बड़ा कठिन है; जिसने भी सेवा के इस पथ में पांव रखा उसे सुख को तिलांजलि देनी पड़ी—झेलनी पड़ीं लाखों मुसीबतें।'

और वे देश-प्रेम के दीवाने गाते थे कि,

आज मकतल में ये, कातिल कह रहा है बार-बार,
क्या तमन्नाए शहादत भी किसी के दिल में है?

जब आज़ाद फरार हुए

दुश्मन की गोलियों का हम सामना करेंगे
आज़ाद हम रहे हैं, आज़ाद ही रहेंगे ॥

(जिसे आज़ाद अक्सर गुनगुनाते रहते थे)

'काकोरी' (उत्तर प्रदेश में लखनऊ के एक निकटवर्ती स्टेशन) में सरकारी खजाना लूटने के बाद चन्द्रशेखर आज़ाद फरार हो गये। पुलिस ने उनकी कई प्रांतों में खोज की, लेकिन वे हाथ न आये। उनको पकड़वाने के लिए अंग्रेज सरकार ने 5 हज़ार रुपये का इनाम भी घोषित कर रखा था। पुलिस की सरगर्मी देखकर आज़ाद झांसी चले आये और 'हरिशंकर मोटर ड्राइवर' के नाम से वहां की 'बुन्देलखण्ड कम्पनी' में मोटर

मैकेनिक का काम सीखने लगे। यह कम्पनी झांसी के सदर बाजार में थी। फरार हालत में आज़ाद ने इसी कम्पनी के उस्ताद सिराजुद्दीन खां और कुल्लू पुरोहित से कार चलाना सीखा और मोटर-मरम्मत का काम भी। आज़ाद के दिल में हिन्दू-मुसलमान का कोई भेद न था।

यह गुरुभक्ति!

उनके एक विश्वस्त साथी श्री विश्वनाथ वैशम्पायन एक बार मेरे घर सण्डीला (जिला हरदोई) आये तो उन्होंने मुझे आज़ाद का एक विलक्षण संस्मरण सुनाया। उन्होंने बताया कि एक बार सिराजुद्दीन खां की बेटी की शादी की तैयारी हो रही थी। कहा गया, ओरछे में घी सस्ता और अच्छा मिलता है, लेकिन लाया कैसे जाये! रियासत से घी लाने पर रोक थी, आम रास्ते से ला नहीं सकते थे, चुंगी वाले रास्ते में ही रोक लेंगे। उनसे बच कर ही लाया जा सकता था। यह बात आज़ाद को ज्ञात हुई तो उन्होंने उत्साहपूर्वक तुरन्त कहा, 'इसमें क्या मुश्किल! घी हम लायेंगे।'

पूछा गया—'आप कैसे लायेंगे? सवारी से लाया नहीं जा सकता?' आज़ाद बोले—'वाह! सवारी रखी कहां है वहां! हम कांवर से जंगल के रास्ते ले आयेंगे।'

'यानी पैदल!'

'हां, और क्या? 13-14 मील का ही तो रास्ता है, क्या इतना भी नहीं चल सकते?'

'लेकिन सिर्फ चलना ही तो नहीं है, 18 सेर वजन का एक-एक पीपा दोनों तरफ कांवर पर ढोना, किसके कंधे के बूते की बात है और पूरे 14 मील! झांसी ओरछे से 14 मील से क्या कम होगी! कठिनाई बताई गई, जो ठीक ही थी, लेकिन आज़ाद के शब्द-कोश में 'कठिनाई' नाम का शब्द हो तब न! वे नहीं माने। सोचा, गुरु की बेटी की शादी है और हम इतना भी नहीं कर सकते!

गये ओरछा, रामानन्द ड्राइवर भी साथ गये। दो कांवरें, 4 पीपे ले गये। और 4 पीपे घी कांवरों से पैदल लाकर ही रहे। उस्ताद सिराजुद्दीन खां गद्‌गद हो उठे—भला उन्हें जिन्दगी में ऐसा शागिर्द कहां मिला था! उन दिनों आज़ाद रामानंद ड्राइवर के ही साथ उनके छोटे-से सस्ते किराये के मकान में रहते थे। रामानंद उनका 'हरीशंकर' नाम ही जानते थे—यह भी जानते थे कि वे फरार क्रांतिकारी हैं, लेकिन वे 'काकोरी केस' के फरार चन्द्रशेखर आज़ाद हैं—यह उन्हें भी पता न था और सिराजुद्दीन खां को तो यह भी नहीं मालूम था कि उनसे यह जो एक नवजवान ड्राइवरी और मोटर-मैकेनिक का काम सीख रहा है—वह कोई क्रांतिकारी है तथा उस पर पांच हजार रुपये का इनाम रखा गया है गिरफ्तारी के लिए।

बाद में जब आज़ाद 27 फरवरी 1931 को इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क (अब 'आज़ाद पार्क') में गोली चलाते-चलाते आहुत हुए तो उस महान बलिदानी की लाश

को पहचानने के लिए अंग्रेज सरकार की पुलिस सिराजुद्दीन खां को ले गई थी—इसके पूर्व जब पंजाब की खुफिया पुलिस को पता चला कि 'हरिशंकर मोटर ड्राइवर' ही चन्द्रशेखर आज़ाद हैं तो रामानंद ड्राइवर को गिरफ्तार कर लिया गया और उनसे अनेक तरह से डरा-धमकाकर आज़ाद का पता-ठिकाना पूछने की प्रक्रिया चालू रही लेकिन रामानंद ने आज़ाद की दोस्ती का उसूल निभाया। और स्वयं, क्रांतिकारी दल में न रहते हुए भी आज़ाद का भेद पुलिस को नहीं दिया। उन्होंने इतना ही कहा कि 'बुन्देलखण्ड मोटर कम्पनी' में वह आदमी ड्राइवरी सीखने आया, अपना नाम हरिशंकर बताया था। उसे मेरे साथ ही लगाया गया। काम करते रहने से दोस्ती हो गई—उसी नाते उसे और उसके कुछ अतिथियों को पहाड़ों की तरफ सैर कराने जरूर जाना पड़ता था। वे लोग वहां कुछ समय तक टहलते रहे थे—मैं तब तक मोटर पर ही रुका रहा। लौटे, तो शहर पहुंचा आया। वे लोग पहाड़ों के पीछे रुककर क्या करते रहे, नहीं जानता।'

मोहना के 'नाहरू'

वास्तव में, आज़ाद और भगतसिंह अपने साथियों को बम का परीक्षण करने पहाड़ों की तरफ ले गये थे और रामानंद ड्राइवर ही कार से उन्हें ले गया था—इसी से पुलिस ने उसे पकड़ा और तमाम देश में क्या लाहौर-कलकत्ता और क्या हरिद्वार-रामेश्वरम्—सभी जगह पुलिस रामानंद को साथ लिए हुए इस उद्देश्य से घूमती फिरी कि वह जहां भी आज़ाद को देखे, फौरन पहचान कर बताये और मजा यह कि दो-तीन बार इस यात्रा के बीच ही रामानंद आज़ाद से छिपकर मिले भी, तथा उन्हें सजग किया कि किस तरह खुफिया पुलिस उनको खोज रही है। एक गरीब ड्राइवर की देश के प्रति कैसी उद्दाम भावना थी, यह स्मरणीय है। रामानंद की पत्नी गुनार देवी ने भी उस समय आज़ाद की बड़ी सेवा की, जब एक बिगड़ी कार स्टार्ट करते वक्त आजाद की कलाई की हड्डी ही टूट गई—तब, मोहल्ले वालों ने गुनार देवी पर कीचड़ उछालने की भी कुचेष्टा की कि किसलिए वह एक गैर आदमी की इस लगन से तीमारदारी करती है? रामानंद का लड़का मोहना प्रायः आज़ाद यानी हरिशंकर को 'नाहरू' कहता था, क्योंकि एक बार एक सूदखोर आगा ने एक कर्जदार ड्राइवर को पीटने की कोशिश की तो आज़ाद ने उसे बुरी तरह धरती पर दे पटका था, बस मोहना तब से उन्हें 'नाहरू' कहने लगा।

यह उल्लेखनीय होगा कि पुलिस के लाख सिर पटकने पर भी, झांसी की जनता के किसी भी वर्ग ने आज़ाद की कोई मुखबिरी नहीं की—फिर भी पुलिस की बहुत सक्रियता को परिलक्षित कर साथियों ने आज़ाद को झांसी से चले जाने की सलाह दी। तब वे ओरछा के निकट स्थित ढिमरपुरा में रहने लगे—इस गांव के पास से सातार नदी बहती है, नदी-पुलिन में ही हनुमान जी का एक मंदिर अवस्थित था, वहीं आज़ाद

कमर में मूंज की मेखला और एक लंगोटी मात्र पहनकर रम गये। झांसी में रहते समय वे नितान्त मोटे और मामूली कपड़े का धोती-कुर्ता पहना करते थे और 'ड्राइवर' कहलाते थे। ढिमरपुरा में 'ब्रह्मचारी हरीशंकर' नाम रखा। साथ था एक पुराना कम्बल और 'रामचरितमानस' का एक छोटे आकार का संस्करण। पूर्ण साधु वेश। थोड़े ही दिनों में किसान उन्हें बजरंगबली का पक्का भक्त समझने लगे। हनुमान मंदिर के अहाते में दंगल का अखाड़ा था, इसी में वे प्रातः नित्य सातार में स्नान करके कसरत करते। हजार बैठकें और 500 दण्ड पेलना उनका रोज का नियम था—फिर मुग्दर घुमाना भी न भूलते। गांव वाले कहते—

'बरमचारी जू! नेक रामायन बांचो'—तो वे मंदिर के ही चबूतरे पर आसन जमाकर किसानों को रामायण पढ़कर सुनाते। आगे इसी मंदिर के चबूतरे पर आज़ाद ने गांव के गरीब किसानों के बच्चे-बच्चियों के लिए एक छोटा-मोटा स्कूल खोला, स्कूल में बैठने-बिछाने या कुर्सी-मेज का कुछ भी झंझट नहीं, बस गुरु-शिष्य पृथ्वी माता की अनावृत गोद में बैठकर पठन-पाठन की प्रक्रिया पूरी करते। आज़ाद के इस अभिनव रूप के प्रति लोगों को कम ही जानकारी है—यह अखबारों में छपा भी कम है। वस्तुतः, फरार विप्लवी के ठौर-ठिकाने का कुछ पता नहीं रहता—न वह किसी को बताता ही है—यहां तक कि आज़ाद ड्राइवर रूप में जितने भी दिन झांसी के रामानंद ड्राइवर के घर रहे, इसकी जानकारी उनके निकट के साथियों को भी नहीं हो पाई। आज़ाद के संदेशवाहक और अंगरक्षक क्रांतिकारी वैशम्पायन (बच्चन) मुझे बताते थे कि 'रामानंद के यहां आज़ाद भैया के रहने का पता किसी क्रांतिकारी को भी नहीं था, अवश्य ही यह जानकारी हमें थी कि वे रामानंद ड्राइवर के साथ ही काम करते हैं।'

कोई भी पकड़-धकड़ होते ही आज़ाद तुरन्त अपना अड्डा बदल दिया करते थे। विप्लवी के लिए यह सजगता तथा गोप्यता अपरिहार्य होती है। आज़ाद के संपर्क में उस समय झांसी में जो भी क्रांतिकारी युवक थे, उनकी माताएं यही समझती थीं कि 'हरीशंकर बहुत सीधा लड़का और पक्का ब्राह्मण है।' कारण, साथियों के घरों में एक थाली में भोजन करते रहने पर भी उनका यह सहभोज माताओं की पकड़ाई में कभी आया नहीं। अलबत्ता, एक दिन जब वे भगवानदास माहौर और सदाशिवराव मलकापुरकर के साथ बैठे एक ही थाली में खाने में जुटे थे कि एकाएक भगवानदास माहौर का छोटा भाई राधासरन वहां आ धमका। वह रहा होगा कोई 10 साल का, या एकाध साल कम का हो। उसने जो इन सबको एक ही थाली में खाते देखा तो चिल्लाने के लिए मुंह खोला। भगवानदास की माता यानी अपनी मां को वह 'बाई' कहता था, उसके मुंह से शिकायत के लिए अभी 'बा.....' ही उच्चरित हो पाया था कि आज़ाद उसका मतलब भांप कर खुद ही मां को जोर से पुकार उठे। कहने लगे, 'हां, कब से मना कर रहा हूं कि इस तरह खाना गलत है लेकिन मानते ही नहीं। खाये ही जा रहे

हैं—अरे राधासरन! दौड़कर बुला ला माताजी को अभी।' इस तरह मामला टल गया—आज़ाद उस सहभोज में पकड़े जाने से साफ बच गये।

दरअसल, आज़ाद का मुंह भी उस समय ग्रास से भरा था, लेकिन वे राधासरन को देखते ही मुंह का ग्रास एकबारगी बिना चबाये ही उदरस्थ कर गये, क्योंकि भगवानदास की माताजी कट्टर सनातनी थीं। बाद में जब उन्हें पता चला कि हरीशंकर ही 'आज़ाद' थे, उन सब लड़कों के नेता, तो आश्चर्य से कह उठीं—'हे भगवान, जे जे गुन हते वामें।'

झांसी में आज़ाद जितने दिन भी फरार होकर रहे, उनके रहन-सहन का ढंग ऐसा था कि कभी भूलकर भी पुलिस को संदेह न हुआ कि 'हरीशंकर ड्राइवर' नामधारी व्यक्ति है कौन? ड्राइवरों के ठेठ सलीके अपनाये रहे—लुंगी लगाये रहने का उनका जो चित्र आज मिलता है, वह उन्हीं दिनों का है। पुलिस इंस्पेक्टरों के साथ 'सिराजुद्दीन एण्ड कम्पनी' की किसी टैक्सी में घूमते भी उन्हें देखा गया। पुलिस अधिकारियों से ही सीधे उन दिनों ड्राइविंग लाइसेंस लेना होता था—आज़ाद ने पुलिस दफ्तर से ही जाकर स्वयं वह लाइसेंस भी प्राप्त किया और उस समय वे कभी न हिचके, न झिझके। पुलिस अफसरों की आंखों में आंखें डालकर वे बात किया करते, कैसा निर्भीक व्यक्तित्व था उनका, कितना जबर्दस्त मनोबल!

झांसी के ड्राइवर रामदुलारे शर्मा, जिनके यहां आज़ाद रहते थे—मौका आया और भगतसिंह, सुखदेव तथा विजयकुमार सिन्हा झांसी आये तो आज़ाद ने उन्हें भी रामदुलारे के यहां ही रखा। कितना भरोसा था आज़ाद को, उस गरीब ड्राइवर पर—जिसके साथ वे ड्राइवरी या 'ड्राइवरी का नाटक' करते रहे। रामदुलारे यह तो जानते थे, अन्दाज के तौर पर कि उसके जो नये मेहमान हैं, वे भी क्रांतिकारी ही होंगे, लेकिन उसे क्या पता था कि ये भगतसिंह, सुखदेव और विजयकुमार सिन्हा हैं और ये लोग 'लाहौर षड्यन्त्र केस' के फरार हैं। बाद में, भगतसिंह का फोटो जब अखबारों में छपा, तब रामदुलारे जान सका कि उसके मेहमान कितने महान विप्लवी थे, लेकिन क्या मजाल कि झांसी कोतवाली में बंद किये जाने के दिनों में उससे कभी ऐसा राज पुलिस पा सकी हो, जिसे आज़ाद न चाहते हों। यह बड़ी बात है। उस ड्राइवर पर नाज होता है।

...और ट्राटस्की मार डाला गया

सन् 1917 में रूस में निरंकुश शासन जारशाही के विरुद्ध जो क्रांति हुई उसमें लेनिन के साथ क्रांतिकारी ट्राटस्की भी समान रूप से हर संघर्ष और जोखिम में भागीदार रहा। उस जमाने में लेनिन के साथ ही ट्राटस्की का भी नाम सदैव जुड़ा रहा। ट्राटस्की त्याग-बलिदान की परम्परा में सदैव अग्रणी रहा लेकिन कौन जानता था कि उसी रूस में कम्युनिस्ट शासन स्थापित होगा तो स्वयं अपने ही विचार-दर्शन के सत्तारूढ़ नेताओं तथा शासन द्वारा न केवल उसे देश छोड़कर भागने को विवश किया जायेगा वरन् वही लोग एक दिन दूर विदेश में भी जिंदा न रहने देंगे, उसकी हत्या कराकर ही चैन लेंगे। ट्राटस्की के जीवन का अंत बड़ी ही निर्ममता से किया गया। उसके पूरे परिवार को भी उसके प्रतिद्वंद्वी नेता स्टालिन ने अतीव नृशंसतापूर्वक कत्ल करा दिया। स्टालिन ने ट्राटस्की के दो बेटों और पत्नी की भी हत्या अपने गुर्गों से करा दी। इस तरह राजनीतिक

विद्वेष और प्रतिस्पर्धा ने एक महान कम्युनिस्ट नेता के कुटुम्ब की बलि ली। यह घटना उन लोगों की आंखें खोलने के लिए काफी है, जो समझते हैं कि कम्युनिस्ट राज्य में सर्वोत्कृष्ट समाज-व्यवस्था तथा सुख-शांति के दर्शन सुलभ हैं। क्रांतिकारी नेता ट्राटस्की की जीवन-कथा और अंततः बलिदान हो जाना इसकी ज्वलंत साक्षी संजो गया है।

न केवल वह और उसका परिवार मार दिया गया वरन् उसके सभी साथी-समर्थक और हमराही भी मौत के घाट उतारे गये और स्वयं रूस के सर्वेसर्वा स्टालिन के लोगों द्वारा ही। वे सभी स्टालिन के एजेंट थे और उनका पूरा समय तथा शक्ति इसी बात के लिए स्टालिन द्वारा नियोजित थी कि ट्राटस्की, उसके बाल-बच्चे, बच्चों की मां और नाते-रिश्तेदारों एवं उसके सहायक-सहयोगी या साथी कोई जिंदा न रहने पाये। यहां तक कि स्टालिन ने ट्राटस्की की हत्या कराने के लिए ऐसा जाल फैलाया कि वह मार भी दिया जाये और कोई यह न कह सके कि स्टालिन ने मरवाया है। इसके लिए उसने उसकी मृत्यु के लिए दुर्घटना का रूप रचा परन्तु उस योजना का पता ट्राटस्की को हो गया। स्वयं स्टालिन के ही एक आदमी ने जाकर ट्राटस्की को सजग कर दिया कि, 'सजग हो जाओ। स्टालिन ने अचानक घटनात्मक रूपेण तुम्हें मरवा देने के लिए आदमी लगा रखे हैं।'

ट्राटस्की समय रहते सावधान हो गया। और सच ही एक दिन जब रूसी क्रांति की वर्षगांठ मनाई जा रही थी, समारोहों की धूमधाम थी, तब रास्ते में एकाएक ट्राटस्की की कार पर दोनों तरफ से गोलियां बरसने लगीं। फिर भी वह उस दिन हत्यारों से बच कर निकल गया। जिस आदमी ने उसे सावधान कर दिया था, उसका नाम था विशनके। यह घटना सन् 1927 की है और ट्राटस्की ने इसे प्रकट किया सन् 1937 में जब उसने अपने निर्वासन काल के बीच अपनी पत्नी को पत्र भेजा। यह उसकी दूसरी पत्नी थी नातल्या। पहली पत्नी को उसके दोनों बच्चों सहित स्टालिन ने मरवा दिया। उस वक्त ट्राटस्की 53 वर्ष का हो चुका था।

वस्तुतः सन् 1924 तक, जब तक लेनिन जीवित थे और स्टालिन सत्ता में नहीं आया था, ट्राटस्की पर कोई हाथ उठाने वाला न था। क्रांति के दिनों में उसके ओजस्वी और प्रभावी वक्तव्यों की बड़ी चर्चा रहती थी। उसके समर्थक भी कम न थे परंतु सन् 1924 में लेनिन के देहावसान के बाद जैसे ही रूस में सत्ता की बागडोर स्टालिन के हाथ में आई, ट्राटस्की दमनचक्र में फंसाये जाने लगे। कारण, लेनिन-युग के सहकर्मी-साथी ट्राटस्की स्टालिन के नेतृत्व को कोई मान्यता देने को तैयार न थे। फलतः उन्हें रूस सदा के लिए छोड़कर निर्वासित जीवन बिताना पड़ा। यद्यपि उस स्थिति में भी उनका सतत यही प्रयास रहा कि एक बार फिर से रूस में क्रांति खड़ी की जाये और उसमें स्टालिन की सत्ता को उलटकर समाप्त कर दिया जाय एवं स्टालिन को शासन से परे कर दिया जाये। एतदर्थ वे क्रांतिकारी साथियों को एकजुट करने में सक्रिय रहे और निर्वासन काल में उनके निजी फ्रेंच सेक्रेटरी जीनवान हेजेवूर्ट का कहना है कि, 'अगर

कहीं जर्मनी में हिटलर सक्रिय न हो उठता और कम्युनिस्ट दल गिरता नहीं तो ट्राटस्की रूस में स्टालिन के खिलाफ एक क्रांति कर पाने में जरूर कामयाब हो जा ते।'

ट्राटस्की का यह फ्रेंच सेक्रेटरी हेजेवूर्ट उनके बहुत संपर्क में रहा तथा इसी आदमी ने ट्राटस्की की तथा उनको लिखी गयी साढ़े सत्रह सहस्र पत्रावली को वर्गीकृत करके संपादित किया। ये सभी पत्र ट्राटस्की ने सन् 1927 से लेकर सन् 1940 तक या तो स्वयं लिखे या दूसरों ने उन्हें उत्तर स्वरूप लिखे थे। गनीमत हुई कि ट्राटस्की ने ये साढ़े सत्रह सहस्र पत्र अपनी हत्या के पहले ही अमेरिकी हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के हवाले कर दिये थे। हार्वर्ड ने दस हजार डालर देकर इसकी कीमत चुका दी। ट्राटस्की ने जानबूझकर अपने जीवनकाल में ये पत्र गुप्त रखे। उनका प्रकाशन नहीं किया। क्योंकि उनका खयाल था कि पत्रों के छप जाने पर उनमें उल्लिखित लोगों या उन पत्र-लेखकों को स्टालिन प्रताड़ित-दण्डित करने लग जायेंगे। यह बात सही भी थी। वह पत्रावली हार्वर्ड यूनिवर्सिटी की ह्यूटन लाइब्रेरी में सुरक्षित संजोयी रही। आगे ये सभी पत्र पुस्तकाकार छपवा दिये गये, जिससे पता चलता है कि स्टालिन जिस ढंग से ट्राटस्की की हत्या के लिए उतावला था, वह क्या था। हार्वर्ड को पत्रावली दे देने के सिर्फ चार महीने बाद ट्राटस्की को मृत्यु-निमंत्रण आ गया।

मृत्यु-निमंत्रण

उन दिनों रूस में जो पुलिस का खुफिया विभाग था, उसमें स्टालिन द्वारा बाहर से ऐसे आदमी भी खासी तादाद में भरे गये जो रूसी न थे, वरन् अन्य देशों से इसी उद्देश्य से बुलाये गये थे। इन लोगों को स्टालिन ने ट्राटस्की की हत्या करा देने की योजना सौंपी। और इन्हीं में से एक रूसी खुफिया विभाग के आदमी ने मौका पाकर विदेश में ही ट्राटस्की पर तेज धार वाली कुल्हाड़ी से वार किया, जिससे उनका सिर क्षत-विक्षत हो गया। यह सन् 1940 की बात है। अपने दीर्घ निर्वासन काल तथा रूस में दूसरी क्रांति की सक्रियता के बीच ही महान क्रांतिकारी नेता एक हत्यारे की कुल्हाड़ी का शिकार बन गया। वह स्टालिन-युग की निरंकुशता का ही एक रक्तरंजित अध्याय है। अभी हाल के गत कुछ वर्षों तक यह हत्यारा जीवित था और ट्राटस्की, जो लेनिन के बाद स्वयं को रूस का प्रथम व्यक्ति समझने में कोई भ्रम या शंका न रखता था, उसको तत्कालीन कम्युनिस्ट शासन के खिलाफ खड़े हो जाने के कारण परिवार सहित समाप्त हो जाना पड़ा।

महान् क्रांतिकारी योगेश दा

उत्तर प्रदेश में योगेश दा (योगेशचन्द्र चटर्जी) को कौन नहीं जानता? कानपुर में ये कभी 'राय महाशय' के नाम से जाने जाते थे। अपना असली परिचय तो क्रांतिकारी प्रायः पचा ही जाता है। ये नये-नये लोगों को, छात्रों को दल में भर्ती करने में दक्ष थे। कानपुर में सबके घर आते-जाते थे, अल्पभाषी थे—शब्दकृपण। कर्मठ थे। तीन-तीन प्रांतों से उन पर गिरफ्तारी के वारण्ट निकले। जब कानपुर में खुफिया पुलिस उन्हें खोजती फिरी, तभी उनके संपर्कित परिवार समझ पाये कि सीधे-सादे दिखने वाले 'राय महाशय' कौन थे, किस धातु के बने थे। मेरा उनसे परिचय कानपुर से ही था। काफी बाद में सन् 42 के दिनों में वे हरदोई जिले में भी बहुत घूमे। इस जिले में गांव-गांव की दीवारों पर उन दिनों जो 'करो या मरो' (डू ऑर डाई) और 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' ('क्विट इण्डिया') के नारे अंकित हो सके, वह योगेश दा के ही प्रभाव व परिश्रम से।

नदी पार कर आप दूर-देहात में जा रहते थे, पुलिस की पहुंच से परे। बाद में लखनऊ और बलरामपुर में भी उनका पर्याप्त प्रवास रहा। उन दिनों एक सज्जन बलरामपुर से आये तो मैंने योगेश दा की चर्चा चलाई। पूछा—'आप तो जानते होंगे?'

उन्होंने मुंह बिगाड़कर कहा—'जानता तो हूं लेकिन वह बात अच्छी नहीं है।'

मैंने पूछा—-'कौन-सी बात?'

वे बोले—'यही डाके वगैरा की। आपके योगेश दा हों या कोई और—लड़कों को जब वे डाके डालने, उसके लिए दीवार पर चढ़ने-कूदने आदि के गर्हित कामों की ट्रेनिंग देते हैं तो मैं उस काम को अच्छा कैसे मान लूं?'

'न मानिये आप, लेकिन वह सब है देश के ही लिए, इसलिए अच्छा कार्य है। महान साध्य के लिए कभी-कभी बुरे साधन भी अपनाने पड़ जाते हैं। देखो अरविन्द घोष कितने बड़े विद्वान थे, कितनी महान आत्मा थे किन्तु देश के लिए डाका डालकर धन जुटाने का जब प्रस्ताव समिति की बैठक में आया तो अरविन्द घोष पहले व्यक्ति थे जिन्होंने तत्काल उसका समर्थन किया।'

वे सज्जन कभी इस विचार से सहमत नहीं हुए किंतु मैंने यहां सिर्फ इस विचार से उसका उल्लेख किया कि सभी प्रकार के लोग इस प्रदेश में योगेशदा से परिचित मिलते थे।

आजाद और भगतसिंह की भी इनकी निष्ठा में बड़ी आस्था थी। इन्हें पुलिस के चंगुल से बलात् छुड़ा लेने की योजना चंद्रशेखर आजाद ने कार्यान्वित करनी चाही थी किन्तु ठीक उसी समय आजाद की जेब कट गई और धनाभाव के कारण वह योजना कार्य-रूप नहीं पा सकी। योगेश दा को स्टेशन पर पुलिस द्वारा ले जाये जाते उनके साथी हसरत से देखते रहे लेकिन हाथ मलकर रह गये—कुछ कर नहीं सके। उस दिन भगतसिंह रो पड़े थे। किसके लिए? इन्हीं योगेश दा के लिए। वे ढाका जिले के गोड़िया गांव के थे। कुमिल्ला में खूब काम किया। वह कभी क्रांतिकारियों का गढ़ था। कुमिल्ला बांग्लादेश में है जो अब स्वाधीन है वहां की सरकार को चाहिए था कि वह कुमिल्ला में विप्लवी शहीदों का स्मारक खड़ा करती, यह एक अच्छा काम होता।

योगेश दा ने बताया था कि, 'मैं ढाका जिले (गोड़िया गांव) का हूं, कुमिल्ला मेरा कार्य-क्षेत्र रहा है।'

बाद में जब आजादी आई, तब योगेश दा को बहुत बेचैन पाया। अमीनाबाद के झण्डेवाले पार्क में वे एक दिन बोले—'किया (क्या) इसी दीन (दिन) को, इसी आज़ादी को देखने के लीये हम जीन्दा रह गिया? हम आज सोचता है कि हामको भी हमारा साथी भगतसिंह के साथ फांसी कियों नहीं मील गिया?'

उनके बोलने का यही मर्म था कि आजादी का जो स्वरूप और नये गद्दीधरों का जो नमूना सामने आया, वह योगेश दा को विह्वल बना गया। उसी पार्क में एक दिन डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी की वाणी सुनी—उन्हें निकट से देखा। बंद गले का एक

ऊंचा-सा कोट पहने वे जो कुछ कह रहे थे—उसका 'अमरा देश', 'अमरा देश'—बस यही शब्द मुझे आज याद रह गये हैं। उतनी ममता से 'देश' शब्द का उच्चारण करते मैंने बहुत कम लोग देखे हैं।

आजादी के बाद भी योगेश दा कई बार मिले, देखते ही तुरन्त रिक्शा छोड़ देते थे। मैं कहता भी था—'दादा! रिक्शे पर ही रहिए—फिर मिलेगा नहीं।'

'नईं, अब थोरा पैदल चलेगा, आपसे बात करेगा।' फिर सुनिये उनकी आलोचना सरकार की, बड़ी योजनाओं के सम्बन्ध में। भाखड़ा-नांगल की महान योजना की भी वे आलोचना करने से बाज नहीं आते थे। कहते थे—'इससे गरीबी दूर नईं होगा—हमारा देश किसानों का देश है। छोटा-छोटा इंडस्ट्री, लघु योजना चलाने होगा।' देर तक इसी तरह बड़बड़ाते रहते थे।

उन्हीं दिनों सहसा नेहरूजी ने समाजवादी ढांचा लाने की बात कही। एक दिन सुना, योगेश दा 'रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी' से कांग्रेस में चले गये हैं। कहां इतनी आलोचना, कहां कांग्रेस! उन्हें दौरा करने वाली कोई कुर्सी भी दी गयी—संसद-सदस्य भी मनोनीत कर लिए गये। तभी अचानक श्रीराम रोड की ढलान पर वे मिल गये। मैंने टोका—'कहो दादा! अब भाखड़ा-नांगल की योजना अच्छी लगती है कि नहीं?'

सुनकर वे हंस दिये। बोले—'अरे भाई, नेहरू जी बोला, हम सोशलिस्टिक पैटर्न की सरकार बनायेगा—हम बोला, 'फिर ठीक है। हम भी इधर कांग्रेस में चला गिया?'

'मतलब यह कि अब विरोधी पार्टी को आपने कमजोर कर डाला।'

'कमजोर क्या, सब तो अलग-अलग ढपली बजाता है। मैं एक दिन कलकत्ता गिया। उहां डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी से मीला। उनका-हमारा बउत मुलाकात है। हम बोला, डाक्टर साहब! एक काम का बउत जरूरत है। ऊ बोला—क्या काम? हम बोला—येई कि सब पोलिटिकल पार्टी को एक फ्रंट पर लाने का जरूरत है—उसका समय आ ही गिया है और यह काम पूरे कन्ट्री में अकेले आप ही कर सकता है।'

'डॉ. साहब वोले—'एकठो पीपुल्स पार्टी बनाया तो है—अभी नया काम है। कुछ किया है—अभी जनसंघ बनाने का काम है। उसका थोरा काम शुरू किया है, बढ़ेगा।'

हम बोला—'डाक्टर साहब! ऊ पोलिटिकल पार्टी नईं हो सकता। हम यू. पी. में बउत रहा है, संघ को जानता है—उसको पोलिटिकल कैसे बनायेगा? लेकिन डा. साहब! आप ही एकठो आदमी हैं जो सब पार्टीज को एक प्लेटफॉर्म पर ला सकता है......!'

अनन्तर किसी दिन योगेश दा ने जनसंघ को पोलिटिकल पार्टी माना या नहीं, नहीं कह सकता। जहां तक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की बात है, योगेश दा ने अपनी अंग्रेजी पुस्तक में लिखा है—

'सन् 1939 में वर्धा से लौटते समय मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रतिष्ठाता डाक्टर हेडगेवार से मिलने गया। वहां मैं गया था प्रसिद्ध विप्लवी श्री त्रैलोक्यनाथ

चक्रवर्ती के साथ, जिनके अधीन डाक्टर साहब ने बंगाल के गुप्त क्रांतिकारी दल 'अनुशीलन समिति' के सक्रिय सदस्य के नातें कार्य किया था, जबकि वे 'कलकत्ता नेशनल मेडिकल कॉलेज' के छात्र थे। डॉ॰ हेडगेवार ने कहा कि 'वे नौजवानों को शारीरिक प्रशिक्षण देते हैं, लेकिन उस ढांचे में कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं है—राजनीतिक उद्देश्य होने से संगठन का काम ठीक से नहीं किया जा सकता। हां, यदि विश्वयुद्ध के दौरान हम कुछ कर सके तो (डॉ॰ हेडगेवार) सोचते हैं कि 44 हजार (संघ के तत्कालीन) स्वयंसेवक हमारे काम में सहायक हो सकते हैं।'

'लेकिन डॉक्टर साहब उसके अगले साल गर्मियों में गुजर गये। वे जब तक जिये, ध्येयवादी जीवन जिये। संघ के कुछ व्यक्तियों ने जरूर सन् 42 के आंदोलन में भी भाग लिया।'

यहां आज यह सब लिखने का यही तात्पर्य है कि योगेश दा सरीखे स्वनाम धन्य क्रांतिकारी जहां राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के जन्मदाता डॉ॰ हेडगेवार की प्रशंसा करते थे—वहीं जनसंघ के प्रथम अध्यक्ष डॉ॰ श्यामाप्रसाद मुकर्जी की इस योग्यता में भी वे आस्था रखते थे कि देश के सब विरोधी दलों को एक मंच प्रदान करने की शक्ति अकेले उनमें ही है।

आज योगेश दा नहीं हैं; 15 अगस्त पर उनकी अनेक स्मृतियां उभर आती हैं। उन्होंने ब्रिटिश दासता के दिनों में लम्बी कैद काटी। भीषण यंत्रणाएं सहीं। उनके मुंह पर विष्ठा भरी बाल्टी (तोंबड़) बांधी गई और उस बीच एक बूंद पानी नहीं दिया गया। वे कठोर कर्मा थे। जन्मजात विप्लवी थे।

आजादी के बाद
जो क्रांतिकारी जीवित रहे

मेरे एक सम्पादक मित्र ने प्रश्न किया कि 'क्रांतिकारियों ने देश को आजाद करने के सुदीर्घ काल तक संग्राम चलाया, उसमें अपना सब कुछ होम दिया, लम्बी-लम्बी सजाएं काटीं, गोली-लाठी खायी, अकथनीय यातनाएं झेलीं—भारत के आजाद होने पर उन्होंने क्या सोचा? क्या चिंतन रहा उनका? भारत की स्वतंत्रता ने कहां तक उनके संचित स्वप्नों को साकार किया?' यह सही है कि बहुत देर बाद सन् 1982 में उनकी पेंशनें और यातायात की सुविधाएं बढ़ीं, परन्तु तब तक जाने कितने क्रांतिकारी तो अभावों में ही निःशेष हो चुके थे।'

यह विषय ऐसा है कि ढंग से और समय तथा परिश्रम लगाकर कुछ लिखा जा सके तो एक वृहद् ग्रन्थ तैयार हो जाये। फिर भी कुछेक विप्लवी जनों की कुछ मनोव्यथा यहां लिपिबद्ध कर रहा हूं।

आज भी स्मृति में ये अनेक नाम अपनी सम्पूर्ण प्रखरता से उभर आते हैं, सर्वश्री पं. परमानन्द (सिंगापुर-विद्रोह), राजा महेन्द्रप्रताप, चन्द्रसिंह गढ़वाली (पेशावर-काण्ड), गोविन्दचरण कॅर (काकोरी-केस), शचीन्द्रनाथ बख्शी (काकोरी-केस), त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती (ढाका-षड्यंत्र-केस), नलिनीकिशोर गुह (ढाका-षड्यंत्र-केस), शम्भूनाथ आजाद (मद्रास-बम-काण्ड), भवानीसिंह रावत (लाहौर-षड्यंत्र-केस), सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य, अनन्तसिंह (चटगांव-षड्यंत्र-केस), हरिपद भट्टाचार्य (डी. वाई. एस. पी. शूटिंग केस), कुन्दनलाल गुप्त (काकोरी-केस), रामनाथ पाण्डेय (काकोरी-केस), किरण चन्द्र दास, सुखदेवराज, रानी गिडालू, काशीराम (गाडोदिया बैंक-डकैती), मुनीश्वर अवस्थी, शिव वर्मा, जयदेव कपूर, दुर्गा भाभी, सुशीला दीदी, प्रो. नन्दकिशोर निगम, सदाशिवराव मलकापुरकर (भुसावल-बम-काण्ड), डॉ. भगवानदास माहौर (भुसावल-बम-काण्ड), बाबा पृथ्वीसिंह, रामकृष्ण खत्री, मन्मथनाथ गुप्त, प्रेमकृष्ण खन्ना (सभी काकोरी केस), गंगाधर गुप्त, जगदीश दुबे (जगत-टाकीज, स्टेशन बम काण्ड कानपुर), भारतसिंह, गोकुल भाई, रामसिंह (अजमेर-शूटिंग-केस), पूर्णानन्ददास, गणेश घोष (चटगांव-शस्त्रागार काण्ड), चन्द्रमसिंह (फणीन्द्र घोष-वध-काण्ड), रमेशचन्द्र गुप्त (वीरभद्र-शूटिंग-केस), सुरेन्द्रनाथ पाण्डेय, वीरेन्द्र पाण्डेय, केशव चक्रवर्ती (काकोरी-केस), वीणा भौमिक, शांति, सुनीति, प्रतुलचन्द्र गांगुली, शचीन्द्रनाथ सान्याल (बनारस षड्यंत्र केस तथा काकोरी-केस), पं. देवनारायण भारतीय (मैनपुरी-केस), मुकुन्दीलाल 'भारत वीर' (मैनपुरी-केस व काकोरी-केस), वीरेन्द्र वर्मा, रमेन्द्र वर्मा, राजेन्द्रसिंह वारियर, गोविन्द बोस, सरदारसिंह (तृतीय लाहौर षड्यंत्र केस), भगतराम तलवार उर्फ 'रहमतखां' (जो सुभाष बाबू को काबुल ले गये), वसन्त बनर्जी, मोहित बनर्जी, तथा फील्ड मार्शल लद्धाराम कपूर (संपादक 'स्वराज्य') आदि।

इन सबसे संपर्क याद आया। कई और भी लोग हो सकते हैं, जिनके नाम आज याद नहीं आ रहे। फील्ड मार्शल लद्धाराम कपूर पंजाब के थे। लाहौर में जो एक संस्था 'भारत माता सोसाइटी' नाम से सक्रिय थी। लद्धाराम उसमें थे। इस संस्था में कई स्वनामधन्य क्रांतिकारी शामिल थे, जैसे कि सरदार अजीतसिंह (भगतसिंह के पितृव्य), सूफी अम्बाप्रसाद, पिण्डीदास आदि। लद्धाराम बाद में इलाहाबाद से छपने वाले 'स्वराज्य' अखबार में सम्पादक हुए और उन्हें तीन सम्पादकीय लिखने के कारण 10-10-10 इस तरह 30 साल काले पानी की सजा मिली। 'स्वराज्य' के होती लाल वर्मा (जिला अलीगढ़), नन्द गोपाल आदि कई संपादकों को अंग्रेज सरकार काले पानी की सजा दे चुकी थी। इस कारण जब पुनः 'स्वराज्य' के लिए नये संपादक की जरूरत आ पड़ी तो लद्धाराम जी लाहौर से दौड़े आये और उसका संपादन संभाल लिया। कैसा जमाना था कि घोर दमन-काल में भी यह जान लेने पर कि 'स्वराज्य' अखबार से जुड़ने का अर्थ होगा काले पानी की लम्बी कैद—लद्धाराम सुदूर लाहौर से भी इलाहाबाद दौड़े चले आये और आखिर उन्हें 30 वर्ष का काला पानी मिला। अण्डमान की जेल में उन

दिनों ऐसे कैदियों को रोज कम से कम 10 सेर और कभी 20 सेर आटा हाथ से चलने वाली चक्की से पीसना पड़ता था—इसीलिए पं. परमानन्द (झांसी) ने मुझसे बताया कि एक दिन वे 'स्वराज्य' के प्रकाशक श्री भटनागर के पास गये और कहा कि, 'मैं भी देश का कुछ सेवा-कार्य करना चाहता हूं, कृपया मुझे भी कोई कार्य बताइये।'

उन्होंने कहा, 'एक शर्त है। पहले तुम रोज 10 सेर आटा हाथ चक्की से पीसने का अभ्यास कर लो, फिर आना, काम बताऊंगा।'

परमानन्द ने पूछा, 'ठीक है, यह तो कर लूंगा लेकिन इसके बाद और कोई शर्त?' उन्होंने कहा, 'उसके बाद एक काम और करना होगा, यह जो अपना 'स्वराज्य' अखबार है—इसे सिर पर रखकर बाजार में बेचना होगा यह आवाज लगाते हुए कि, 'स्वराज्य ले लो स्वराज्य!' परमानन्द ने कहा, 'यह तो मुझसे नहीं होगा।' युवक ही थे। फिर न गये वहां लेकिन एक दिन 'गदर पार्टी' के क्रांतिकारी के नाते परमानन्दजी पहुंच ही गये काले पानी (अण्डमान)। सिंगापुर में उन्होंने भारतीय सैनिकों में क्रांति की अलख जगायी थी, तथा कोई 500 गोरे मार दिये थे भारतीय सेना ने सिंगापुर में, भारतीय ध्वज फहराकर उसे स्वतंत्र घोषित कर दिया था। 15 दिन सिंगापुर स्वतंत्र रहा था। परमानन्द ने 30 साल अण्डमान आदि जेलों में ही बिताये। वहां उन दिनों वीर सावरकर सरीखे अनेक क्रांतिकारी कैद काट रहे थे। परमानन्द कहते थे, 'वीर सावरकर हमारे लिये अण्डमान जेल के विश्वविद्यालय के कुलपति थे, हम लोग उनके छात्र थे वहां। वे हमें थोरो और एमर्सन की पुस्तकें पढ़ने के लिए उत्साहित करते थे। जब हम कहते थे कि एमर्सन को समझना मेरे लिये कठिन है तो वे हमसे शिकायत करते थे। कहते थे, 'कैसे हो तुम! एक वह (एमर्सन) था, जो ऐसी पुस्तकें लिख गया और एक तुम हो, जो उसका लिखा समझ भी नहीं पा रहे? पढ़ो—बार-बार पढ़ने से समझोगे।' इस तरह उन्होंने हमें पढ़ाया, काले पानी की जेल में। लाहौर के लद्धाराम भी वहीं पहुंचे 30 साल की सजा लेकर।

यह तो हुई उनके अतीत जीवन की बात। फिर जब देश आजाद हुआ तो इन उद्भट क्रांतिकारी देशभक्तों ने क्या अनुभव किया? कैसी लगी उन्हें वह समझौते से प्राप्त खण्डित स्वतंत्रता; और वह उनके संजोये स्वप्नों से कहां तक मेल खाती थी? इस प्रश्न पर सोचने पर देखा, कि ये सब तपे-तपाये क्रांतिकारी ऐसी आजादी से, भारत की शासन-व्यवस्था से बड़े क्षुब्ध, दुःखी तथा हताश थे। मौके-ब-मौके उन्होंने शासन की नीति का, भ्रष्टाचार का विरोध किया, फलतः लद्धाराम को—परमानन्द जी को, शिव वर्मा, जयदेव कपूर और चन्द्रसिंह गढ़वाली को नेहरू सरकार ने जेल में रखा। इससे अन्दाज लगाया जा सकता है कि इन क्रांतिकारियों के लिये देश की स्वतंत्रता क्या सौगात लायी थी? तभी तो बंगाल के क्रांतिकारी कवि नजरुल इस्लाम ने लिखा--

'आमि विद्रोही चिर अशांत!
आमि सेइ दिन हबे शांत–'

कि 'मैं तो चिर विद्रोही हूं, चिर अशांत। और मैं तभी शांत हो सकूंगा जिस दिन देश में अन्याय-अत्याचार-दमन-उत्पीड़न की तलवार टूटकर सदा के लिये अतल समुद्र में समा जायेगी।'

और कैसी विडम्बना थी कि देश स्वतंत्र होने पर 'अग्नि-वीणा' का यह महान गायक वाणी-विहीन हो गया। नजरुल कुछ बोलते ही न थे, सब कुछ देखते थे; सुनते थे लेकिन मौन। कभी कुछ बोले नहीं। क्या हो गया उन्हें, कोई कभी कुछ जान न सका। जान सकेगा भी नहीं और अब तो वे चिर विदा भी ले जा चुके हैं। यह तो हाल हुआ नजरुल का, जैसे कि वे सदा के लिये विक्षिप्त हो गये हों। उनका सोनार बांगला खंडित हो गया तो कवि का हृदय भी टूट गया। क्या इस विभाजन की कभी उन्होंने कल्पना की थी? शंकर तथा अन्य देवी-देवताओं के नाम लिखे बिना नजरूल की कविता नहीं पूरी होती थी। वे लिखते थे—

'आमि धूर्जटि आमि शंकर!' अर्थात 'मैं धूर्जटि शिव हूं, प्रलयंकर हूं'—किसके लिये? देश-शत्रु अंग्रेजों के लिये। मैं क्रांति का प्रलय-ज्वार लाऊंगा यहां।

नजरुल क्या कभी पाकिस्तान बनने की कल्पना कर सकते थे? उन्होंने अपने दोनों पुत्रों के हिंदू नाम रखे थे, एक का नाम 'सव्यसाची' रखा। भारत में मुस्लिम तो मुस्लिम, कितने हिन्दू हैं जो अपने लड़कों के ऐसे नाम रख पाते हैं? 'सव्यसाची' नाम 'गीता' में आया है। अर्जुन के लिए प्रयुक्त हुआ है—क्योंकि वे दोनों हाथों से शस्त्र-चालन में सक्षम थे। एक दिन शरत बाबू ने भी 'पथेर दावी' के नायक क्रांतिकारी का नाम 'सव्यसाची' रखा, क्योंकि वह दोनों हाथों से रिवाल्वर-बन्दूक चला सकता था। वह पुस्तक अंग्रेजों ने जब्त कर रखी। हम विचार करें, नजरुल की भावना का, उनकी संस्कृति का तो निष्कर्ष निकलेगा कि ऐसा राष्ट्रीय कवि जो वर्षानुवर्ष देश के स्वतंत्रता-संग्राम को वाणी देता आया, प्रेरणा और उत्तेजना देता आया, जिसकी कविताएं गैर-बंगाली क्रांतिकारी अण्डमान की जेलों में भी दुहराया करते थे। नजरुल की 'आमि विद्रोही चिर अशांत' नाम्नी कविता काले पानी से लौटे कई क्रांतिकारी भाइयों के मुंह से मैंने सुनी है। और तब सोचता रहा कि नजरूल इस्लाम का भारतीय आजादी के संघर्ष में कैसा महत्वपूर्ण योगदान है। और फिर सोचा कि कैसी विडम्बना हुई उस कवि तथा उसके पथ के पथिक बंग भूमि के अनेक देश-भक्त विप्लवियों के साथ कि उनके बंगाल को न सिर्फ बांटा-काटा गया, वरन् पूर्वी बंगाल की राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा बंगला के बजाय 'उर्दू' घोषित की गयी। उस वातावरण में नजरुल इस्लाम के आदर्शों, जीवन-मूल्यों और संचित स्वप्नों का क्या मेल बैठ सकता था? वे नजरुल इस्लाम, जो मुसलमान होकर भी दुर्गा-पूजा के दिनों में माता की पूजा-अर्चना में शामिल हुआ करते थे—मां का प्रसाद ग्रहण करके प्रसन्न होते थे। अब उनकी भूमि पर जो शासन आया, उसमें न दुर्गा माता की गुजर थी, न वहां की भाषा की, न संस्कृति की। वह ढाका जहां ढाकेश्वरी (काली) का प्राचीन मन्दिर था—अब सुना था, न मन्दिर रहा, न मां की

प्रतिमा। जिन्ना, अयूब, याह्याखां, भुट्टो—कोई भी तो उस 'सोनार बांग्ला' की आत्मा का खून करने से बाज न आया। और फिर एक दिन ऐसा आया कि पूर्वी बंगाल जब बन भी गया बांग्ला देश, तो वहां के लोगों ने सत्ता की राजनीति से प्रेरित होकर बंग बन्धु मुजीब को ही मार डाला। नहीं कहा जा सकता कि आज भी जो व्यवस्था पूर्वी बंगाल में है, वह नजरूल इस्लाम के संजोये सपनों से कितना साम्य रखती है? नजरुल ने देखा कि पाकिस्तान बनते ही ढाका में त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती जैसे महान देशभक्त क्रांतिकारी नेता जेल में ठूंस दिये गये और यदि वे जेल से बाहर भी रहे तो उनके साथ पाशविक व्यवहार शासन ने किया। त्रैलोक्यनाथ सन् 1946 में लम्बी कैद काटकर दमदम-कारागृह से मुक्त हुए थे। इस वर्ष बंगाल में हिन्दू-मुस्लिम दंगे शुरू हो गये थे। दरअसल उन्हें 'हिन्दू-मुस्लिम दंगे', कहा जाना गलत ही है, वे तो सीधे हिन्दुओं पर ही हमले हो रहे थे। हिन्दू ही पूर्वी बंगाल में लूटे-काटे, भगाये जा रहे थे। इसीलिए त्रैलोक्यनाथ को कहना पड़ा कि 'जिस देश में इस तरह दुर्नीति और दंगे जड़ें जमा लें, वहां क्या कभी समाजवाद पनप सकता है या कभी वहां समाजवादी व्यवस्था लायी जा सकती है?'

फिर वही हमले जारी रहते हुए; बंगाल आजाद हुआ तो वहां पाकिस्तान बन जाने से हिन्दू जनता भारत के लिए भागी जान बचा कर। उस समय कई लोगों ने त्रैलोक्य दा से भी कहा कि 'यहां रहना ठीक नहीं, भारत चलो।' त्रैलोक्य दा के संस्कार दूसरे थे—वे किसी और ही मिट्टी के बने थे। बोले, 'नहीं, मैं किसी भी हालत में यहां से जा नहीं सकता। ऐसा करूं तो यहां जो अपना समाज (हिन्दू जनता) है, उसके साथ अपघात-विश्वासघात करना होगा। मैं यहीं रहते हुए उस समाज की सेवा-सुरक्षा का काम करूंगा।' और वे नहीं ही हटे वहां से। उसका नतीजा यह हुआ कि पाकिस्तान सरकार ने उन पर कई संगीन आरोप मढ़ दिये। एक था कि, 'जो लोग पाकिस्तान की खिलाफत करते हैं, तुमने उन सब लोगों की बैठक की है।' आरोप में बताया गया कि 'यह बैठक तुमने बरीशाल में की।'

दूसरा आरोप पाकिस्तान सरकार ने उन पर यह लगाया कि 'कलकत्ता क्षेत्र में सोशलिस्टों की एक सभा में तुमने कहा कि, 'कश्मीर हिन्दुस्तान का अविभाज्य भाग है।' तीसरा सीधा आरोप था त्रैलोक्य दा पर कि 'तुम पाकिस्तान के खिलाफ कुछ न कुछ साजिश करते रहते हो। सब्बर्सिव कार्य अन्जाम देते हो।'

इन आरोपों से उद्धार पाने का रास्ता पाकिस्तान सरकार ने यह रखा था कि 'तुम अगर यह लिखकर दे दो कि, 'अगले 6 वर्षों तक तुम यहां के किस भी चुनाव में हिस्सा न लोगे', तो तुम्हें क्षमा कर देगी सरकार।'

जब विधायक होना गुनाह हो गया

कारण यह था कि त्रैलोक्य दा विधायक हो गये थे जीवन में पहली बार—इसी गलती

के लिए अब पाकिस्तान सरकार उन्हें सजा देना चाहती थी। विधायक इसलिये हुए थे कि 'असेम्बली में जाकर अल्पसंख्यकों (हिन्दुओं) का कुछ दुखड़ा रोऊंगा।' पूरे पूर्वी पाकिस्तान में हिन्दू-पीड़ित प्रताड़ित किये और लूटे-उजाड़े जा रहे थे, उद्देश्य था वहां के सभी हिन्दुओं को पूर्वी पाकिस्तान से उनके भूमि-खेत-मकान बेदखल करके कब्जाना। त्रैलोक्य दा ने असेम्बली के चुनाव में खर्च किये थे सिर्फ 2800 रुपये। यही रकम उनके लिए बहुत थी। त्रैलोक्य दा ने माफी मांगी नहीं, उल्टे अदालत में जाकर सवाल किये, खुद बहस करनी चाही। कहा कि 'आरोपकर्त्ता सरकार भी क्यों नहीं अदालत में हाजिर होती?' दूसरा सवाल पूछा कि 'मैंने जिन कथित पाकिस्तान-विरोधियों की बैठक की उनकी सूची क्यों नहीं रखी गयी?' तीसरा सवाल था कि 'कलकत्ते की जिस सभा में मैंने कश्मीर के बारे में भाषण दिया, वह कब हुई?' चौथा सवाल रखा उन्होंने कि 'जब बकौल सरकार' मैं पाकिस्तान के खिलाफ साजिश कराता हूं, तो मुझे पकड़ा क्यों नहीं गया?'

उस ट्रिब्यूनल में अध्यक्ष थे जस्टिस अकरम। तीन जज थे। एक सिलहट के थे। जस्टिस अकरम ने ट्रिब्यूनल में कहा इन सवालों पर कि, 'ये सवाल ही नाजायज हैं। आरोपकर्त्ताओं के नाम देना जरूरी नहीं। कलकत्ते की सभा वगैरा का दिन नहीं बताया जा सकता।' सिलहट के जज ने त्रैलोक्य दा से कहा, 'आपकी उम्र (बुढ़ापा) देखते हुए गिरफ्तारी नहीं की गयी।' और ट्रिब्यूनल ने निर्णय दे दिया कि, 'तुम 6 साल तक यानी सन् 1966 तक चुनाव नहीं लड़ सकते।' 72 साल की उम्र उनकी हो ही चुकी थी—आगे चुनाव क्या लड़ते! एक और नोटिस उन्हें मिला कि, 'विधायक के नाते जो भी अतिरिक्त रकम तुमने प्राप्त की, वह सरकार को लौटा दो।' तब वहां 200 रुपये मासिक अन्य खर्चों के लिए मिलते थे, वे व्यय ही हो जाते थे। त्रैलोक्य दा ने बताया कि 'पुरखों की भूमि बेची, तब वह रकम लौटा सके सरकार को। पाकिस्तानी असेम्बली की सदस्यता का दण्ड इस तरह भरा।'

यहीं तक मामला समाप्त नहीं हुआ, आगे भारत-पाकिस्तान युद्ध शुरू हो गया तो त्रैलोक्य दा को 'खतरनाक असामी' तथा पूर्वी पाकिस्तान सरकार के लिए 'अविश्वसनीय' मानकर गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया गया। जिस देश (पूर्वी बंगाल में वे जन्मे थे) के लिये जीवन के 30 साल जेलों में खपाये, उनके साथियों ने जिसकी आजादी के लिए फांसी-गोली झेली, मरे-खपे, वहां स्वतन्त्रता के 23 वर्षों में उन्हें यह पुरस्कार या प्रतिदान प्राप्त हो रहा था—अनिश्चितकालीन कारावास। अपने लिए यह यातना फिर भी त्रैलोक्य दा को सह्य थी। असह्य दुःख उन्हें यह हो रहा था जैसा कि वे बताते थे कि आजादी यानी विभाजन आने पर पूर्वी पाकिस्तान में जो भी हिन्दू बचे थे, उनकी नौकरियां समाप्त कर दी गई थीं। रोजी-रोजगार-विहीन हिन्दुओं के खेत-बाग-घर-मकान भी छीने-उजाड़े जा रहे थे। उनके खेतों के धान रातो-रात बलात् काट लिये जाते, उनकी बहू-बेटियां दिन-दहाड़े उठा ली जातीं, अनेकविध

आतंकित-अपमानित-पीड़ित करके वहां के हिन्दुओं को अपना देश त्यागने पर विवश किया जाता। जो मुसलमान भारत (बिहार आदि) से वहां जाते, उन्हें 'रिफ्यूजी' कहकर हिन्दुओं के ही घर-खेत दे दिये जाते। इन बातों से वह पुराना विप्लवी बड़ी व्यथा पाता। जेल में भी बेचैन व्यग्र होता। सैनिक शासन थोपने से वे विधायक तो सन् 1958 में ही नहीं रहे थे।

उनसे वहां के सरकारी अफसर कहा करते कि, 'तुम यहां जो तमाम दौड़-धूप, मेहनत करते हो, वह किसलिए? यह देश अब क्या तुम्हारा रह गया है?' सरकार को शक था कि तमाम उम्र जेल काटा हुआ यह आदमी अब यहां क्या करता है? भारत क्यों नहीं चला जाता? उनका सन्देह कभी गया नहीं। फलतः भारत-पाकिस्तान युद्ध तो 17 दिन चला, लेकिन त्रैलोक्य दा को एक साल तक जेल म सड़ाया गया उस वृद्धावस्था में। खाने आदि के लिए रोज डेढ़ रुपया मिलता था–उसी में चाय, शकर, चावल-दाल, लकड़ी, तेल सभी कुछ जुटाना पड़ता। तीसरा दर्जा दिया गया था जेल में उन्हें।

अकेले त्रैलोक्य दा ही नहीं, डॉ. के. पी. घोष आदि अनेक हिन्दू, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, किसान कार्यकर्त्ता कैद किये गये थे, सभी हिन्दू ही पकड़े गये। न पेशी, न कोई अदालत। 'नेशनल अवामी पार्टी' में से हिन्दू ही बीन-बीनकर जेल में डाले गये। यह स्थिति उस क्रांतिकर्मी से देखी नहीं जाती थी। इसीलिये जेल जाने के दो साल पहले उन्होंने कोशिश की कि हिन्दुओं का एक सम्मेलन करें, गवर्नर ने रजामन्दी भी दी, पर वह 'हिन्दू-सम्मेलन' उन्हें कभी करने नहीं दिया गया।

त्रैलोक्य दा ने कोशिश की, पर वहां हिन्दू को बंदूक-पिस्तौल का लाइसेन्स नहीं मिल सकता था, जबकि वहां तब भी एक करोड़ हिन्दू थे। त्रैलोक्य दा कहते थे, 'इसके अपराधी हम स्वयं हैं कि एक करोड़ की संख्या में रहते भी हम कुछ करते नहीं–जबकि पूर्वी बंगाल हमारा है, हमारे बाप-दादों का है; क्यों त्याग दें हम इसे? क्यों चाहें हम हिन्दू किसी की कृपा-दया? जो हम पर आक्रमण करते हैं; हमें लूटते-उजाड़ते हैं, वे जब देखेंगे कि उन्हें मरना पड़ेगा तो वे भाग खड़े होंगे। हम उनके प्रतिरोध के लिए संघबद्ध तो हों। न सिर्फ पूर्वी बंगाल वरन सिंध, पश्चिमी पाकिस्तान के हिन्दुओं के लिये भी त्रैलोक्य दा के विचार महत्त्वपूर्ण हैं, कीमती दस्तावेज हैं। इसी कारण मैंने आजादी के बाद का दृश्य चित्रित करते हुए विस्तार से त्रैलोक्य दा और आजादी के बाद के पूर्वी बंगाल का वृत्त यहां प्रस्तुत किया। त्रैलोक्य दा वहां लोकतंत्र चाहते थे, उसी को वहां के पीड़ित हिन्दुओं का समाधान बताते थे। स्यालदह स्टेशन पर जब पूर्वी बंगाल से लुटे-पिटे भगाये गये हिन्दू उतरते तो उनकी दुःख-दशा देखकर त्रैलोक्य दा पूछ उठते– 'उन्होंने क्या जुर्म किया कि वे आज इस दशा को प्राप्त हुए?'

'क्या करूंगा भारत जाकर!'

यही दर्द उनके दिल को टीसता था। वे कहते थे कि 'आज पूर्वी बंगाल में आखिर

एक भी हिन्दू सेना में क्यों नहीं भर्ती हो पाता? (एक भी हिन्दू यहां का गवर्नर, मुख्य सचिव, जिला मजिस्ट्रेट, आई. जी. क्यों नहीं हो पाया)' जब कुछ मित्रों ने जोर दिया कि 'त्रैलोक्य दा, 'आप भारत चले जायें—वही ठीक रहेगा।' तो वे बोले, 'भारत जाकर करूंगा क्या वहां (अभी भी जो अनेक क्रांतिकारी हैं, वही क्या कर रहे हैं, यहां के हिन्दू मुझ पर भरोसा रखते हैं। मेरी ओर सहायता के लिए देखते हैं। यहां रहकर मैं कुछ न कुछ सेवा-सहायता उनकी कर सकता हूं। इसीलिए टिका हूं और रहूंगा।' उन्हें कोई साम्प्रदायिक कभी नहीं कह पाया। कारण, वे पाकिस्तान की 'सोशलिस्ट पार्टी' के प्रधान थे। उनके साथी थे वहां पार्टी में देवेन्द्रनाथ घोष, पुलिन दे, मोहम्मद यूसुफ और मुबारक सागर।

ये दोनों मुसलमान नेता लाहौर, कराची में रहते थे। लेकिन जब पार्टी का एक अधिवेशन रंगून में हुआ जो वह एशियाई सोशलिस्ट अधिवेशन था, उसके लिए त्रैलोक्य दा को पासपोर्ट ही नहीं दिया गया। कराची से मुबारक सागर को पासपोर्ट दे दिया गया। दिया भी गया तो अधिवेशन के 6 माह बाद! इस अधिवेशन में इंग्लैण्ड से मि. एटली भी आये थे।

त्रैलोक्य दा के ही एक साथी 'काकोरी-केस' के गोविन्दचरण कॅर थे। वे भी जिद करके पूर्वी पाकिस्तान में ही रह गये थे कि 'हम यहीं रहेगा।' लेकिन उन्हें वहां मुसलमानों ने हमला करके बुरी तरह जख्मी कर डाला था। ये भारत आये, लेकिन यहां के प्रशासनिक वातावरण में अपने को समरस नहीं कर पाये। खीझते रहे शासन के रंग-ढंग देखकर। लखनऊ के लाटूश रोड पर ही किराये के एक मकान में रहते थे। मैं आता-जाता था वहां। प्रथम स्वतंत्रता-दिवस, जो यहां गवर्नर हाउस में आयोजित हुआ था मैंने कर दा के साथ ही जाकर देखा था, उसी में यह झलक मिल गयी थी कि अंग्रेजों के बाद जो ये राज्यकर्ता हैं कुर्सियों पर, ये क्या करेंगे। उस समय पंत जी मुख्यमन्त्री थे। वे कर दा को जानते भी थे, चन्द्रभानु गुप्त भी जानते थे—न जानते होते तो शायद अफसरों की रोक-टोक से कर दा उस समारोह में प्रवेश ही न पाते। फिर वहां देखा कि आगे कौन-कौन लोग जमे हैं, तो चिढ़ गये, कहने लगे—'आगे तो सब साला ब्लैक मार्केटिया बैठा है।' और उठ गये यह कहकर। तो चन्द्रभानु गुप्त ने कह-सुनकर उन्हें फिर अन्यत्र बैठाया!

यह स्वरूप तथा प्रतिक्रिया थी प्रथम स्वतंत्रता-दिवस-समारोह की, जिस दिन आजादी आयी इस देश में। उससे अन्दाजा मिल गया कि किस किस्म की व्यवस्था अब इस देश के पल्ले पड़ेगी। चोरबाजारिये आगे आने लगे थे हर सरकारी भीड़-भाड़ में। फिर अगले दिन मुख्यमन्त्री पंतजी को कर दा बधाई देने चले। जेल में साथ रहे थे। मुझे भी ले चले वहां। रात में गांव लौटने न दिया, कहा था, 'अरे! अब जाना नहीं वचनेश भाई! गोविन्द बल्लभ पन्त चीफ मिनिस्टर हो गया। उसको हम कांग्रेचुलेट करने जायेगा—तुम भी जरूर चलना।' रुक गया था उन्हीं के यहां रात को। सवेरे देखा,

कॅर दा में बड़ा उत्साह चलने का। खादी के धुले कपड़े धोती-कुर्ता पहना, चाय बनाकर पी, मुझे पिलाई, रात में ही एक-दो फूल माला मंगाकर रख ली थीं। लेकर चले वह कर दा। मगर जब मुख्यमन्त्री-निवास पर पहुंचे तो वहां 8 बजे भी इन्हें घुसने न दिया गया। कहा गया, 'अभी साहब तैयार हो रहे हैं।' अन्दर पंतजी शायद अखबार पढ़ने बैठे थे—इसी से पी. ए. ने कॅर दा को द्वार के बाहर ही रोक दिया। बाहर कहीं एक बेंच पर बैठ गये मन मारकर। उत्साह काफूर हो गया। सोच रहे थे, सीधे घर की तरह घुसते चले जायेंगे और देखते ही पंत जी कहेंगे—'अरे, कॅर दा हैं! आइये, आइये!' फिर चाय मंगवायेंगे। प्रेम से मिलेंगे, आखिर जेल में वर्षों साथ रहे हैं, मुख्यमन्त्री हो गये तो क्या! पर अब बाहर बैठना पड़ा तो मन को धक्का लगा। समझ में आ गया कि पंतजी पंतजी हैं—मुख्यमन्त्री हैं आखिर और हम हम हैं, यानी सामान्य जनता। एक दीवार उठती गयी बीच में, तब से वह दीवार बराबर और ऊंची होती गयी है। जनता एक तरफ है—शासक उस दीवार के पार दूसरी तरफ। दोनों में कोई तालमेल नहीं। वही हाल यहां के हर स्तर का है। शासक वर्ग और सामान्य जन के स्तर में जमीन-आसमान का फर्क! मन्त्री के बंगले में जो पर्दे पड़े हैं—वैसा कपड़ा देश के बहुतांश लोगों को देखनें को भी नसीब नहीं होता। और 'सुरक्षा' के क्या कहने!

ऐसी लाचारी!

यद्यपि पंतजी अतीव नम्रता बरतते थे, स्वभाव से साधु पुरुष थे। जिन दिनों सरकार किसानों को 'भूमिधर' बना रही थीं, और उसके लिए उनसे दस गुना लगान वसूल रही थी उसकी अपील प्रत्यक्ष जन-सभाओं में मैंने उन्हें करते देखा। शायद ही कोई मुख्यमन्त्री जनता के सामने, खासकर किसानों के सन्दर्भ में अपनी नम्रता, लाचारी का ऐसा परिचय दे। पंतजी को एक बार मैंने कहते सुना कि, 'देखो! जब तुम्हारी फसल तैयार होती है तो तुम्हारे पास ब्राह्मण तथा गांव के लुहार, कुम्हार, भिक्षुक, फकीर, कई तरह के लोग आते हैं, उन्हें तुम कुछ न कुछ अन्नदान करते ही हो। सरकार भी तुमसे दस गुना मांगती है, तुम्हारे खेतों का ताकि तुम्हें भूमिधरी का पट्टा प्रदान कर सके। जिस भूमि को तुम जोतते-बोते हो, वह तुम्हारी हो जाय—उस पर तुम्हारा ही स्वत्व हो, तो क्या इसके लिये तुम सरकार को कुछ न दोगे? तुम जरूर देना चाहोगे, उसका लगान देकर भूमिधरी लेना चाहोगे। यही अपील मैं तुमसे करने आया हूं, और विश्वास करता हूं कि किसान बिना कुछ दिये क़िसी से चाहे वह सरकार ही क्यों न हो, कोई चीज लेता नहीं; आज भी नहीं लेगा।'

सो, पंतजी के बंगले के बरामदे में उस दिन कॅर दा को तो टोक दिया उनके पी. ए. ने। लेकिन तभी देखा कि एक साहब फाइल लिये आये बाहर से और अन्दर घुसते चले गये। उन्हें किसी ने न टोका। शायद सेक्रेटरी रहे होंगे। और बस, कॅर दा बिगड़ उठे। पी. ए. से कहा, 'तुमने हमें तो टोका, लेकिन यह क्यों अन्दर चला गया?'

आवाज उनकी ऊंची, कुछ खरखरी थी—शायद पंतजी ने सुन लिया और तुरन्त बाहर आ गये, कर दा को देखकर कहा, 'अरे! आप हैं गोविन्दचरणजी! आइये, आइये!' लेकिन कॅर दा ने कहा, 'पंतजी! मुझे अब कहीं आना-जाना नहीं। आकर गलती की।' और हाथ की माला वहीं नोच-फोच कर टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दी। चल दिये वहां से। पंतजी चुपचाप खड़े देखते रहे। यह खास लिखने का प्रसंग वैसे है नहीं; परन्तु प्रश्न आया कि आजादी आने पर देश के क्रांतिकारी वर्ग ने कैसा अनुभव किया, तो यह प्रत्यक्ष साक्षी मैंने न चाहते हुए भी यहां लिख मारी। इसके अर्थ यह नहीं कि कर दा सरीखे विप्लवी अब राज-कृपा चाहते थे या अपने लिए कोई परमिट-कोटा चाहते थे। तब पेन्शन थी 15-20 रुपये तो किसी की 30-40 रु.। और भी अनेक क्रांतिकारियों का जीवन-क्रम मैंने उस समय जो देखा तो पाया कि वे जो भी परिस्थितियां सामने हैं, उनमें अपने जीवन का सामंजस्य बैठा नहीं पा रहे। अजीब स्थिति थी। अभी तक तो काले पानी या 10-12 साल की सजा पाकर जेलों में पड़े थे, बाहर की दुनिया का कुछ पता न था। घर-गृहस्थी में क्या घटित हो रहा है, उससे उनका कोई नाता नहीं रह गया था। लम्बी कैद काट रहा आदमी घर-परिवार के लिये कर भी क्या सकता है! परन्तु अब आजादी पाने पर रिहा हुए, तो परिवार में शेष बचे लोगों के भरण-पोषण की समस्या मुंह फाड़े उनके सामने खड़ी थी। दुनियादारी का उन्हें कुछ अनुभव नहीं, लेकिन दुनियादारी करने चले। क्या किया? एक उदाहरण—बटुकेश्वर दत्त को सरदार भगतसिंह के साथ ही असेम्बली में बम फेंकने के तुरन्त बाद पकड़ा गया था। असीर हुए फैसले में, लम्बी सजा मिली। खाते-पीते संपन्न परिवार में उनका पूर्व जीवन बीता था—लेकिन आजाद भारत में क्या रोजगार मिला, जानते हैं? एक सिगरेट कम्पनी की एजेन्टी करना शुरू किया। और करते भी क्या!

उनके सरीखे प्रतिभावान क्रांतिकारी से क्या कभी कोई यह अपेक्षा कर सका था कि वे जेल से छूटकर सिगरेट की एजेन्टी करेंगे? परन्तु की। मरता क्या न करता, करनी पड़ी। 'काकोरी केस' के जन्म-कैदी शचीन्द्रनाथ बख्शी ने भी कई वर्षों तक ऐसी ही किसी सिगरेट या साबुन कम्पनी की एजेन्टी, गुमाश्तागीरी की थी। घर के पुराने रखे बर्तन बेचकर कुछ दिनों गुजर की थी। लड़कों की शिक्षा का खर्च भरना कठिन होता है। एक क्रांतिकारी को जानता हूं—उन्हें 70 साल के ऊपर सजा मिली थी, जेल में भी वे पूरी सजा काट पाते या नहीं, कहा नहीं जा सकता; लेकिन जब आजादी आई तो बीच में ही रिहा हो गये। मेरी उनसे मैत्री रही—इसलिये जानता हूं कि उस आदमी को जब उसके ऐसे रास्ते के राही होने की नाराजी में घर से अलग निकाल दिया गया तो उसके पास कुल जमा दो-चार रुपये भी न थे। वह अपनी स्त्री व एक बच्ची लेकर लखनऊ के एक धर्मशाले में आकर रहने लगा, और कहां रहता?

किराये के लिए रुपये कहां थे उसके पास? फिर वह पहले दिन 6 पैसे की मिट्टी के बर्तन हांडी, घड़ा आदि लाया। इस तरह उसने गृहस्थी नये सिरे से शुरू की, एक

अनजान, अपरिचित जगह में। हांडी में ही भात-दाल पकाती उनकी पत्नी। ऐसे ही विषम दिन गुजारे उन्होंने। आगे बहुत वर्षों बाद घोर परिश्रम करते हुए जब उनका अपना घर-मकान हो सका, जिसमें उन्होंने खुद ईंट-गारा ढोया था, फर्श में ईंटें चुनी थीं। पलस्तर किया था तो आये दिन उनका सरकारी अफसरों से झगड़ा होता रहता। एक बार कई दरोगाओं ने मिलकर उन्हें मारा भी। मेरे पास आये। चन्द्रभानु गुप्त मुख्यमन्त्री थे तब। उनके पास हम उन्हें ले गये। वे सचिवालय जाने की तैयारी में थे, दरख्वास्त दी पुलिस के खिलाफ। कहा भी कि, 'गुप्ताजी! आपके राज में क्रांतिकारियों की क्या यही इज्जत होगी?' गुप्ताजी मानते थे क्रांतिकारियों को। 'काकोरी-केस' के खत्रीजी भी गये थे। उस दरोगा का तबादला हो गया। क्रांतिकारी भाई इतने से ही सन्तुष्ट हो गये।

एकला चलो रे!

फिर एक दिन देखा कि महापालिका के प्रशासक के ख़िलाफ अकेले ही एक लकड़ी में यह लिखकर टांगे हुए, नारे लगाते हुए सड़क से चले जा रहे हैं कि 'भ्रष्टाचार बन्द करो। नौकरशाही नहीं चलेगी····।' होगी कोई और तकलीफ। देश के लिए ही लड़ सकते थे; लड़ते रहे भ्रष्ट अफसरशाही नौकरशाही से। सवाल है, आम आदमी अकेला कहां लड़ पाता है! सांसत कितनी ही भुगते वह।

फील्ड मार्शल लद्धाराम कपूर, जिन्हें 30 साल की सजा काले पानी की मिली थी, खेत सम्बन्धी किसी मामले में वे जेल में डाल दिये गये। मैंने खुद उनके मुंह से सुनी थी यह व्यथा-कथा। जब काले पानी का क्रांतिकारी कैदी आजाद भारत में घूस नहीं दे पाया अफसरों को तो उसे क्या नहीं भुगतना पड़ा! वह लड़ना जानता था, लड़ता रहा—बदले में तकलीफें, यहां तक कि जेल काटने तक की सांसत भुगतता रहा।

चन्द्रसिंह गढ़वाली लखनऊ जेल में जवाहरलाल नेहरू के साथ ही रहे थे। नेहरू जी उन्हें 'बड़े भाई' कहकर पुकारते थे। उन्हें 'पेशावर-काण्ड' में लम्बी कैद मिली थी। सन् '42 में फिर लम्बी सजा मिली। जवानी जेल में ही कट गयी। उन्होंने अंग्रेज सेनाधिकारी का हुक्म न माना था। पेशावर में आंदोलनकारी जनता पर गोली चलाने से इन्कार करने वाले गढ़वालीजी बड़े जीवट के आदमी थे। पं. मोतीलाल नेहरू उन्हें बहुत मानते थे। मरने से पहले पं. मोतीलालजी ने गांधीजी से कहा था, 'गढ़वाली को न भूलना।' लेकिन भूलना तो भूलना, गढ़वालीजी को स्वतंत्र भारत में भी जेल में बन्द किया गया। उनकी तमाम-जमीन जायदाद अंग्रेजों ने जब्त कर ली थी, पेन्शन भी। गढ़वालीजी ने नेहरूजी से बहुत कहा कि, 'मुझे पेन्शन मत दो, एकमुश्त पांच हजार रुपये दे दो, ताकि मैं खेत आदि जुटा सकूं। या फिर मेरी जो जायदाद अंग्रेजों ने जब्त कर ली, वह मुझे वापस दी जाय।' नेहरूजी ने उनसे तब कहा था, 'बड़े भाई! आजादी आने पर कोई मन्त्री हुआ तो कोई मुख्यमन्त्री। किसी ने कोटा-परमिट लेकर कारखाने

खड़े कर लिये तो किसी ने जमींदारी-जायदाद खरीद ली। आपको भी 5 हजार रुपये मिल जायेंगे। इतने रुपये देने से सरकार कंगाल न हो जायेगी। फिलहाल आप जो भी पेन्शन है, ले लो।' पेन्शन थी 60 रुपये मासिक। कुछ न हुआ, गढ़वालीजी के लिये नेहरूजी या कोई भी कुछ न कर पाया। वह पेन्शन ली नहीं उन्होंने। आजाद भारत में गढ़वालीजी सदैव शासन का विरोध ही करते रहे। इसलिए जेल उस देशभक्त को कांग्रेसी राज में आसानी से मिल गयी। जो 4-6 मास की जेल काटकर आये—वें विधायक-सांसद, मन्त्री बनकर शासन करने लगे। क्रांतिकारी दुर्दशा को प्राप्त हुआ। कर्जदारी, फौजदारी, बेकारी, बेरोजगारी में बीती उसकी बाकी जिन्दगी।

क्या सोच रहे हैं ये?

एक नहीं, पचासों जिन्दा मिसालें हैं। लिखें तो ग्रन्थ बन जाय। मैंने तो खुद देखा कि काले पानी की सजा काटे हुए किसी पुराने क्रांतिकारी का मकान कुर्की पर चढ़ने वाला है; नोटिस आया है तो कोई कर्जदार होकर आत्महत्या पर उतारू है। मुश्किल से उसे आत्महत्या से विरत किया जा सका। वह आजाद, भगतसिंह के साथ रहा था। 7 साल की सजा भी काटी थी। पुलिस पर खूब गोलियां चलायी थीं उसने। उसका नाम लिखना ठीक न होगा। यह हश्र हुआ आजादी के बाद क्रांतिकारियों का, देशभक्तों का। उसकी लम्बी शृंखला है। लोग कहते हैं, सुभाष बोस जिन्दा थे तो सामने आये क्यों नहीं? यह कहना आसान है, बरतना कठिन। जीवित सुभाष को न शासन झेल पाता, न समाज। सुभाष ने तो सदा बलिदान का आह्वान किया; स्वतंत्र भारत में भी वे बलिदानों के लिए पुकार लगाते। आज कितने लोग तैयार हैं कुर्बानी देने के लिए?

पटना के डी. एम. को बटुकेश्वर दत्त ने बस के एक परमिट के लिए लोगों के उकसाने पर दरख्वास्त दी, तो डी. एम. ने पूछा—'हम कैसे जानें कि आप ही बी. के. दत्त हैं? प्रमाण चाहिए?' और बटुकेश्वर दत्त ने कहा था उनसे कि—'आप ठीक कहते हैं।' और दरख्वास्त वापस लेकर वहीं फाड़कर फेंक दी थी। बिना कुछ कहे चले आये थे। पराधीन भारत में जब 'असेम्बली बम कांड' के बाद बटुकेश्वर दत्त जेल में बन्द थे, कौन दूकान थी पान की या अन्य सामानों की; जहां भगतसिंह के साथ बटुकेश्वर दत्त का फोटो न लगा हो, शीशे में न मढ़ा हो।

देश बनाम पेट!

वही बटुकेश्वर दत्त जब रिहा होकर स्वतंत्रता के समय समाज के सामने आये तो जमाना भूल चुका था उन्हें--उनके त्याग, बलिदान को। सयानी बेटियों के शादी-ब्याह के लिए, बच्चों की शिक्षा के लिए, रोजी-रोटी के लिए आजाद भारत में भी क्रांतिकारी कितना टूटा है, छीजा है—कितने लोग जानते हैं! उस समय उन्हें कौन-सी सुविधाएं थीं? पेन्शन कितनी थी? प्रश्न केवल अपनी रोजी-रोटी का ही नहीं था उनके सामने,

बड़ा प्रश्न था कि वह भारत कहां उभरा था, साकार हुआ था, जिसके सपने देखकर वे फांसी के फन्दों और अण्डमान की काल-कोठरियों की तरफ खुशी से बढ़ गये थे? 'लाहौर केस' के जयदेव भाई को कांग्रेसी राज्य में भी कैद में रहना पड़ा और पुलिस अफसरों तक ने उन्हें कई मौकों पर अपमानित करने पर गुरेज न किया। कारण? कारण एक ही था कि वे सत्ताधारी दल की हां में हां न मिला सके, उसकी खुशामद-चाटुकारिता न कर सके, वरन जरूरत पड़ी तो समाज के न्याय के लिये श्रमिक वर्ग के लिये उन्होंने धरने दिये—आंदोलन किया, संघर्षों से जूझे—इसके बदले कांग्रेस सरकार ने भी उन्हें जेल में ठेल दिया। उनका संघर्ष बताता है कि स्वतंत्र भारत की जो शासन-व्यवस्था आई, वह उन्हें अभीष्ट नहीं। वह दोषी भ्रष्ट व्यवस्था है और देश को फिर से क्रांति के रास्ते से गुजरना पड़ेगा। जयप्रकाश नारायण को जिन्दा ही 'मृत' घोषित करने वाली कांग्रेस सरकार ही थी।

वर्षों पूर्व एक दिन मैं लखनऊ कैसरबाग-स्थित मेहंदी बिल्डिंग में रह रहे श्री रामकृष्ण खत्री से मिलने गया। खत्रीजी 'काकोरी-केस' के मुकदमे में दस वर्ष की कैद काट चुके हैं। पुराने तपे-तपाये क्रांतिकारी रहे हैं। आपको प्रसिद्ध शहीद क्रांति सेनापति चन्द्रशेखर आजाद ने क्रांतिकारी दल में भर्ती किया था। दल में आने के पहले ये युवावस्था में ही उदासी साधु जीवन अंगीकार कर चुके थे, यह उदासी सम्प्रदाय गुरु नानक के एक पुत्र ने स्थापित किया था। खत्रीजी जिस उदासी गुरु के शिष्य थे—उनका नाम था महन्त यादराम। पंजाब के थे वे। खत्रीजी के साधु-जीवन का तब नाम रखा गया था, 'स्वामी गोविन्दप्रकाश।' उनका यह नाम तथा उनके साधु हो जाने की बात मैं अनेक वर्षों से जानता हूं, उस जमाने को कोई 40 वर्ष से भी अधिक समय बीत चुका है।

खत्रीजी की कई रोज काफी तीमारदारी करके आजाद ने स्नेह-सम्बन्ध बढ़ा लिये। वे इनकी दवा वैद्य के यहां से लाते। हाथ पकड़कर देखते, कितना ज्वर है खत्री जी को! फिर स्वस्थ होने पर इनके राजनीतिक विचारों आदि की ठीक जानकारी की आजाद ने। पश्चात् वार्ता चलने पर अपना रहस्य खोल दिया तो खत्रीजी जान सके कि यह युवक तो क्रांतिकारी है। इस तरह आजाद के माध्यम से ही खत्रीजी दल में आए—वह कथा लम्बी है, यहां मात्र उनके आज के विचार, कि आज देश की जो हालत है, उसके बारे में क्या सोचते हैं? वही प्रसंग लिखना है। खत्रीजी का जन्म मराठी-भाषी क्षेत्र चिखली, जिला बुलडाना (महाराष्ट्र) में हुआ। मराठी के साथ ही बंगाली, हिन्दी और अंग्रेजी का उन्हें अच्छा ज्ञान था। हिन्दी में विप्लवी पुस्तक की भी रचना की है। अनेक लेखादि भी वे हिन्दी में लिखते रहे हैं। सुभाष बोस के बनाये 'फारवर्ड ब्लाक' में भी बोस बाबू के साथ बहुत काम किया।

देश की वर्तमान दुरवस्था पर खत्रीजी का कहना था कि हमारे सपनों का स्वराज्य अभी भी सपना ही बना हुआ है, देश स्वतंत्र होने पर भी वह पूर्णरूपेण कभी साकार

होने न आया। हमारे साथी उस समय यह ध्येय लेकर चले थे कि हम देश स्वतंत्र करके ऐसी व्यवस्था कायम करेंगे कि जिसमें आदमी के द्वारा आदमी का शोषण सम्भव न होगा और देश पूर्ण प्रजातंत्रीय शासन के अन्तर्गत अपने विकास का लक्ष्य प्राप्त करेगा, परन्तु आजादी आए 47 साल हो रहे हैं, देश में मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण अविराम जारी है। देश आजाद जरूर हुआ, लेकिन मैं यह मानता हूं कि यह जो आजादी सामने है—वह 'ट्रांसफर ऑफ पावर' है, क्रांति होकर यह आजादी नहीं आयी। और इस आजादी में भी सर्वाधिक देन सुभाषचन्द्र बोस की रहीं है। उस समय यदि चर्चिल ही इंगलैंड का प्रधानमन्त्री फिर होता तो वह भारत के आजाद होने में अड़ंगे लगाता। जिस समय ब्रिटिश पार्लियामेंट में भारत को आजाद करने का प्रस्ताव आया—चर्चिल ने वोट ही न दिया। बिना वोट दिये ही यह कहकर चला गया वहां से कि 'जिस जगह ब्रिटिश राज्य का खात्मा किया जा रहा है—वहां मैं बैठ नहीं सकता। न मैं यह सब देख-सुन सकता हूं।' भारत की स्वतंत्रता का ऐसा सख्त विरोधी रहा था चर्चिल। एटली दूसरी तरह का आदमी था। चर्चिल टोरियों के दल का था तो एटली मजदूर दल का। यह मतभेद उनके कार्यों में भी रहा। और भारत में वह स्थिति, खासकर सेना में, पैदल पलटनों से लगाकर 'नेवी विद्रोह' तक सुभाष बोस की 'आजाद हिन्द फौज' ने ही निर्माण की थी। वह सुभाष बोस के 'जय हिन्द' नारे का ही चमत्कार था, जो भारतीय सैनिक के दिल में घर कर गया था। यहां तक कि पं॰ जवाहरलाल नेहरू तक ने उस नारे को अपना लिया था।'

गुलामी नहीं गयी

खत्रीजी बार-बार स्वतन्त्रता संग्राम के उन्हीं धुन्ध भरे अध्यायों में खो जाते थे और बात लम्बी हो जाती थी। रात शुरू हो गयी थी और मुझे उस रात ट्रेन से लखनऊ से वापस भी लौटना था। अतः मैं बार-बार उन्हें याद दिलाने की कोशिश करता कि आज के सन्दर्भ में देश की वर्तमान स्थितियों पर क्या चिन्तन, क्या प्रतिक्रिया है आपकी? तो वे उसी विचार-बिन्दु पर लौट आए, कहने लगे—'गुलामी गयी, लेकिन उसकी जगह जो आज हमारा गला दबाकर आ बैठी, यह है ब्यूरोक्रेसी—नौकरशाही। आज तो सत्ता की राजनीति का बोलबाला है; वही सर्वोपरि मान ली गयी है। गम्भीरतापूर्वक कोई कहीं भी समाज में क्रांति के लिये प्रयास नहीं हो रहा। उसके दुष्परिणाम सामने हैं।'

'वचनेश भाई! आप तो उस दौर से गुजरे हैं, आज मैं महसूस कर रहा हूं कि पराधीनता काल से आज के समय में जमीन-आसमान का फर्क है। उन दिनों हम जेल जाते थे, हमारे साथी अण्डमान (काले पानी) जाते थे, लम्बी सजा पाकर—फांसी चढ़ते थे तो उसे कोई कठिन काम न समझते थे। खुदीराम बोस, कन्हाईलाल दत्त, चाफेकर बन्धु और भगतसिंह जैसे लोग हंसते-हंसते फांसी पर चढ़े। एक अजीब जोश था, त्याग-बलिदान की भावना का, जैसे एक ज्वार उमड़ा था उनमें, देश के युवकों में जो

क्रांतिकारी दलों में सक्रिय थे उस समय। लेकिन आज क्या है?

'यह मैं मानता हूं कि जहां इस देश में सुई भी नहीं बनती थी, वहां अन्तरिक्ष अभियान आरम्भ हो चुके हैं। उपग्रह भेज रहे हैं—कारें, बिजली का सामान, रक्षा-सामग्री बन रही हैं। उन्नति हुई है यह; लेकिन देश में राष्ट्रीय चरित्र की बड़ी हानि हुई है। इसमें बड़ी तेजी से गिरावट आयी है और वह रुक नहीं पा रही है, यह चिन्तनीय है, घातक है, देश के लिए संकट का पैगाम है। अतः आज ऐसे समाज में योग्य परिवर्तन लाने का काम बड़ा कठिन है। सरकार जिस तरह काम कर रही है, जो कुछ भी कर रही है, वह अनमने, अधूरे मन से कर रही है। ठीक काम करने का उसका रंग-ढंग दिखता नहीं, इसलिए वह कामयाब भी नहीं हो पा रही है किसी क्षेत्र में।' खत्रीजी कहते जा रहे थे—

'अब देखिए न! आज देश को फिर से खण्डित करने की बात हो रही है। जिस पंजाब की भूमि पर सरदार कर्त्तारसिंह सराबा और सरदार भगतसिंह सरीखे महान शहीद हुए, जो पंजाब उनका कार्य-क्षेत्र रहा; जहां सूफी अम्बाप्रसाद, सरदार अजीतसिंह हुए; आजादी की लड़ाई में पंजाब के देशभक्तों का, वहां के क्रांतिकारियों का कम बलिदान, योगदान नहीं है, खासकर सिखों का, वहां का रक्तपात, हत्याकांड देखकर आज मुझे रोना आता है और तब सोचता हूं कि क्या यही वह पंजाब है? करतार, भगतसिंह का पंजाब? क्या इसी दिन के लिए वे फांसी चढ़े थे? आज हम सोच-समझ नहीं पाते कि क्या करें? इसके विपरीत उस जमाने में भले हम दस वर्ष जेल में रहे, पूना से पकड़कर हमें लाया गया मुकदमे में, लेकिन तब पकड़े जाने पर भी हमारे मन में उत्साह था, एक जोश था, निराशा न थी कहीं। (यह लिखे जाते समय पंजाब जल रहा था)'

'आज क्या हालत है? एक दिन लोग मुझे यहां लखनऊ में जो स्वतंत्रता-सेनानियों के लिए 'सेवा सदन' बनाया है सरकार ने—वहां ले गये। मुझे बोलने को कहा गया, तो मैं देश में आज जिन बातों की, परिवर्तन की जरूरत है—उस पर बोलने लगा कि 'शारदा ऐक्ट' बना, पर वह विफल हो गया, उस कानून की सार्थकता क्या है? परिवार-नियोजन भी एक ढकोसला ही बनकर रह गया है। बस सरकारी खातों में सिर्फ खर्चों के पहाड़ खड़े होते हैं, काम कुछ होता नहीं। सफलता कहां है? ऐसे कब तक चलेगा? तो लोग उससे उकताने लगे। कहने लगे, 'आप संस्मरण सुनाइये।' सुनाने लगा। संस्मरण तो सुनाता ही रहता हूं, लेकिन सवाल है कि देश में बदलाव कैसे आयेगा? कौन लायेगा? जबकि वह बात सुनना भी गवारा नहीं—उसमें कुछ भी रुचि नहीं। देश का दर्द पैदा हुए बिना वह रुचि कभी पैदा होती नहीं।'

'चवन्नी सदस्य' भी नहीं रह गये थे गांधी जी!

बहुत ही क्षुब्ध होकर खत्रीजी कहते थे—

'आज जब देश की स्थिति पर नजर जाती है तो देखता हूं कि सबकी नजर सत्ता

पर लगी है, समाज सुधार पर किसी का कोई ध्यान नहीं। विवेकानन्द, दयानन्द, गांधीजी ने रचनात्मक काम किये, खाली नारे नहीं लगाये। सत्ता नहीं चाही। गांधी जी तो कांग्रेस में चवन्नी सदस्य भी नहीं रह गए थे। कहते थे, 'देश बहुत बड़ा है। तमाम लोग हैं।' किसी काम को मुश्किल नहीं समझते थे। कहते थे, 'अछूतोद्धार का काम करना है, क्या कठिन है?' करते रहे। आजादी के लिए भी लड़ते रहे। परन्तु समाज-सुधार की उपेक्षा नहीं की। उस काम को प्रमुखता दी। आज उधर शासन का ध्यान नहीं। स्वतंत्रता-सेनानियों का आज क्या कोई कर्तव्य नहीं? सरकारी प्रचार कितना ही हो, हमें भी तो कुछ करना चाहिए। छूत-अछूत, बाल-विवाह, सती-प्रथा—यह सब कल्मष फिर बढ़ रहा है।

'ऐसा उस संघर्ष के जमाने में हमने कभी न सोचा था कि देश आजाद होने पर यहां इस तरह का राजनीतिक-सामाजिक ह्रास आयेगा, नैतिक मूल्यों में इतनी गिरावट आयेगी। पहले जब हम जेल जाते थे और कभी कोई साथी निराशा की, गिरावट की, ह्रास की बात करता था, तो उससे हम लड़ बैठते थे कि ऐसा कैसे बोलते हो? पूरे देश की आजादी का सपना संजोकर हम चले थे। आजादी आने के समय 40 करोड़ तो जनसंख्या थी ही। पर देश के टुकड़े हो गये। आज तो उससे दूनी आबादी है। वही शासन से संभल नहीं रही। सब क्षेत्रों में व्यवस्था गड़बड़ है, भ्रष्टता छाई है। सन् दो हजार में जब यह आबादी एक अरब हो जायेगी, तब क्या इतने साधन इस किस्म का शिथिल शासन जुटा पायेगा कि सबको रोटी-कपड़ा-मकान मुहैया हो सके? इस समस्या पर शासन का ध्यान नहीं, ध्यान है सिर्फ सत्ता पर कि सत्ता न चली जाये। पर सत्ता होती किसलिये है? प्रजातन्त्र में सत्ता क्या किसी की बपौती हुआ करती है? मौरूसी जायदाद होती है किसी की?'

सतेज स्वर में खत्रीजी कहते गए, 'देश में एक बहुत बड़ा तबका अपने समाज के आधे सदस्यों को अभी भी कानून बनाकर गुलाम बनाए हुए है। पर्दा-प्रथा, तलाक आदि उस पर थोपे है। उस पूरे तबके में अलगाव की, विघटन की भावना उभारी जा रही है। 40 साल हो गए वह तबका अभी भी देश की मुख्य धारा से दूर अलग-थलग रखा जा रहा है कट्टरपंथियों द्वारा! यह अहम सवाल है।

'सबको, चाहे सत्तापक्ष हो या विपक्ष—कुछ इस दिशा में करना होगा। नौजवानों को उठना चाहिए। नेतागण शहीद-दिवस पर संकल्प लें कि सत्तापक्ष की तरफ भागने के वजाय समाज में सेवा कार्य करेंगे, लड़कों को, नवयुवकों को सत्ता के लालच से दूर रखेंगे, जबकि शासक दल ही आज युवकों को सत्ता का प्रलोभन देता है। दूसरी तरफ 50-50 हजार, 60-60 हजार रुपए देकर लड़कों की मेडिकल कालेज में भर्ती की जाती है। शहीद-दिवस पर संकल्प लें कि कहीं भी रिश्वत के काम नहीं होने देंगे। शिक्षा-संस्थाओं तक में गुण्डों का राज है। नयी पीढ़ी जाग्रत नहीं हो रही। फिर भी मैं निराशावादी नहीं हूं। आशा करता हूं कि नई पीढ़ी से ही कई लोग उठेंगे, आगे आयेंगे।

देश के लिए जूझेंगे, खपेंगे देश के काम में—अवश्य ही यह काम कठिन भले ही है।'

खत्रीजी बोलने लगते थे, जब कोई देश की चर्चा छिड़ जाती थी तो उनकी उस वक्त भावधारा उद्दाम भाव से उमड़ पड़ती थी। आज भी ऐसा ही हुआ। जब मैं पहुंचा था उनके आवास पर तो देखा सो रहे हैं। जगाया नहीं और मैं भी पास के तख्त पर लेट रहा। देर बाद वे जगे, तो कहा, 'अरे! आप कब आए? मुझे जगा दिया होता।' फिर देर तक इतस्ततः बातें ही चलती रहीं। काफी दिनों बाद मिलना हुआ था। जिस काम के लिए गया था, वह देर बाद ही शुरू हो पाया। रात हो गयी। कठिनाई से ही ट्रेन मिली। 'फिर आऊंगा।'—यह वादा कराकर ही भाई खत्रीजी ने जाने दिया। अनेक वर्षों पूर्व उनका बड़ा स्नेह मिलता रहा मुझे—मेरे आवासीय कस्बे वाले मकान पर भी वे आये। (दुःख है कि वे आज नहीं हैं।)

बहुत वर्ष पूर्व एक दिन 'काकोरी-केस' के श्री प्रेमकृष्ण खन्नाजी भी उस कस्बे तक कष्ट करके मेरे यहां आए, अफसोस! मैं लखनऊ में था। अतः एक दिन यहीं 'सेवा सदन' में उनसे भेंट की। उनसे भी देश की वर्तमान स्थिति पर चर्चा की। उन्होंने संक्षेप में अपने ये उद्गार व्यक्त किए—

'वचनेश जी! आप स्वयं देख ही रहे हैं कि देश की क्या हालत बना दी गयी है? नेतागीरी हर जगह है। 18-18, 20-20 साल की उम्र वाले नेताओं की भी बाढ़ है सब तरफ। देखता हूं, एक ड्रेस चल पड़ी है नेतागीरी की, लेकिन वास्तविकता क्या है! देशभक्ति कहीं है नहीं। है हरामखोरी; हरामखोर बढ़ गए हैं। कहा जाता है, बहुत प्रगति हुई है। परन्तु जब हम अन्य देशों को देखते हैं तो समझ में आता है कि हम कितने पानी में हैं। क्या प्रगति कर पाए हैं? जापान को देखा, उसका जो औद्योगिक उत्पादन है, संसार के बड़े-बड़े देशों को चुनौती दिए हुए है। संसार भर के बाजारों में छा गया है जापान, जबकि विगत महायुद्ध में वह काफी क्षति उठा चुका था। संसार में वही एक इतना छोटा देश था कि महायुद्ध के बीच, जिस पर अमेरिका ने दो अणुबम गिराए, लाखों आदमी मार दिए जापान के ताकि वह हथियार डाल दे। वही हुआ भी। किन्तु वह इतनी जल्दी संभला कि उत्पादन के क्षेत्र में उसने एक नया कीर्तिमान कायम कर छोड़ा। हम उसका, जहां तक प्रगति का ताल्लुक है, मुकाबला नहीं कर सकते। उसने जो किया—उसका नाम प्रगति है। हमारे यहां सिर्फ नारेबाजी होती है, हरामखोरी होती है। देश कैसे आगे बढ़े? कैसे प्रगति करे? चीन अपने को समाजवादी देश ही कहता रहा और फिर भी उसने हमारे देश पर हमला कर दिया। क्यों? क्या हम साम्राज्यवादी थे? उसके बाद भी चीन के समाजवाद का दम भरने वाले लोगों की हमारे देश में कमी नहीं, उनकी भी नेतागीरी यहां चलती है। फिर भी पराधीनता काल से तो गनीमत है ही। मैंने ब्रिटिश दासता के दिन देखे, दमन देखा-झेला और उससे जब आज के भारत की तुलना करता हूं तो अच्छा महसूस करता हूं।

'एक आशा उत्पन्न होती है, शायद फिर से नयी पीढ़ी में कुछ ऐसे लोग पैदा हों,

जो 'बिस्मिल' और 'अशफाक' की तरह देश के लिए जीना-मरना सीखें, भारत को भारत बनाने में खपाएं अपनी जिन्दगी। यह जरूरी है। देशभक्ति नहीं पैदा होगी तो देश की आजादी विदेशियों के लिए लूट का माल बन सकती है, यह भूलना नहीं चाहिए। एकता-संगठन, नवशक्ति का जागरण और देश के लिए त्याग-तपस्या के जीवन का अभ्यास भारत के लिए उत्थान और विकास के लिए पहली शर्त है—देश उस दिशा में बढ़े, यही कामना लेकर मैं जिन्दा हूं।' (दुःख है कि खन्ना जी नहीं रहे)

खन्नाजी को 'काकोरी केस' में 5 वर्ष की सजा हुई थी। बकौल खन्नाजी के—उसके बाद भी आंदोलन में उनके अनेक वर्ष जेल में बीते हैं। काकोरी-शहीद के नाम पर उन्होंने एक इण्टर कालेज भी कायम किया, पर उसकी जो स्थिति है, उससे सन्तुष्ट नहीं। आगे उनकी योजना थी, देश के सभी शहीदों के स्मारक रूप में उन सबके भित्तिचित्र उत्कीर्ण कराने की, जहां एक जगह सम्पूर्ण क्रांतिकारी इतिहास, शहीदों के जीवन-चरित्र संकलित किए जाएं। इसी प्रयास में तब उनकी दौड़-धूप जारी थी। उस उम्र में ऐसे भगीरथ प्रयास की भूमिका सचमुच उन्हीं के साहस की बात थी।

मनोद्‌गार भगतसिंह के साथी के—

'कुर्सी के लिए इतना बड़ा भ्रष्टाचार इतिहास में नहीं हुआ'

'लाहौर केस' के जन्म-कैदी (कालापानी) भाई जयदेव कपूर। बहुत दिनों से मैं उनके निकट रहा हूं, जिन दिनों वे काराबद्ध थे ब्रिटिश दासता के दिनों में—उन दिनों भी उनकी माता गंगादेवीजी के पास जाया-बैठा करता था। एक स्वतंत्रता-सेनानी थे चिरंजीलाल अग्रवाल, उनसे अच्छा सम्पर्क था। मैं उनके यहां जाया करता था, वे भी हमारे यहां आये अनेक बार। उन्हीं के घर एक बार जयदेव भाई की माताजी ने गुड़ की रसावर बनाकर खिलाई, लेकिन हमें वह परोसते समय उन्हें अपने इकलौते पुत्र (जयदेव जी) की याद हो आयी। बताती रहीं देर तक कि जेल में जब मुलाकात करने के लिये गयीं तो किस तरह 'सोलहो लड़िका' (भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव आदि) उनके लाये चने 'बन्दरों की भांति छीन-छीनकर हंसते-खेलते खाते रहे थे और उन चनों की तारीफ करते जाते थे।' आज वे जीवित नहीं हैं, पर उनकी कही उन 'सोलहो लड़िका' की कहानी आज भी उतनी ही ताजगी लिये हुए है।

'राष्ट्रधर्म' में एक वार्ता देने के लिये जब उसके सम्पादक भाई वीरेश्वरजी ने कहा तो उसी बहाने एक बार फिर जयदेवजी के यहां जाना हुआ। उनके एक पैर में सूजन थी, लंगड़ाते थे। शायद इसी से मिल भी गये। वर्ना उनके पांवों में चक्र था। यह 50 वर्षों से विदित है मुझे। दीवाली पर उनका जन्म हुआ था, शायद इसीलिये देश में सच्ची दीवाली, आजादी, खुशहाली, समानता का आलोक उतारने के लिए वे जीवन के 18 वर्ष कालेपानी आदि की जेलों में खपाते रहे और आजादी के बाद भी

उन्होंने जेल काटी। एक बार तो हरदोई में हम दोनों एक ही जेल में रहे। सरदार भगतसिंह आदि के साथ ही इन पर मुकदमा चला था, पकड़े गये थे भाई शिव वर्मा के साथ सहारनपुर में—वहां दल की बम बनाने की फैक्टरी चलती थी और जयदेव भाई तथा शिव वर्माजी वहां बम बनाने में व्यस्त रहते थे, जब पकड़े गये, उस वक्त भी कई तैयार बम उस घर में रखे थे। हरदोई-निवासी थे, काशी में इंजीनियरिंग पढ़ रहे थे कि क्रांतिकारी दल में आने से पढ़ना छूट गया और एक दिन इंजीनियर बनने के बजाय पहुंच गये अण्डमान की जेल में। खैर, यह कथा लम्बी है। तीन-चार घण्टे तो इधर-उधर की बातों में ही गुजर गये। पता ही न चला। मिलने पर अक्सर ऐसा ही होता था—यहां तक कि एक बार पहले भी मार्च महीने में गया; परन्तु अन्य बातों में ही सब वक्त बीत जाने से मुख्य वार्ता शुरू ही न हो पाई और शाम घिर आने से लौट आया था स्टेशन पर ट्रेन पकड़ने। अतः दोबारा अप्रैल में गया। तब भी बहुत देर बाद ही संपादक का बताया प्रश्न कर पाया। प्रश्न था—

'जिस आजाद भारत की कल्पना आपने क्रांतिकारी जीवन में की थी, वह क्या साकार हो पायी? जो सपने आपने बम-पिस्तौलों से खेलते वक्त आंखों में संजोये थे, क्या वे देश की आजादी में उतर पाये?' प्रश्न सुनकर कुछ समय तक तो जयदेव भाई मौन-गम्भीर बैठे रहे। डूब गयी उनकी अन्तश्चेतना किसी अतीत धुन्ध में, फिर सजग होकर संभले, तो कहने लगे—

जब सपने चकनाचूर हुए

'सन् 1926 में एक सपना देखा था, एक संकल्प संजोया था और फिर जीवन-यौवन की समस्त साधना उसे अर्पित कर दी थी। माता की ममता, पिता का स्नेह, परिवारी जनों का मोह छोड़कर, सब रिश्ते-नातों को भुलाकर एकलव्य की एकाग्रता को साथ लिये हुए पार्टी का सदस्य बन गया था। सोचता था, हमारा देश कभी आजाद होगा। विदेशी गुलामी से मुक्ति मिलेगी। सबको समान न्याय और विकास के समान अवसर मिलेंगे। विश्वास था कि हमारा हिन्द भी फूले-फलेगा एक दिन जरूर, लेकिन यह भी विश्वास था—'मिलेंगे खाक में पहले न जाने गुलबदन कितने', इन्हीं विचारों, विश्वासों के साथ भारत की क्रांतिकारी पार्टी (एच. एस. आर. ए.) में 1926 में एक दिन शामिल हो गया था।

और इसके बाद जिन्दगी और मौत का जो संघर्ष चला, भले ही दुश्मन हुकूमत ने यतीनदास को भूखों मार डाला, आजाद का शरीर बन्दूक की गोलियों से भून डाला। भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु से जीवन का अधिकार छीन लिया, हरिकिशन को फांसी पर चढ़ा दिया। अगणित बलिदानों के बल पर देश आजाद हुआ। आज लोग पूछते हैं कि 70 वर्ष पहले जो सपने तुमने देखे थे, जो स्वप्न तुमने संजोये थे, वे कहां तक पूरे हुए? जवाब में मेरे दिल से सिर्फ एक सर्द आह निकलती है। कवि की यह दो पंक्तियां

आज कितनी सार्थक हैं—

यह क्या हुआ कि अंधेरे उमड़ पड़े हैं 'कमर'
चिराग हमने जलाये थे रोशनी के लिये?

'आज आंखें फाड़-फाड़कर देखता हूं—चारों ओर फैली हुई गरीबी और अमीरी, और इनके बीच निरन्तर सुरसा जैसी बढ़ती हुई खाई। धर्म, सम्प्रदाय, जातीयता, भाषा और क्षेत्रीयता के नाम पर बढ़ते हुए झगड़े, अलगाववाद और आतंकवाद का तांडव पूरे देश भर में! भगतसिंह का वतन आज हिंसा से जल रहा है। कर्त्तारसिंह के देशवासी उस शहीद के धर्मनिरपेक्ष भाईचारे के अमर उद्घोष को भूलते जा रहे हैं। एक दिन उसने मस्ती भरे स्वरों में गाया था—

मैं हिन्दी ठेठ हिन्दी खून हिन्दी जाति हिन्दी हूं
यही मजहब, यही फिरका, यही है खानदां मेरा।

'और आज तो शहीद अशफाक की आरजू भरी आवाज भी मद्धिम पड़ गई है कि—

कुछ आरजू नहीं है, है आरजू तो यह
रख दे कोई जरा सी, खाके वतन कफन में।

'यह सब कैसे हो गया, क्यों हो गया? आज समय का तक़ाजा है कि हम चिन्तन करें, गहरे पानी पैठकर चिन्तन करें। वे कौन से दुश्मन हैं, कौन-सी दुष्प्रवृत्तियां हैं, जिन्होंने हमें उस हालत में पहुंचा दिया?

संक्षेप में इस अधोगति के निम्न कारण मुझे दिखाई देते हैं।

(1) वह नापाक समझौता जो राष्ट्र के नेताओं ने ब्रिटिश शासकों के साथ 1947 में किया।

'हमने दुश्मन की सब शर्तें स्वीकार की थीं; यथा—हम ब्रिटिश कुनबे (British Commonwealth) के अभिन्न अंग बने रहेंगे।

(2) भारत में लगी हुई ब्रिटिश पूंजी का राष्ट्रीयकरण नहीं करेंगे।

(3) जिन्ना साहब का द्विराष्ट्र सिद्धांत (Two Nation Theory) स्वीकार है, इसके अनुसार दोनों (नेशन्स) को अलग-अलग होमलैंड (Homeland) देने की व्यवस्था स्वीकार्य है। अर्थात् भारत का विभाजन।

जयदेवजी बताते चले जा रहे थे कि एक मिल मजदूर 'बोधी' आता है उनके कमरे में, ठीक उनके पास चला आता है। उसे मिल-अधिकारी कुछ तंग कर रहे हैं—परेशान है वह अपनी समस्या से। आते ही इस तरह जयदेव भाई को बताना शुरू कर देता है, जैसे उनको अपनी आपदा, व्यथा-कथा बता देना उसका अधिकार है और

आये दिन की आदत। जयदेवजी बीच में वार्ता रोककर उसकी बात सुन रहे हैं—बीच-बीच में पूछ-पूछक़र विस्तृत जानकारी करते जाते हैं। अनन्तर पुनः पूर्व सूत्र से अपनी वार्ता जोड़कर कहने लगते हैं—

'हमारे नेताओं ने कुर्सी मांगी थी, सत्ता और शासन के सिंहासन मांगे थे, वह उन्हें मिल गया। लार्ड वेवल के स्थान पर चक्रवर्ती राजगोपालाचारी गद्दी पर बैठ गये। और ताज और तख्त के नशे में हम भूल गये कि भगतसिंह यह कहकर फांसी की रस्सी गले में डालकर झूल गया था कि—

यह मेरी आजादी नहीं,
मेरे देश की आजादी होगी।

'कहते-कहते जयदेव भाई को जैसे सरदार भगतसिंह की याद रोमांचित कर देती है। वे अन्यमनस्क-अवसादग्रस्त हो उठते हैं। मैं देखता हूं, उनकी आंखों में अपरिसीम व्यथा का सागर तैर रहा है। दो क्षण वे कुछ भी नहीं बोल पाते, मौन, निविड़ मौन। बाद में जैसे उन्हें पुनः देश-काल-स्थिति का स्मरण हो आता है तो उदासी भरे स्वर से कह उठते हैं—

'मेरे खयाल में विश्व के इतिहास में कहीं किसी भी देश-काल में कुर्सी के लिये इतने बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार नहीं हुआ, जितना हिन्दुस्तान में। आज इसी भ्रष्टाचार के दुष्परिणाम हम भोग रहे हैं। चुनावोन्मुख राजनीति के यही परिणाम हुआ करते हैं।'

प्रगति के सलीब पर टंगा बोधी

मिल मजदूर 'बोधी' अभी भी पास ही अवाक्-हत चेतन-सा बैठा है, सन्ध्या के घिरते अंधेरे में उसके मुख की तमाम झुर्रियां जैसे और अधिक गहरी हो उठी हैं—उसकी अर्धोन्मीलित आंखों में दुर्निवार चिन्ता अनवरत तैर रही है, 'बोधी'—जो मिल में मजदूरी करते-करते ही साठा पार कर लाया है। होगा 65-66 साल का। मुट्ठी भर हड्डियों का ढांचा रूप कंकाल लिये वह अपनी जीवन-सन्ध्या में भी उन विषम समस्याओं से उबर नहीं पाया है, मुक्त नहीं हो पाया है—जो उस आजादी के पहले अंग्रेजी राज की गुलामी में उसे त्रस्त किये थीं। वह जैसे देश की कथित 'प्रगति' के इतिहास का जीता-जागता सबूत है।

5 बजे 'बोधी' आया था, अब 7 बज रहे हैं। शायद वह अपने साथ जयदेव भाई को कहीं लेकर जायेगा, ताकि उसकी समस्या हल हो सके—इसीलिये वह वहीं बैठा हमारी बातें सुनने-गुनने की असफ़ल प्रचेष्टा शायद करता रहा है, पर बलिया आदि किसी पूर्वी जिले के गांव का जन्मा निरक्षर 'बोधी' कितना क्या समझा होगा हमारी बातें; जानना कठिन नहीं है। बोधी के इस अबाध आगमन में ही जयदेव भाई के जीवन के पिछले 47 वर्षों का इतिहास छिपा था। मिल-मजदूरों से उनकी जिन्दगी

सदैव जुड़ी रही थी, उनके सुख-दुख से उनका अटूट रिश्ता चला आया था। इसी कारण स्वतंत्र भारत के शासन ने भी उन्हें मौके-दर-मौके 6 बार गिरफ्तार किया। कभी जेल, कभी नजरबन्दी का आलम रहा। सजा के साथ ही कांग्रेस हुकूमत उन पर जुर्माना भी ठोकती रही। जुर्म था मजदूरों को न्याय दिलाने की कोशिश करना। हजारों 'बोधी' पिछले 47 वर्षों में उनके करीब इस तरह आकर बैठते-सुनाते रहे—जोर-जुल्म, अन्याय-शोषण की अपनी व्यथा-कथा। और जयदेवजी उन समस्याओं को लेकर दौड़ते-हांफते रहे, अदालतों-मिल के फाटकों से लेकर जेल के सीखचों तक; यह दौड़-भाग निरन्तर जारी रही वर्षानुवर्ष और इसी तपिश में 47 बरसातें आयीं-गयीं जीवन में। दोहरे कत्ल की धारा 121 और बी 120 जिस शख्स पर लगाकर मुकदमा चलाया था ब्रिटिश सरकार ने—उस स्वातन्त्र्य-योद्धा को आजाद भारत के कांग्रेसी शासन ने 6-6 बार दमन-दावानल का शिकार बनाया और भी जिल्लतें झेलीं—जिन्हें मैं जानता हूं—लिख नहीं रहा हूं।

और स्टेशन चल पड़ा। जब भी जयदेव भाई के यहां गया; वार्ता शुरू होने की कभी नौबत ही नहीं आयी। रात हो चुकी थी; सब ट्रेनें गुजर चुकी थीं—अन्तिम शेष थी, इसलिये उठा, चला आया। (अफ़सोस! अब जयदेव भाई चिर विदा ले चुके हैं।)

क्रांतिकारिणी दुर्गा भाभी

जलती दोपहरी में वे उदास-उदास बैठी थीं, चिंतन में डूबी-सी बोलीं—'भगतसिंह ठीक कहता था......।' दीर्घ निःश्वास के साथ ही ये शब्द निकल पड़े थे, मानो स्वगत भाषण कर रही हों। उनका वह दीर्घ निःश्वास मन में एक चुभन पैदा कर गया।

मैंने पूछा, 'भाभी, भगतसिंह क्या कहते थे?' 'जब जेल में मुलाकात के लिए जाती थीं तो कहता था, 'क्या मुंह बना रखा है, यह उदासी किसलिए: इस तरह क्यों न सोचो कि बुढ़ापे में मरेंगे तो यों (सिर हिलाकर) सिर हिलता होगा। अभी जाएंगे तो वाह! क्या ठाठ हैं।'—और भाभी कुछ देर किन्हीं स्मृतियों में खो जाती हैं। फिर कहने लगती हैं—'उन दिनों उसकी (भगतसिंह की) बात सुनकर दिलासा मिलता था। जेल में मिलाई के समय जब खाना देने जाती थी, तब वह इस तरह की बात करता था और शायद सही कहता था—आज भी मैं सोचती हूं कि भैया (आजाद) का जो

हुआ वह अच्छा हुआ। जिन्दा होते तो ज्यादा फ्रस्ट्रेशन होता। आज जैसा जमाना है वे–सोसाइड (आत्महत्या) करके मरते। जो चला गया अच्छा हुआ।'

और मैं चुपचाप सुन लेता हूं और यह विश्वास करने को विवश हो जाता हूं कि भाभी जो भी कुछ आज हैं, जिस स्थिति में हैं–दुःखी हैं। कौन जानेगा उनका दुःख? कौन समझेगा उनके अन्तर में घूर्णायित हाहाकार और फिर देश भर में फैले ज्ञात-अज्ञात पुराने क्रांतिकारियों के उपेक्षित जीवन मानो दिशा-दिशा में सिहरन भर देते हैं। मौन उपालम्भता गंभीर वेदना से ओत-प्रोत कुछ परिचित चेहरे, क्रांतिकारियों के चेहरे भी एकाकी जिन्दगी की व्यथा और थकान दूर कर देते हैं। स्मृतिपटल पर उझक-झांक उठते हैं और तब मैं आत्मग्लानि से सिर झुका लेता हूं। सोचता हूं, अपराधी हूं मैं। अपराधी है शासन, अपराधी है भद्रलोक। भाभी दुःखी हैं। वे दुःखी हैं तो समझता होगा कि भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु, आजाद और भगवती भाई की आत्मा दुःखी है। ऐसा मैं किसलिए कहता हूं? सुनिए–सन् 1930 की 28 मई को जब भाभी के पति श्री भगवतीचरण बोहरा रावी-तट पर बम-परीक्षा करते-करते शहीद हो गये थे–उस दिन शोक-संतप्त भाभी को धैर्य बंधाते हुए दल के नेता, चन्द्रशेखर आजाद ने कहा था–'भाभी, तुमने देश के लिए और हमारे दल के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर दिया है–तुम्हारे प्रति हम सबका जो कर्तव्य है, उसे कभी नहीं भूलेंगे।'

पति के बम विस्फोट में हत हो जाने के बाद भी भाभी क्या कभी एक दिन के लिए भी अपना कर्तव्य भूल सकीं? साक्षी में अतीत के कई पृष्ठ यकायक बोलने लग जाते हैं। भाभी दल की सक्रिय सदस्या थीं, एकमात्र पुत्र शची का भार भी वहन करना ही था और वह भगवती भाई के शहीद हो जाने के वक्त बहुत छोटा था। इस बच्चे को आजाद का प्रभूत प्यार प्राप्त था। वह उन्हें 'मोटे चाचा' कहता था। भगतसिंह को केवल 'चाचा' कहता था।

आजाद अर्थाभाव रहने पर भी सवेरे-सवेरे उसके लिए एक इकन्नी खर्च कर डालते थे। शची के लिए उस इकन्नी की जलेबी मंगा दी जाती थीं। उन दिनों इकन्नी की कीमत कम न थी। जब पैसे की तंगी न रहती, तब भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव, शिव वर्मा, जयदेव कपूर–सभी साथियों को भी एक-एक इकन्नी सुबह नाश्ते के लिए मिल जाती थी और भाई लोग बड़ी उमंग से कभी उस एक आने में कचौड़ी खाते, तो कोई चाय बनाता। पैसे न होने पर नाश्ते का नियम लुप्त रहता। दोनों समय भोजन के लिए चार आने पैसे ही हर एक को मिल पाते। उसी में चावल-दाल खाकर काम चला लिया जाता। यह एक सत्य उद्‌घाटित हो चुका है। दिल्ली और ग्वालियर सरीखी जगहों पर इन्हीं क्रांतिकारियों को उधार खाते से काम चलाना पड़ता था।

सो, भाभी के बालक शची को आजाद रात में अपने साथ लिटाते। कभी-कभी उसकी चिन्ता में उन्हें रात भर नींद न आती, बच्चे को छाती से लिपटाकर आजाद मर्म-वेदना से कहते–'बेटे, तू हमारे सबके लिए अमूल्य निधि है। क्या करें तेरे लिए?' जैसाकि

नियम था दल के नेता (आजाद) के समक्ष सभी सदस्य जब अपनी-अपनी पिस्तौल जमा कर देते और उनकी सफाई आदि का काम शुरू होता, आजाद शची के सामने पिस्तौलों को एक पंक्ति में सजा देते और कहते—'बेटे, कौन तुझे पसंद है, उठाना तो'.....।' आजाद अपनी पिस्तौल भी उसे खेलने के लिए दे दिया करते।

किन्तु आजाद को प्राणों से प्यारा-दुलारा यह शची कभी भाभी के लिए मोह का कारण नहीं बन सका। अपने और बेटे के जीवन को तो वह देश को ही समर्पित कर बैठी थीं। एक घटना है, भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त को छुड़ाने के लिए जो बम बहावलपुर कोठी में रखे थे, वे फट गए थे, अतः आजाद के सामने पैसों का सवाल समस्या के रूप में आ खड़ा हुआ था। भाभी को आजाद की चिन्ता कैसे सहन हो सकती थी! तुरन्त संदूक खोला, सब जेवर निकाले और कपड़े में बांधकर समक्ष ला रखे। बोलीं—'भैया अभी मैं तो हूं, आप फिक्र न कीजिए।' और आजाद भाभी को मौन निहार रहे थे। फिर बोले थे, 'भाभी, इन्हें अपने पास ही रहने दो। समझ लो कि यह दल की अमानत है, जरूरत पड़ेगी और कोई रास्ता नहीं बचेगा तो इन्हें भी होम कर दूंगा।'

भाभी पर लिखने बैठा हूं तो उनका बेटा शची बार-बार याद आता है।

एक दूसरी घटना है जो विप्लवी इतिहास में कभी भुलाई नहीं जा सकती। भाभी के श्वसुरजी (भगवतीचरण के पिता) नहीं रहे थे। घर में बंटवारा हो गया। अतः भाभी और भगवती भाई को और आजादी मिल गई। हर समय घर साथियों से भरा रहता। सक्रियता बढ़ गई। खद्दर की धोती पहने भाभी भी अब भाग-दौड़ करने लगीं। उन दिनों खद्दर वाली धोतियों की किनारी नहीं होती थी। भाभी बीच में पट्टी जोड़कर वह धोतियां जाड़े-गर्मी में पहना करती थीं। विदेशी वस्त्रों की होली जल चुकी थी। भगवती भाई कांग्रेस में सक्रिय ही थे। उनके साथ भगतसिंह, धन्वन्तरि और यशपाल, सुखदेव भी थे। भाभी ने यशपाल के साथ ही 'प्रवेशिका' परीक्षा दी थी। सन् 21 का कांग्रेस-आंदोलन, विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की धूम थी। घर का वातावरण 'स्वदेशी' आन्दोलन से प्रपूर्ण था। किन्तु भाभी अभी अपने पुराने संस्कारों से छुटकारा नहीं पा सकी थीं। एक बार जब उन्हें स्वदेशी आंदोलन के संबंध में देहरादून जाना पड़ा, चंदे के लिए राजा भोज का ड्रामा खेला गया था। भाभी जब सबके साथ दाल-भात खाने बैठीं तो कौर गले से नहीं उतर पा रहे थे। सहभोज की आदत जो नहीं थी। भाभी को याद है कि यशपाल राजा भोज बने थे, बलदेव ने रुक्मिणी का अभिनय किया था—ब्लाउज पहना था। लाडोरानी जुत्सी का ही वह ब्लाउज था। अचानक वह फट गया। लाडो आगे ही बैठी ड्रामा देख रही थी। बिना कुछ भी सोचे बोल उठीं, 'हाय, मेरा ब्लाउज...!' लोग हंसने लगे।

उन दिनों लाहौर में लाला लाजपतराय का 'नेशनल कॉलेज' विख्यात था। भगवती भाई इसी कॉलेज में आ गए। यहीं एक टोली बनी जिसमें भगतसिंह, सुखदेव, धन्वन्तरि और यशपाल शामिल हुए। और भी कई लोग थे। सन् 1923 में सब लोग क्रांतिकारी दल में आ गए। भाभी इन दिनों लाहौर के महिला विद्यालय में हिन्दी विभाग की प्रमुख

भी थीं। नौकरी का उद्देश्य था पुलिस के संदेह से बचे रहना। पुलिस भगवती भाई (भाभी के पति) पर क्रांतिकारी होने का शक करती थी, इसलिए भाभी के लिए नौकरी करना जरूरी हो गया था। बाकी समय में वे दल के लिए धन एकत्र करती थीं। 'रिवोल्यूशनरी' (क्रांतिकारी) नाम के प्रसिद्ध पर्चे बांटतीं। दूसरे पर्चे भी रातो-रात पेड़ों पर चिपका आतीं। सन् 1927 में भगवती भाई फरार हो गए। 'मेरठ-षड्यंत्र' में उनकी गिरफ्तारी के दो वारंट आए। घर की तलाशी हुई। पुलिस की निगरानी भी सख्त हो गई। भाभी स्कूल कम जाने लगीं। स्कूल के मैनेजर थे हंसराज। धन्वन्तरि उनके सहयोगी और मित्र भी थे। स्कूल की एक अपनी बस थी। उसके ड्राइवर को पुलिस ने रिश्वत देकर अपना भेदिया बना लिया। वह भाभी की गतिविधियों पर निगरानी रखने लगा। छद्मवेश में दो आदमी और भी उसके साथ रहने लगे। ये भी पुलिस के आदमी थे। एक खुफिया पुलिस का आदमी भाभी के मकान में किरायेदार बनकर भी रहने लगा था।

सौंडर्स-वध के दिन भाभी विद्यालय में ही थीं। शाम के 4 बजे होंगे—भाभी को सौंडर्स के मारे जाने की खबर मिली। 'ऐक्शन' का निश्चित समय भी यही था। भाभी स्कूल से चलीं। आग्रहपूर्वक उसी सड़क से निकलीं, जहां सैंडर्स की लाश पड़ी थी। भीड़ बहुत ज्यादा थी। तमाम पुलिस ही पुलिस। उसका घेरा पड़ा था। अतः ऊपर से गाड़ी निकालकर ले जाई गई। भाभी पर निगरानी अब और सख्त हो गई। गाड़ी चलते समय पुलिस वाले रोशनदान में झांककर चौकसी रखते।

क्रांतिकारी साथियों का आना-जाना घर में रहता ही था, अतः भाभी ने संस्कृत सीखने के लिए एक अध्यापक लगा लिया, ताकि पुलिस के शक से बचा जा सके।

18 की उसी रात को 9 बजे होंगे, भाभी संस्कृत पढ़ रही थीं। सुखदेव आए। और भी कुछ लोग बैठे थे। सुखदेव का बर्ताव भाभी को रोज जैसा सामान्य नहीं लगा। कहने लगे—'क्या पढ़ती हो यह सब?'

'संस्कृत पढ़ रही हूं'—भाभी ने कहा।

'यह संस्कृत वगैरा छोड़ो। यह बताओ कि क्या किसी को लेकर बाहर जा सकोगी?' सुखदेव ने उसी असामान्य मनःस्थिति में पूछा था। भाभी बोलीं, 'छुट्टियां होने में अभी तीन-चार दिन बाकी हैं।'

'ले सकोगी छुट्टी?' सुखदेव एक-पर-एक प्रश्न करता गया था और भाभी ने उसी रात छुट्टी का प्रार्थना-पत्र लिखा, धन्वन्तरि को दे दिया। शची वहीं था, उसकी उम्र 3 साल की थी। उन्हें नहीं बताया गया कि किसको लेकर जाना है। कहां जाना है। भाभी ने एक बार भी नहीं पूछा। पूछने का नियम ही नहीं था, बस सुखदेव को तो वे एकदम तत्पर ही मिलीं—मानो दल के आदेश की प्रतीक्षा करती बैठी हों। भाभी की तत्परता देखकर सुखदेव बोले—'भाभी, सोच लो कि अगर रास्ते में कुछ हो गया तो सबके-सब (यानी शची भी) खत्म हो जाओगे।'

उत्तर में भाभी ने केवल तीन ही अक्षर कहे थे– 'ठीक है।' देश के प्रति समर्पित जीवन जोखिम की बेला में क्या कुछ कर नहीं बैठता।

जब शास्त्रीजी के सामने दो रिवॉल्वर रख दिये गये

उन दिनों श्री लालबहादुर शास्त्री उत्तर प्रदेश के गृहमंत्री थे। एक रोज लम्बी दाढ़ी वाले एक सज्जन उनसे भेंट करने पहुंचे। पर्ची-पर्चा (स्लिप) लिखने का झंझट उन्होंने गवारा नहीं किया—न मंत्रीजी के किसी सचिव आदि से उन्होंने मिलने की जरूरत समझी, बस, सीधे शास्त्रीजी के ही पास जाकर रुके। शास्त्रीजी ने चौंककर एक बार उनकी तरफ गौर से देखा तो ससंभ्रम कह उठे, 'आइये पंडितजी, कब आना हुआ?'

आगन्तुक सज्जन बोले, 'बस, चला ही आ रहा हूं'। और इतना कहने के साथ ही उन्होंने अपने लम्बे ओवरकोट की दोनों जेबों से दाएं-बाएं से एक-एक रिवॉल्वर निकाला और शास्त्रीजी की मेज पर ठीक उनके सामने रख दिये।' बोले कुछ नहीं।

शास्त्रीजी ने कहा, 'अरे! ये रिवॉल्वर कैसे? इनको आप रख लीजिए न!

आगन्तुक महानुभाव ने वे रिवॉल्वर उठाये नहीं; वैसे ही रहने दिये। कहा, 'इनका

मेरे पास लाइसेन्स नहीं। आप लाइसेन्स देने के आदेश कर दें, तो मैं इन्हें रखूं अन्यथा ये आपके ही पास छोड़े जाता हूं।'

शास्त्रीजी असमंजस में पड़ गये। जल्दी कुछ कह न पाये। कुछ सोचकर धीरे से बोले, 'लेकिन अब तो देश स्वतंत्र हो गया—अब आपको इनकी जरूरत भी क्या है ! फिर दो लाइसेन्स देने में भी झंझट होगी।'

'इसी से तो कहता हूं कि अब इन्हें आपके ही पास छोड़े जाता हूं, मुझे क्या पता था कि भारत जब आजाद होगा तो यहां ऐसा शासन आयेगा कि हम पिस्तौल-बन्दूक भी बिना लाइसेन्स नहीं रख सकेंगे। यहां अभी भी अंग्रेजों के शासन की नकल हो रही है लेकिन स्वयं उनके देश (इंग्लैंड) में क्या स्थिति है, इसको कोई नहीं देखता।' आगन्तुक के लहजे में कुछ क्षोभ और असन्तोष स्पष्ट मूर्त्त हो उठा था।

'क्यों? क्या आप चाहते हैं, यहां शस्त्रों पर रोक न रहे?' शास्त्रीजी ने उनकी आलोचना सुनकर पूछ लिया था।

'बिल्कुल। रोक (लाइसेन्स) की जरूरत क्यों? मैं विदेशों में घूमा हूं—रहा हूं। सब जगह देखा है, बन्दूक-पिस्तौलें जो भी चाहे बाजार से खरीद सकता है—रख सकता है। जैसे अन्य चीजें बाजार में बेची-खरीदी जाती हैं, वैसे ही ये शस्त्र भी वहां बिकते हैं। लाइसेन्स वगैरह का कोई झंझट नहीं। खुद इंग्लैंड की ही बात लीजिए; क्रांतिकारियों को जब कर्जन वाइली को गोली मारने की जरूरत पड़ी तो सावरकर के शिष्य मदनलाल धींगरा ने पूछा—'रिवॉल्वर चाहिए।' सावरकर ने तुरन्त गौरीशंकर को बाजार भेजा, बहुत सस्ते में शायद 14 रुपये में एक पिस्तौल वे खरीद लाये थे। लेकिन यहां तो अंग्रेजों की उस शासन-प्रणाली की नकल बदस्तूर जारी है, जिसे हम गुलामी और दमन का पर्याय मानते थे। अंग्रेजों ने शस्त्रों पर लाइसेन्स इसलिए थोप रखे थे कि भारतीय कभी भी शक्ति अर्जित न कर सकें—पलायनवादी और पराश्रित बने रहें। लेकिन अब भी वही स्थिति यहां क्यों? हम तो समझते थे और यही सपने संजोये थे अपने दिलों में कि जब देश आजाद होगा तो यहां इंग्लैंड-अमेरिका की तरह हर किसी को पिस्तौल-बन्दूक रखने की खुली छूट होगी और जरूरत की अन्य चीजों की तरह ये हथियार भी यहां के बाजारों में सुलभ होंगे, मगर यहां तो अंग्रेजों का अभी भी वहीं ढांचा बरकरार है।' उन महाशय की यह आलोचना शास्त्रीजी ने बड़ी शान्ति से सुन ली, कुछ भी टीका-टिप्पणी नहीं की, न बुरा माना। अलबत्ता कहा, 'फिलहाल तो आप इन्हें अपने पास रखें, एकाध लाइसेन्स के लिए देखेंगे।'

'तो ठीक है, मैं इन्हें वापस लिये जाता हूं और बिना लाइसेन्स ही रखूंगा इन्हें! पुलिस और दफ्तरों में लाइसेन्स के लिए दौड़ लगाना मेरे वश का नहीं। वहां मुझसे झगड़ा हो जायेगा। हां, यदि बिना लाइसेंस इन्हें रखने पर कोई झंझट खड़ा हुआ तो आप जानें। मैं उसका जवाबदेह न होऊंगा।' और दोनों रिवॉल्वर सामने से उठाकर उन्होंने फिर कोट की जेबों में रख लिए और वहां से उठकर चले आये। शास्त्रीजी मौन

होकर केवल मुस्करा भर दिये। 'गदर पार्टी' के उस पुराने क्रांतिकारी को अवधूत जैसी फक्कड़ता और मस्ती से चले जाते देखते रहे, शायद अंतर्मुख हो कुछ सोचते भी रहे लेकिन अंतस्थ भावों को उस समय वाणी न दी। आखिर गृहमन्त्री थे, सरकार में थे—उन क्रांतिकारी बुजुर्ग के विचारों का विरोध वे कर नहीं सके, समर्थन भी करते नहीं बना। बने रहे केवल मौन श्रोता।

वे क्रांतिकारी थे झांसी वाले पं. परमानन्द। पूरे 31 साल अण्डमान आदि की जेलों में सड़ते रहे थे। कालेपानी के कुख्यात आयरिश जेलर बारी और अंग्रेज अफसर मि. मरे को उस सागर पार दूरस्थ जेल में भूमि पर पटककर पीटा था और सजा पाई थी 30 बेंतों की। वीर सावरकर ने अपनी पुस्तक 'मांझी जन्मठेप' के 4 पृष्ठों में उनके साहस, शौर्य और संघर्षमय जीवन की प्रशंसा की है।

लेकिन वही परमानन्दजी जब भी शास्त्रीजी की कोई चर्चा चलती थी तो लगते थे उनकी तारीफ करने और फिर उक्त घटना की तुलना करते थे मध्य प्रदेश के एक कांग्रेसी मन्त्री से, जिसने बिना लाइसेन्स रिवॉल्वर को बांधने वाले सत्तावनी क्रांति के एक वयोवृद्ध क्रांतिकारी को जेल में बन्द करा दिया था, शायद उन क्रांति-सेनानी का नाम विजयबहादुरसिंह था जो 1857 की क्रांति में क्रांतिकारी सेना के ब्रिगेडियर रहे थे, लड़े थे अंग्रेजों से। उनका कहना था कि 'शस्त्र हम त्यागेंगे नहीं, क्योंकि नाना साहब पेशवा से हमने इन्हें धारण करने की शपथ ली थी।' एक चुनाव में इन पर वहां उस मंत्री ने कत्ल का मुकदमा चलाया ज़बकि जिस रामसिंह का कत्ल हुआ, उसकी पत्नी ने अदालत में बयान दिया कि 'स्वामीजी ने मेरे पति को नहीं मारा।' तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. नेहरू से जब मध्य प्रदेश की इस घटना की शिकायत की गई तो उन्होंने कहा था, 'मैंने सुना है उन पुराने स्वतंत्रता-सेनानी (संन्यासी) की बाबत। किसी वक्त उन्होंने काफी बहादुरी और कुर्बानी की जिन्दगी बिताई, लेकिन अब सुना है कि साधु हो कर वे पागल हो गये हैं।' तो परमानन्दजी शिकायतन कहते थे, 'पुराने क्रांतिकारी संन्यासी इस तरह इस देश में 'पागल' करार देकर जेलों में सड़ाये जाते हैं—माना कि उन्हें आग्नेय शस्त्र बांधने की आदत लगी हुई थी, कसम ली थी या कि शौक था और वे उस पर लगी सरकारी रोक (लाइसेन्स प्रथा) नहीं मानते थे, तो उन्हें उसका लाइसेन्स भी तो दिया जा सकता था।' वास्तविकता यह थी कि वे ब्रिगेडियर क्रांतिकारी संन्यासी होकर भी कांग्रेस-विरोधी थे, चुनाव में खिलाफत की थी, इसी से उन्हें सताया गया।

और मैं पं. परमानन्द को तब छेड़ देता था, कहता था, 'पंडितजी! आप दो-दो क्या करेंगे, एक मुझे दे दीजिए न।'

वे भी हंस देते थे। कहते थे, 'मेरे पास तो अब एक भी नहीं, आपके पास फिर भी है।'

आज पं. परमानन्द नहीं हैं, हैं उनकी केवल यादें—उनकी बातें याद आती हैं। दिल्ली में वे गुजर गये लेकिन दशहरा आया और इस पर्व से जुड़ी पुरानी रस्में।

शस्त्र-पूजन का प्रसंग आया तो शास्त्रीजी और परमानन्दजी से सम्बन्धित उक्त बातें स्मृति-पटल पर उभर आईं—याद आया कि उनके जैसे पुराने तपे-तपाये देशभक्तों को आजाद भारत के शासन से सदैव यह शिकायत रही कि जहां अमरीकी बच्चे बड़े गर्व से कहा करते हैं कि 'हम तो अपने घर के पीछे राकेट छोड़ते हैं'—वहां इस देश में अभी भी पिस्तौल-बन्दूक रखना, खरीदना, बेचना सब कुछ अंग्रेजी गुलामी के कायदे-कानून के शिकंजे में जकड़ा हुआ है। अलबत्ता जब जनसंघ था, तो एक बार उसने अपने घोषणा-पत्र में यह बात भी उजागर की थी कि 'हमारी सरकार आने पर बन्दूक-पिस्तौलों से लाइसेन्स हटा लिया जायेगा।' वह जनसंघ भी अब रहा नहीं और न उसके लिखने वाले पं॰ दीनदयाल उपाध्याय और उनकी यह घोषणा भी लोग भूल चुके हैं।

जब वैशाखी के दिन दो हजार शहीद हुए

'जलियांवाला बाग' की संस्मृति

'जलियांवाला बाग-हत्याकांड' क्यों हुआ? इस सन्दर्भ में विचार करने पर पता चलता है कि ब्रिटिश सरकार को इस देश में वह जागरण सहन नहीं था, जो सन् 1919 में पंजाब से बंगाल तक अंगड़ाई ले रहा था। इसके 5 साल पूर्व जब विश्वयुद्ध शुरू हुआ तो उसमें भारतीय जनता के 5 लाख बेटे अंग्रेजों के पक्ष में लड़ने के लिए यूरोप पहुंचे थे और युद्ध के चन्दे के तौर पर अरबों रुपये की मदद भी जनता से प्राप्त की गई थी। उस समय ब्रिटिश सरकार ने वादा किया था कि लड़ाई खत्म होने पर भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य बख्श दिया जायेगा तथा वे सब काले कानून उठा लिए जायेंगे, जिनसे भारतीय देशभक्तों का दमन हो रहा था एवं स्वराज्य की मांग उठाने वाले नेताओं

को नजरबंदी व देश-निकाला दिया जा रहा था, लेकिन जब विश्वयुद्ध खत्म हुआ तो अंग्रेज सरकार ने भारत को दिया क्या, 'रौलट ऐक्ट' की रूपरेखा (रिपोर्ट)। इस ऐक्ट की वस्तुतः किसी ने कल्पना भी नहीं की थी; यद्यपि यह अभी पारित नहीं हुआ था लेकिन यह ऐसा कानून था जिसके अनुसार पुलिस कोई भी झूठा आरोप गढ़कर जब चाहे किसी भी भारतीय को पकड़कर जेल में डाल सकती थी, वह न अपना वकील कर सकता था, न उसे सेशन या हाईकोर्ट के द्वार खटखटाने का हक था—न सरकारी अंधेरगर्दी के खिलाफ कहीं वह अपील कर सकता था। न अपील, न वकील, न दलील। मात्र मौरूसी कार्रवाई (समरी ट्रायल) करके सरकार किसी भी व्यक्ति को हथकड़ी लगाकर जेल में ठूंस सकती थी। वारण्ट वगैरा की कोई जरूरत नहीं। गांधीजी ने इस फौजी कानून की खिलाफत करने का आह्वान किया। लोकमान्य तिलक, डॉ. एनी बेसेंट, लाला लाजपतराय प्रभृति नेता नवजागरण के अग्रदूत थे तो देश के विप्लवी दल भी खूब सक्रिय थे। डॉ. किचलू और डॉ. सत्यपाल इस प्रयास में थे कि सन् 1919 का कांग्रेस अधिवेशन अमृतसर में ही हो।

2000 शहीद

रौलट ऐक्ट के विरुद्ध देश-भर में 30 मार्च को हड़ताल करने का निश्चय हुआ, लेकिन बाद में जाने क्यों बजाय 30 मार्च के 6 अप्रैल का दिन तय किया गया—दिल्ली में फिर भी 30 मार्च को ही एक विशाल जुलूस निकाला गया। आगे-आगे चल रहे थे प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता स्वामी श्रद्धानन्द। अंग्रेजों ने कहा, 'श्रद्धानन्द नहीं माने तो उन्हें गोली मार दी जायेगी।' श्रद्धानन्द ने छाती के बटन खोल दिये कि 'मार दें गोली।' अंग्रेज खिसिया गये और बौखला भी गए। फिर भी शाम को परेड का मैदान लाखों आदमियों से भरा था। सार्वजनिक सभा खूब सफल रही।

जुलूस पर गोली-वर्षा

अमृतसर में 6 अप्रैल को सभा हुई—35 हजार जनता आई। उन दिनों पंजाब का लेफ्टिनेन्ट गवर्नर था सर माइकेल ओ'डायर; उसने दमनकारी रवैया अपनाया। यों भी विश्वयुद्ध के दरम्यान इस गवर्नर ने जनता से जबर्दस्ती चन्दा वसूल कराया था और फौज के लिए जबरिया भर्ती का अभियान चलाने में बदनाम हुआ था। किसी तरह 9 अप्रैल को रामनवमी की तिथि गुजरी ही थी कि रात को ओ'डायर ने डॉ. किचलू और डॉ. सत्यपाल को गिरफ्तार करा लिया—उन्हें कहां रखा, यह भी किसी को पता न चल सका, जिससे जनता में भयंकर असंतोष उफन पड़ा। एक विशाल जुलूस अमृतसर के अंग्रेज जिला कलेक्टर के बंगले की तरफ बढ़ा—मांग थी, 'दोनों नेता रिहा किये जाएं।' रास्ते में सेना ने जुलूस पर फायरिंग की जिससे कई लोग शहीद हो गए और अनेक घायल हुए। जुलूस लाशें आगे करके बढ़ता गया। पुनः सेना ने गोली-वर्षा की

और जुलूस के 25 लोग गिर गए। यह आग में घी पड़ना था। नगर में आग फैल गई। गोरों पर हमले होने लगे। बैंक, डाकखाने, रेलवे स्टेशन तथा अंग्रेजों की इमारतों पर छापे शुरू हो गए—आगजनी और लूट का बाजार गर्म हो गया। यद्यपि लूट में सरकारी गुंडे और पुलिस शामिल थी ताकि आंदोलन बदनाम हो जाए। इस दिन अमृतसर में 5 गोरे मार दिए गए। कसूर, गुजरानवाला, अहमदाबाद, बम्बई और कलकत्ता आदि नगरों में भी जन-रोष उमड़ा और रक्तपात हुआ।

गांधीजी बम्बई में थे, डॉ. सत्यपाल ने उन्हें अमृतसर आने का आमंत्रण भेजा था। गांधीजी रवाना हुए लेकिन 8 अप्रैल को दिल्ली के निकटस्थ पलवल स्टेशन पर रोक लिए गए और पुलिस ने उन्हें बलात् बम्बई रवाना कर दिया। यह बात भी असंतोष बढ़ाने में कारगर हुई।

यों तो अमृतसर में फौजी कानून 11 अप्रैल से ही घोषित था, लेकिन जब 13 अप्रैल आई, इस दिन वैशाखी का पर्व था—तो अंग्रेज सेनाधिकारी जनरल डायर ने भोर होते ही मुनादी करवा दी कि शहर में कोई भी जुलूस या मीटिंग करना गैर-कानूनी काम होगा। अजीब बात यह है कि शहर में यह मुनादी टीन का पीपा पीटकर की गई थी और वह भी कहीं-कहीं ही। इसका राज यह था कि जनरल डायर चाहता था कि किसी एक जगह तमाम जनता मिल जाये और उसकी मशीनगनें जी भरकर शिकार खेल लें। यही किया गया। 'लाहौर-षड्यंत्र केस' के क्रांतिकारियों के एक मुकदमे में हंसराज 'वायरलेस' नाम का एक आदमी सरकारी गवाह हो गया था, बाद में अमेरिका में ऐश की जिन्दगी बिताता रहा—13 अप्रैल को भी अंग्रेजों ने इसी नाम के एक आदमी को अपना एजेण्ट बनाकर शहर में एलान करा दिया कि जलियांवाला बाग में एक सभा है जिसमें लाला लाजपतराय वक्तृता देंगे। इस एलान के साथ लाला कन्हैयालाल का नाम छल करके जोड़ा गया क्योंकि वे शहर के एक प्रतिष्ठित आदमी थे तथा राष्ट्रीय विचारधारा के थे। बाद में इन्होंने कहा भी कि एलान मैंने कतई नहीं कराया था। खैर, वैशाखी के दिन अमृतसर में यों भी भारी भीड़ उमड़ती है। हजारों लोग गांव-देहात से आकर पर्व में शामिल होते हैं। उस दिन भी यही हुआ, लेकिन सभा की खबर सुनकर वे गांव के लोग भी भारी संख्या में जलियांवाला बाग में इकट्ठे हो गये। 20 हजार की भीड़ जमा थी। इनमें स्त्रियां, बच्चे और बूढ़े भी थे।

जलियांवाला बाग सिर्फ नाम का ही बाग प्रचारित था—पेड़ उसमें इने-गिने तीन ही थे। एक कुआं था और एक कब्र। बीच में विस्तृत खुला मैदान। चारों ओर दीवारों से घिरा—आने-जाने के लिए एक संकरी गली, जिसमें कार या तांगा भी नहीं समा सकता। सभा शुरू ही हुई थी और उस वक्त भाषण भी अंग्रेजों का उक्त एजेण्ट (हंसराज) ही दे रहा था कि जनरल डायर अपने साथ गोरों और देसी फौजियों के दस्ते लेकर आ गया। उसके साथ दो मशीनगनें भी थीं। संध्या के 5 बज रहे थे कि ऐन दरवाजे पर ही मशीनगनें जमाकर जनरल डायर ने सभा पर गोली-वर्षा जारी कर दी।

स्त्रियां, बच्चे और जवान पटापट गिरने लगे। मरने वालों व घायलों का कोई शुमार न रहा। हिन्दू गणना के अनुसार नव संवत्सर के प्रथम दिन अमृतसर खून से नहा गया। नए साल का उपहार गोरों ने इस तरह प्रस्तुत किया। मशीनगनें 10 मिनट तक अविराम चलती रहीं। तब तक चलीं जब तक गोलियां खत्म न हो गईं। 1650 गोलियां बरसीं। 2 हजार से भी ज्यादा लोग शहीद हुए, उनमें 13 वर्षीय मदनमोहन भी था और एक ऐसी लड़की की लाश भी थी जो कि छत पर भाई के साथ खड़ी थी। 3600 लोग घायल हुए।

इसके बाद भी दमन-चक्र के दरांते चालू रहे। जनरल डायर ने पूरा शहर दमन की भट्ठी में झोंक दिया। लोगों को रेंग-रेंगकर चलाया गया। जिस-तिसको टिकटियों से बांधकर कोड़े लगाए गये। शहर की बिजली काट दी गई। नलों में पानी रोक दिया गया। लाला हरकिशनलाल को काले पानी भेज दिया गया और उनके 40 लाख रुपये सरकार ने जब्त कर लिए। वकीलों से बोझा ढोवाया गया—उनसे संतरियों की बेगार ली गई। मार्शल लॉ लगा था—जलियांवाला बाग से लाशें भी कैसे ले जाई जातीं! फिर भी एक युवक ने एक स्त्री के पति की लाश खोजने में मदद की और वह लाश ढूंढ़ ही रहा था कि एक गोरे ने उस पर गोली चला दी। गोलियां युवक की दाईं भुजा छेद गईं। उसे लाश मिल गई। युवक का नाम था ऊधमसिंह और वह स्त्री थी रतन देवी। ऊधमसिंह ने उसी रात जलियांवाला बाग में लाशों के बीच खड़े-खड़े प्रण किया कि वह डायर से बदला चुका कर रहेगा और उसने लन्दन में जाकर डायर को मार गिराया।

जलियांवाला बाग-हत्याकांड ने देश को झकझोर दिया। उसने सन् 1920 के सत्याग्रह को जन्म दिया। विप्लव की ज्वालाएं और प्रचण्ड हो गईं। इससे भगतसिंह जन्मे, सूर्यसेन, प्रीतिलता और कितने ही शहीद जन्मे। जलियां वाला बाग की मिट्टी रक्त से इस कदर लाल हो गई थी कि वर्षों बाद खोदने पर भी लाल रंग की ही निकलती थी, किशोरावस्था में सरदार भगतसिंह ने उसकी कुछ मिट्टी एक बोतल में सहेजकर घर में रख छोड़ी थी—उससे प्रेरणा मिलती थी उन्हें। अंग्रेज 1600 गोलियां दागकर के भी वह भावना मिटा नहीं सका, जिसे लाल-बाल-पाल, गांधीजी और खुदीराम, कन्हाईलाल सरीखे सपूत राष्ट्रीयता का आधार बनाकर चल पड़े थे। फलक ने ठीक कहा है—

> **"जालिम फलक ने लाख, मिटाने की फिक्र की।**
> **पर दिल में अक्स रह गया, तस्वीर रह गई ॥"**

क्रांतिवीर विनायकराव कापले!

रौलट कमेटी की रिपोर्ट में लिखा गया कि 'विनायकराव कापले को फैजाबाद में मार दिया गया', परन्तु यह रिपोर्ट एकदम गलत है। कापले को गोली मारी गई थी, खास लखनऊ की एक गली में—उस गली में मेरे एक परिचित सम्पादकाचार्य पं. अंबिकाप्रसाद वाजपेयी भी रहा करते थे। वह जगह मैं खोजकर बता सकता हूं, जहां कापले को बनारस के ही एक क्रांतिकारी ने गोली मार दी। मारने वाले थे सुशील लाहिड़ी—जिन्हें बाद में लखनऊ-जेल में फांसी हो गई।

मैंने जब सुशील के दूसरे एक मित्र या साथी क्रांतिकारी से पूछा तो उसने मुझे एक रात बताया कि विनायकराव कापले के पास जो शस्त्रास्त्र आदि थे—वे नहीं दे रहे थे। सुशील वही शस्त्र लेने कापले के पास गये थे। उनके साथ एक और भी क्रांतिकारी थे—नृपेन्द्र।

जिन महाशय ने मुझे बताया यह रहस्य, वे उन दिनों उरई (उ. प्र.) में थे और उनका कहना था कि विनायकराव उनके पास ही उरई आये थे। कहा था–'दल के काम में सक्रिय हो जाओ। मेरी तरह फ़रार-जीवन बिताते हुए काम करो।' वे महाशय सहमत न हुए। इससे एक बात तो उजागर होती ही है कि रासबिहारी बोस के जापान चले जाने के बाद भी कापले घर नहीं लौटे, न हार मानी, वरन् सक्रिय रहे।

उरई में प्रवास कर रहे विप्लवी ने बताया कि नृपेन्द्र के पास माउजर पिस्तौल थी–सुशील और कापले में बात हो रही थी कि कापले के एक साथी ने सुशील पर फायर कर दिया–वह इन दोनों के लिए अपरिचित ही था।

नृपेन्द्र ने माउजर से अज्ञात युवक पर गोली चलाई जो भूल से कापले को लगी और वे मारे गये। नृपेन्द्र फरार हो गये–सुशील को फांसी हुई।

चन्द्रशेखर आजाद की सही जन्म-तिथि

क्रांति-सेनापति चन्द्रशेखर आजाद की जन्म-तिथि के बारे में लोगों में बड़ा मति-भ्रम और विवाद व्याप्त है। मैंने अनेक वर्षों में लगातार देखा—अखबारों में पढ़ा, कई बार आजाद के कथित जन्म-दिवस के आयोजन में सम्मिलित होने का निमंत्रण भी मिला, परन्तु यह बात बहुत स्पष्ट है और कतई किसी तरह का भी इस विषय में तिथि को लेकर पुराने क्रांतिकारियों में, जो आजाद के साथी और सहकर्मी रहे हैं--कोई विवाद कभी नहीं रहा। कई बार आजाद की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में आज़ाद के विश्वस्त और बहुत निकट के साथी—सहकर्मी डॉ. भगवानदास माहौर, सदाशिवराव मलकापुरकर, जयदेव कपूर, रामकृष्ण खत्री प्रभृति क्रांतिकारियों से वार्ता हुई—उससे यही निष्कर्ष निकला कि आज़ाद की निर्विवाद जन्म-तिथि 23 जुलाई, 1906 ही है, न कि 23 जनवरी।

आजाद की पूज्य माताजी जगरानी देवी, जिन्हें डॉ. माहौर और मलकापुरकरजी 'अम्मा' कहते-पुकारते थे, सन् 1949 में मलकापुरकरजी अपने साथ भावरा (मध्यप्रदेश) ग्राम से झांसी ले आये थे और फिर दो साल वहीं रहीं—सन् 1951 में जब माताजी ने संसार त्यागा तो झांसी में ही उनका दाह-संस्कार हुआ। माताजी की अन्त्येष्टि भाई सदाशिवराव मलकापुरकर ने ही अपने हाथों की थी और वह उचित ही था, क्योंकि साथी आजाद की तरह वे उन्हें आदरपूर्वक 'अम्मा' कहते थे और माताजी उन्हें 'बेटवा' कहती थीं।

जन्म-स्थान भावरा ही

अस्तु, माता जगरानी देवी ने ही अपने स्वनाम-धन्य पुत्र चन्द्रशेखर (आजाद) के जन्म-स्थान के बारे में भी सदाशिवराव मलकापुरकर और डॉ. भगवानदास माहौर को बताया था कि उनका चन्द्रशेखर तत्कालीन रियासत अलीराजपुर के भावरा ग्राम में जन्मा था, जहां उनके पति पं. सीताराम तिवारी रियासत (अलीराजपुर) के ही एक बाग के मालियों के अधीक्षक थे। तब उनका मासिक वेतन था 6 रुपये। आगे शायद 8 रुपये तक हो गया था। सम्प्रति, भावरा ग्राम मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले में आता है।

अवश्य पं. सीताराम तिवारी और माता जगरानी देवी उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के ही निवासी थे और वहीं से अलीराजपुर रियासत पहुंचे थे। उन दिनों झाबुआ जिले में वनवासी कबीलों की खासी आबादी थी, जिनके साथ खेल-कूद कर, जंगलों-पहाड़ों में विचरते-रमते आजाद का बचपन बीता। जन्म-स्थान के सम्बन्ध में डॉ. माहौर और सदाशिवराव ने भावरा ग्राम जाकर वहां के बड़े-बूढ़ों से भी काफी पूछताछ करके पुष्टि की कि आजाद बदरका (उन्नाव जिले) में नहीं, भावरा (मध्यप्रदेश) गांव में ही जन्मे थे। इस पूछताछ में आजाद के सम्बन्धी पं. शिवविनायक मिश्र भी शामिल थे। वे भी भावरा गये थे।

अस्थि-अवशेष मिले

मिर्जापुर की बैठक में, जिसमें कई प्रमुख क्रांतिकारी मौजूद थे—सर्वप्रथम मैंने ही यह सूचना और प्रस्ताव रखा था कि आजाद की कुछ अस्थियां पं. शिवविनायक मिश्र के घर पर रखी हैं। उस महान शहीद के शेष-चिह्न के रूप में और आजाद के हाथ का लिखा एक पत्र भी वहां रखा है, जिसे उन्होंने सत्याग्रह में गिरफ्तारी के बाद जेल से लिखा था। अनन्तर जो प्रयास हुए, वे सफल हुए और आजाद के वे अस्थि-अवशेष, स्व. पं. शिवविनायक मिश्र के घर जाकर जो कि काशी जिले में हैं—ले आये गये। उस समय सर्वश्री सरदार कुलतारसिंह, जयदेव कपूर, प्रो. राधेश्याम शर्मा, रामकृष्ण खत्री, राजेन्द्रसिंह वारियर, उपकुलपति राजाराम शास्त्री आदि स्व. मिश्रजी के घर गये थे। शायद उनमें सिन्ध के शहीद हेमू कालाणी के एक साथी माधव शर्मा भी थे—मैं भी

गया था और फिर उन अस्थि-अवशेषों के कलश की लखनऊ से लेकर काशी आदि अनेक जिलों में शोभायात्रा भी बड़े समारोह से निकली थी—रामनगर (काशी) तक मैं भी अस्थि-कलश के साथ रहा था, परन्तु उन दिनों मुझ पर अदालत से दो वारण्ट थे, इसलिए 'काकोरी-केस' के श्री प्रेमकृष्ण खन्ना के साथ किसी बहाने उन्हीं की जीप से रामनगर से निकल लिया था, कारण, खुफिया पुलिस के अफसर वहीं से पीछे लग गये थे। प्रेमकृष्ण खन्नाजी से उन्होंने पूछा कि 'हम भी बनारस तक चलना चाहते हैं' परन्तु खन्नाजी ने यह कहकर उनसे पीछा छुड़ाया कि उनके एक साथी रामनाथ पाण्डे (काकोरी-केस) स्वर्गवासी हो गये हैं इसलिए हमें शोक प्रकट करने उनके घर जाना है और सच ही हम दोनों उस रोज काशी में स्व. रामनाथ पाण्डे के घर पहुंचकर उनके घरवालों से मिले थे। इस तरह मैं खुफिया पुलिस के शिकंजे से बच गया था। आजाद के वे अस्थि-अवशेष कुल 10 ग्राम रहे होंगे।

टूटी-फूटी समाधि पर

अस्तु, उक्त अस्थि-अवशेषों की स्व. मिश्रजी के यहां होने की सूचना एक दिन नितान्त शुरू में मैंने काशी में ही प्रोफेसर राधेश्याम शर्मा को उनके आवास पर दी थी—आगे वे 'उत्तर प्रदेश—स्वतन्त्रता-सेनानी कल्याण बोर्ड' के सचिव भी रहे। कहने का तात्पर्य यह कि पं. शिवविनायक मिश्र कोई ऐसे-वैसे सामान्य कांग्रेसी न थे वरन् वही थे, जिससे आजाद 'काकोरी-केस' में फरार होने के बाद भी जाकर मिले थे। और यही मिश्रजी थे, जो इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में आजाद के शहीद होने के दिन दौड़-धूप कर रसूलाबाद पहुंचे थे, जहां आजाद की पुलिस ने गुपचुप रूप से अन्त्येष्टि की थी। एक रोज मैं भी रसूलाबाद पहुंचा था, जहां नदी किनारे कई क्रांतिकारियों ने उस महान शहीद की टूटी-फूटी कच्ची, घास-फूस से ढकी समाधि की खोज की थी। उस समाधि की सूचना प्रारम्भ में स्व. मिश्रजी द्वारा ही प्राप्त हो सकी थी।

इसलिए आजाद की जन्म-तिथि और जन्म-स्थान के विषय में स्वयं आजाद के साथियों तथा मिश्रजी ने जो खोजबीन की है, वह सर्वथा प्रामाणिक मानी जानी चाहिए। यों, आजाद का जन्म-दिन एक बदरका ही नहीं, देश के शताधिक स्थानों पर मनाया जाये, यह स्तुत्य ही है क्योंकि आजाद पूरे देश के हैं परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसे वीर बलिदानी के संबंध में कोई भ्रान्ति या विवाद रहना उचित नहीं होगा।

संसद में भ्रामक सूचना

वैसे तो एक बार यह भी देखा गया कि जब आजाद की पूज्य माताजी स्वर्गवासिनी हो चुकी थीं, उसके कई वर्षों बाद भी किन्हीं महाशय (सांसद) ने संसद में यह सूचना देकर चौंका दिया कि 'आजाद की मां आज दाने-दाने को मोहताज हैं।' और आश्चर्य यह कि किसी ने वहां उस सूचना का खण्डन भी नहीं किया कि वे अब जिन्दा ही

कहां हैं, जो आप दुःख प्रकट कर रहे हैं? और उस सूचना को बड़े अखबारों ने भी छाप दिया। कब कौन जाता है वास्तविकता का पता लगाने? किसे गरज है? आप सुखी तो जग सुखी—यही मंत्र चल पड़ा आजादी के बाद।

जहां तक चन्द्रशेखर आजाद की सही जन्म-तिथि निर्विवादरूपेण निश्चित होने की बात है, मैं यह भी बता दूं कि देश के जाने-माने क्रांतिकारी तथा आजाद के साथी सर्वश्री मन्मथनाथ गुप्त (काकोरी केस), रामकृष्ण खत्री (काकोरी-केस), स्व. शचीन्द्रनाथ बख्शी (काकोरी-केस), प्रेमकृष्ण खन्ना (काकोरी-केस), स्व. रामदुलारे त्रिवेदी (काकोरी-केस), शिव वर्माजी (लाहौर-केस), जयदेवजी कपूर (लाहौर-केस), श्रीमती दुर्गा भाभी (गवर्नर-शूटिंग-केस), प्रो. नन्दकिशोर निगम, डॉ. भगवानदास माहौर (भुसावल-बम-काण्ड), सदाशिवराव मलकापुरकर, सुरेन्द्रनाथ पाण्डेय, रमेश गुप्त (कानपुर), स्व. कुन्दन-लाल गुप्त, स्व. काशीराम, भवानीसिंह रावत, राजेन्द्रसिंह वारियर सरीखे क्रांतिकारी आजाद की जन्म-तिथि 23 जुलाई ही मानते रहे और जो भी जीवित क्रांतिकारी हैं—आज भी यही जन्म-तिथि मान्य करते हैं।

एक दिन लखनऊ-स्थित दुर्गा भाभी के आवास-स्थान पर स्थापित 'शहीद स्मारक एवं स्वतंत्रता संग्राम-शोध-केन्द्र' पर प्रसिद्ध क्रांतिकारी तथा स्मारक के अध्यक्ष श्री शिव वर्मा, शोध-केन्द्र के मंत्री श्री चन्द्रदत्त तिवारी और शहीदे-आजम भगतसिंह के भाई तथा स्वतंत्रता संग्राम-सेनानी सरदार कुलतारसिंह से मेरी इस विषय में भी वार्ता हुई तो उन्होंने इस बात पर बड़ा क्षोभ व्यक्त किया कि राज्यस्तर पर तथा कई स्वतंत्रता-सेनानियों द्वारा भी बदरका आदि में आजाद की जन्म-तिथि जनवरी में मनाई जाती है, जिसमें राज्य के मंत्री आदि भी शामिल होते हैं—इस तरह जन्म-तिथि के बारे में भ्रांति फैली हुई है, जबकि सही तिथि 23 जुलाई ही है।

जब भाभी ने 51 हजार रुपये लौटा दिये

कई वर्ष पूर्व 'धर्मयुग' में उसके तत्कालीन संपादक डॉ. धर्मवीर भारती के आग्रह से मैंने दुर्गा भाभी पर एक लेखमाला लिखी थी। उसे पढ़कर देश के कुछ लोगों ने मुझे इस आशय के पत्र लिखे कि वे भाभी की आर्थिक सहायता करना चाहते हैं—इस सम्बन्ध में आप हमें बतायें कि किस तरह हम वह धनराशि भाभी तक पहुंचाएं, क्योंकि हमारा उनसे पूर्व-परिचय नहीं है। पत्र-लेखक फैक्टरी या कारखानेदार लगते थे। वे अपेक्षा करते होंगे कि मैं उन्हें धनादेश या चेक भेजने का सुझाव भाभी के पते सहित दे दूंगा; किन्तु जितना कुछ मैं भाभी को जानता हूं, बात इतनी सरल और सीधी न थी। अतः मैंने उन महानुभावों को लिख दिया, 'कृपया ऐसी कोई कोशिश न करें, भाभी अपने लिए कोई धन स्वीकार न करेंगी, अपितु नाराज होंगी।' बात खत्म हो गई।

एक दिन भेंट होने पर मैंने भाभी से जिक्र किया इस बात का, तो अपनी आदत

के अनुसार वे कुछ रुक्षता से बोलीं, 'क्यों, मेरी मदद किसलिए? क्या इतने बड़े देश में एक मैं ही आर्थिक सहायता के लायक हूं? क्यों, मुझे वे रुपये देना चाहते थे? तमाम लोग तो विपन्नता में गुजर कर रहे हैं।' मैंने जब उन्हें कुछ समझाना चाहा तो तुरन्त बोलीं–'यदि ऐसी ही उनकी भावना है तो मेरे कॉलेज को जो चाहें, दान कर सकते हैं।'

भाभी तब लखनऊ में पुराना किला के पास एक कॉलेज चलाती थीं, जिसमें लगभग 2800 छात्र-छात्राएं सह-शिक्षा पाते हैं। एक दिन 15 बच्चों को लेकर वे वहां पढ़ाने बैठी थीं–स्वयं भी उसकी संस्थापिका हैं, लेकिन कॉलेज एक कमेटी के हवाले करके वे मात्र उसकी सचिव रहीं, बस। कॉलेज-कोष की वे उपभोक्ता नहीं रही हैं, एक छोटा-सा कुटीर और कॉलेज की चिन्ता, यही उनका संसार रहा है और अपने लिए कुछ भी न लेने की भाभी की यही भावना एक साल से थी। अब वे सचिव भी नहीं हैं।

यही बात पंजाब में भी चरितार्थ हुई, जब वहां के तत्कालीन मुख्यमंत्री सरदार दरबारासिंह ने प्रदेश स्तर के एक समारोह में भाभी को सम्मानित किया तथा उन्हें 51 हजार रुपये की एक थैली सरकार की ओर से भेंट की गयी। भाभी ने वे रुपये स्वीकार तो कर लिए, लेकिन फिर तुरन्त वहीं मुख्यमंत्री को वापस कर दिए, कहा–'यह धन शहीदों की कीर्ति-रक्षा में व्यय किया जाये।' उन रुपयों में से एक पैसा भी अपने लिए स्वीकार नहीं किया। देश के लिए अपना सब कुछ दे डालने का उनका स्वभाव अभी तरोताजा है। अपना आवास भी शहीदों के लिए दे दिया।

सर्वविदित है, आजादी के लिए भी जो सशस्त्र प्रचेष्टा उन दिनों लाहौर में क्रांतिकारी दल कर रहा था–उसकी अधिकांश आर्थिक आवश्यकताएं भाभी के घर से ही पूरी की जाती थीं। यहां तक कि सौंडर्स को खत्म करने की योजना भाभी के ही रुपयों से पूर्ति पा सकी थी। आगे सौंडर्स को जब राजगुरु-भगतसिंह ने गोली मारी, और सुखदेव आदि क्रांतिकारी साथियों का लाहौर से बाहर चले जाना जरूरी हो गया, तब भी सुखदेव सीधे भाभी के ही पास आया। पूछा, 'भाभी, कुछ रुपये हैं?'

भाभी पूछती हैं–'हैं, चाहिए?'

सुखदेव ने पूछा–'कितने हैं?'

'पांच सौ।'

और भाभी ने वे पांच सौ रुपये तुरन्त सुखदेव को निकालकर दे दिये–वे रुपये उनके पति भगवती भाई इसलिए छोड़ गये चलते समय कि दल को जरूरत पड़ सकती है। आगे भगतसिंह को जेल से छुड़ाने आदि के लिए भी अधिकांश धन भाभी ने ही दिया था, कोई आठ हजार रुपये उनसे लेकर बम आदि बने थे। यों भी, भाभी का लाहौर वाला घर भगतसिंह, सुखदेव, यशपाल, धन्वन्तरि आदि सभी क्रांतिकारियों का खास केन्द्र था। उनका नित्य खाना-पीना चला करता था। वार्ता-बहस का वातावरण गर्म रहता था। कौन जानता था, कि एक दिन भाभी अपना सुहाग भी देश के चरणों पर चढ़ा देंगी। उस नारी-रत्न को कोई क्या दे सकता है!

पंजाब से भाभी जब लखनऊ लौटीं, तो मैं उनके घर गया। पूछा—'भाभी! आपके दो-दो जवान् पौत्रियां बैठी हैं ब्याह-शादी के लायक, फिर आपने 51 हजार रुपये लौटा क्यों दिये?'

कहने लगीं—'बात यह है कि शहीदों के नाम पर लोगों ने सरकार से पैसा वसूला है, लेकिन मैंने सोचा, मैं कितने दिन जिऊंगी—एक उदाहरण प्रस्तुत कर दें, इसलिए रुपये लौटाकर कहा—'शहीद किसी प्रांत में नहीं बंटे होते।'''शहीदों ने पंजाब में और पूरे देश में बहुत काम किये हैं, इसलिए उनकी याद में एक 'काल-चार्ट' बनाया जाए, जैसे कि दिल्ली में 'राजघाट' है। लोग समझें कि क्रांतिकारी केवल बातें नहीं करते रहे, काम भी कर गये हैं। वहां शहीदों की तस्वीरें, नाम-पट्ट, जीवनियां आदि रखी जायें। जीवित क्रांतिकारी भी वहां रहें। नयी पीढ़ी के लोग वहां आयें, देखें-पढ़ें और प्रेरणा लें।'

फिर अंदर गईं, अलमारी खोलकर केसरिया रंग के छोटे-छोटे वस्त्र-खंड ले आईं। बहुत खुश होकर दिखा रही हैं—कहती हैं, 'ये दुपट्टे हैं, अमृतसर गुरु-मंदिर और दुर्गियाना के अधिकारियों ने दिये हैं। यह दुर्गियाना की शाल है। साथ में अन्य जो क्रांतिकारी थे, उन्हें भी सरकार की ओर से शालें मिली हैं। यह साड़ी है, भगतसिंह के पुरखों के गांव खटकर कला में दी गई, गांधी-आश्रम ने भेंट की। एक-एक गरम शाल बहू-बेटी को भी भेंट की गई, सरकार की तरफ से।'

दिखाते वक्त एक साड़ी नीचे गिर जाती है, मैं उठाता हूं। भाभी कह रही हैं—'अभी और दिखाते हैं, और दो छोटी थालियां भी हैं।' वे थालियां अन्दर से लेकर आती हैं। आधा-आधा किलो चांदी की होंगी। कुछ परेशान होकर कहती हैं, 'मुसीबत है। कहां रखूं इन्हें ? कोई ताला ही तोड़ देगा।' देखता हूं, चांदी की थालियां झंझट व परेशानी का कारण हैं उनके लिए, लेकिन छोटे-छोटे केसरिया दुपट्टे उन्हें संतुष्ट करते हैं। बलिदानी रंग से मेल खाते हैं न वे। 'मेरा रंग दे बसंती चोला', कौन जाने, भगतसिंह का यह स्वर उनके कानों से आ टकराता है इन वस्त्र-खण्डों को देखकर। मैं एक बार सरहिन्द गया, वहां देखा—गुरु गोविन्दसिंह के उन दो छोटे बच्चों की समाधियों पर भी ऐसा ही केसरिया कपड़ा आवृत है, जहां उन्हें दीवारों में जिन्दा चुना गया था।

भाभी की यह पंजाब-यात्रा यकायक ही हुई। बहुत पहले से उसकी कोई योजना सरकार की तरफ से न थी। भाभी गाजियाबाद गई थीं, वहां उनका एकमेव पुत्र शचीन्द्र कुमार बोहरा सपरिवार रहता था। हर साल गर्मी की छुट्टियों में भाभी वहां चली जाती थीं। यों, भाभी कई वर्षों से अब गाजियाबाद ही रह रही हैं। उस बार गईं तो पंजाब के सूचना तथा जन-संपर्क विभाग के निदेशक ने जाकर भेंट की। कहा, 28 मई को शहीद भगवतीचरण बोहरा (भाभी के पति) के बलिदान की 51वीं पुण्य तिथि पड़ रही है, भगतसिंह-राजगुरु-सुखदेव के बलिदान का भी '51वां वर्ष है। आप पंजाब चलें और अपने पति का सम्मान करें तथा समारोह में शामिल हों।'

चार दिन का कार्यक्रम बना। भाभी जलियांवाला बाग, फीरोजपुर-स्थित भगतसिंह आदि शहीदों की समाधियों को अर्से से देखने की इच्छुक थीं। सन् 1930 में जब से लाहौर छोड़ा, फिर आजादी के बाद भी उधर कभी जाना नहीं हुआ और लाहौर तो भारत से ही विलग हो गया। वह राप्ती-तट अब कहां, जहां भाभी के पति भगवती भाई ने बम का परीक्षण करते-करते आत्माहुति दी थी? भाभी से पंजाब वालों ने संदेश मांगे, भगवती भाई के शहीद-दिवस के लिए तो उन्होंने ये पंक्तियां लिख भेजीं—

'उस शहीद के लिए इतना ही कहा जा सकता है, कि—

नौजवानो, जो कभी दिल में तुम्हारे खटके।
याद कर लेना हमें भी कभी भूले-भटके ॥

क्योंकि न उनका (भगवती भाई का) कोई स्थान शेष है, न कोई निशान है, जहां फूल चढ़ाये जायें।'

भाभी गाजियाबाद से अपने पुत्र, पौत्री तथा बहू सहित लुधियाना रवाना हुईं। कहती थीं, डिब्बा वातानुकूलित था। सर्किट हाउस में ठहरे। नागरिकों की ओर से स्वागत हुआ। स्वागत-द्वार, सजावट, झंडियां, भीड़। कलक्टर, कप्तान उपस्थित। पांच बजे शाम दिल्ली से मुख्यमंत्री सरदार दरबारासिंह आये, कहा गया—'बात करनी है। भेंट-वार्ता हुई। तस्वीरें खिंचीं। फिर समारोह में गये। भारी जमाव था। कई साथी भी आये—रामसिंह, कामरेड रामचंद्र, पं. किशोरीलाल, कुलतारसिंह, कुलवीरसिंह, केसर तथा वीरेन्द्र।'

भाभी ने बताया, 'इसी दिन उनके पति के बलिदान-दिवस के उपलक्ष्य में एक कार्यक्रम पंजाब के भूतपूर्व मुख्यमंत्री तथा क्रांतिकारी रामकिशन ने दिल्ली में रखा था—और उनका तथा तत्कालीन गृहमंत्री जैलसिंह का आग्रह था कि मैं दिल्ली वाले कार्यक्रम में पहुंच सकूं लेकिन मैं कैसे पहुंच सकती, लुधियाना जाने का मैंने वादा किया था, अतः इन्कार कर देना पड़ा। यह शायद दिल्ली-कार्यक्रम के आयोजकों को अच्छा न लगा हो। जैलसिंह को भी। पर मैं विवश थी।' अस्तु, भाभी ने पूर्ण राजकीय प्रबन्ध के अनुसार जलियांवाला बाग, बंगा सीमा में भगतसिंह की जन्मभूमि, हुसैनीवाला में भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव की समाधियाँ देखीं। समाधियों के निकट लाल कार्पेट बिछा था। धूप-दीप, ढेर सारे फूल भी। यद्यपि भाभी फूलों के लिए 10 रुपये ले गई थीं—वहां फूल उपलब्ध हो जाने पर भी उन्होंने ये 10 रुपये एक लिफाफे में करके जिलाधिकारी को दिये तो लोग चकित हुए, पर भाभी ने कहा, 'ये फूलों के लिए थे, अब इन्हें किसी गरीब को दे दें।' समाधियों के पास सब नंगे पैर, नतशिर खड़े हैं। मौन समाधियों से विदा ली।

भाभी की गाड़ी के आगे-पीछे अनेक गाड़ियां। दोनों ओर खेमे हैं जवानों के, क्योंकि उस पार पाकिस्तान है, जहां उसकी सीमा जुड़ती है। वे सशस्त्र सीमा-प्रहरी

अभिवादन (सेल्यूट) कर रहे थे। चुंगी-चौकियों पर तैनात, अलग-अलग हरे और नीले रंग की वर्दियां पहने थे, हरे रंग वाले पाकिस्तानी थे।

भाभी की गाड़ी के आगे एक सरकारी जीप तिरंगा लगाकर चल रही थी। आखिर काफी देर बाद सही पंजाब ने भाभी को याद किया, उनके व उनके पति की कुर्बानियों का स्मरण किया—संभव है, इसमें 'धर्मयुग' का भी योगदान रहा हो क्योंकि प्रथम बार उसने भाभी से संबद्ध मेरी एक लम्बी क्रांतिकथा प्रकाशित की, तो भाभी के पास चार सौ से ऊपर पत्र देश के कोने-कोने से आये। मुख्यमंत्री के अलावा प्रदेश स्तर के अनेक गण्यमान्य लोग मौजूद थे। समारोह की अध्यक्षता दरबारासिंह ने की,' हिन्द समाचार-पत्र समूह के संपादक लाला जगतनारायण तथा पंजाब के तत्कालीन स्वास्थ्य मंत्री ने भी भाभी का सम्मान किया। सरकार को पता चल गया था कि भाभी को जो 51 हजार रुपये भेंट होने हैं, वे उन्हें लेंगी नहीं, अतः 500 रुपये मासिक की पेंशन उन्हें दी जाने की घोषणा तत्कालीन मुख्यमंत्री ने की। मुख्यमंत्री ने कहा था, 'श्रीमती दुर्गादेवी तथा उनके पति श्री भगवतीचरण बोहरा के क्रांतिकारी स्वरूप के प्रति स्वतंत्रता-सेनानियों के मन में कितना सम्मान था, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि सरदार भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव, चन्द्रशेखर आजाद और उनके अनेक साथी उन्हें 'भगवती भाई' और 'दुर्गा भाभी' कहकर पुकारते थे। इतिहास साक्षी है कि इन आदर्श पति-पत्नी ने वास्तव में ही क्रांतिकारी देश-भक्तों के साथ भैया-भाभी का संबंध निभाया। अपना सुख-चैन, धन-दौलत सब कुछ देश एवं देशभक्तों को अर्पित कर दिया।···आज हम सभी भारत-माता के उस महान सपूत की बहादुरी एवं देश-भक्ति को अपनी श्रद्धांजलि भेंट कर रहे हैं। इसके साथ ही हम उनकी धर्मपत्नी श्रीमती दुर्गा देवी जी के महान त्याग एवं बलिदान को भी लाख-लाख प्रणाम करते हैं, जिन्होंने देश की खातिर अपना सुहाग तक लुटाया और अनेक तरह के कष्ट झेले।···"

तत्कालीन मुख्यमंत्री ने कहा था—'शहीदों के कारण ही देश आजाद हुआ, उनकी कुर्बानियों को देश भूल नहीं सकता। सरकार एक आयोग बना रही है, जो शहीदों के जीवन तथा शिक्षा के ढांचे में परिवर्तन के लिए जानकारी देगी।' दरबारासिंह ने भाभी के जीवन के बारे में भी बताया।

उस समारोह में भाभी ने कहा था, 'मैं अपने घर आई हूं और सुझाव देना चाहती हूं कि सरकार एक कमेटी बनाये जो शहीदों के जीवन के बारे में सामग्री संकलित करे। जो 51 हजार रुपये यहां मुझे दिये गये—वे उस कमेटी की योजनानुसार व्यय किये जाएं।'

भाभी ने कहा था—'जब हम आजादी के लिए संघर्ष कर रहे थे, उस समय हमें किसी निजी लाभ या उपलब्धि की अपेक्षा नहीं थी, केवल देश की आजादी ही हमारा लक्ष्य था। उस ध्येय-पथ पर अनेक साथी देशभक्त अपना जीवन आहुत कर गये।' भाभी कहती गई—'पंजाब की धरती शहीदों के खून से उर्वरा है। मैं कहती हूं, मुझे

भेंट किये गये धन से यहां एक वृहत् स्मारक बनाया जाये, जिसमें क्रांतिकारी इतिहास का अध्ययन-अध्यापन हो, क्योंकि आज की युवा पीढ़ी को इसकी बड़ी आव्रश्यकता है। ऐसा एक पुस्तकालय भी पंजाब नेशनल कॉलेज-लाहौर में लाला लाजपतराय ने खोला था, नाम था, 'द्वारकादास पुस्तकालय'। उसी के साथ 'सर्वेण्ट्स ऑफ दि पीपुल्स सोसाइटी' भी संबद्ध थी, जिसमें राजर्षि टण्डन, राजाराम शास्त्री, केदारनाथ सहगल तथा अचिन्त्यराम का भरपूर योगदान रहा। लालाजी का पंजाब नेशनल कॉलेज क्रांतिकारियों को पैदा करने वाली एक फैक्ट्री, एक सच्चा घर था जबकि बम बनाने वाली फैक्टरियां हम लोगों ने बाद में कायम कीं। आपको यह जानकर हैरानी होगी कि हमारे 'लाहौर-केस' में 5 मुखबिर थे लेकिन लाला लाजपतराय द्वारा संचालित नेशनल कॉलेज के छात्रों ने क्रांतिकारियों की भर्ती के लिए जो 'नवजवान भारत सभा' बनाई थी—उसका कोई भी युवक मुखबिर नहीं बना।

'मनुष्य खाता-पीता है, उसे बाह्य आवश्यकताएं घेरती हैं, लेकिन जिन्दा रहने तथा काम करने के लिए हमें स्नेह की उतनी ही जरूरत है। आपने स्नेहपूर्वक मुझे आमंत्रित किया, मैं अपनी और अपने साथियों की ओर से जनता तथा पंजाब सरकार की आभारी हूं। पाकिस्तान बनने के बाद मुझे पंजाब आने का कभी मौका नहीं मिला। 41 वर्षों से मैं राजनीति से दूर हूं—किसी दल में नहीं रही। तीन अर्ध-शताब्दी-समारोहों के सिवा अन्य किसी सभा-सम्मेलन या बैठक में नहीं गई। हां, वे अर्ध-शताब्दी-कार्यक्रम थे—काकोरी-केस, यतीन्द्रनाथ दास का शहीद-दिवस तथा चटगांव-शस्त्रागार-काण्ड के बलिदान। भाभी ने स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास पर भी प्रकाश डाला। अन्य स्वागतकर्ताओं में भू. पू. सांसद 'वीर प्रताप' के तत्कालीन संपादक वीरेन्द्र ने कहा था, 'दुर्गा भाभी ने स्वतंत्रता के पूर्व गुलाम पंजाब को छोड़ा था, आज वह स्वतंत्र पंजाब में आई हैं। पंजाब उनका हार्दिक स्वागत करता है तथा गर्व अनुभव करता है कि जिस देवी ने पंजाब की गोद में बैठकर देशभक्ति का सबक सीखा और लंबे अर्से तक आजादी की अलख जगाई—वही आज पहली बार आजाद पंजाब में पधारी हैं। बहुत कम लोगों को पता है कि उन्होंने देश के लिए क्या कुछ किया है। सही है कि पति के शहीद हो जाने के बाद भी जिन्होंने संघर्ष जारी रखा और अपना सब कुछ कुर्बान कर दिया। आज के युग में शायद ही अन्य कोई महिला ऐसी मिलेगी, जिसने देश के लिए इतनी कुर्बानी दी हो, जितनी दुर्गा भाभी ने दी और इसके बावजूद उन्होंने सरकार के सामने पेंशन आदि के लिए हाथ नहीं फैलाया।' किसी समारोह में भाभी के परिवार के लोगों के शामिल होने का यह पहला अवसर था। अक्सर जब कोई उनसे कहता है, 'भाभी! वे रुपये आपको ले लेने थे।' वे कह उठती हैं—'चलो, चलो। कितने दिन जीना है, क्या करती मैं, वे रुपये?' और फिर जैसे उस आग्नेय युग के अतीत में डूब जाती हैं, गंभीर मौन धारण कर लेती हैं।

एक पत्रकार-वार्ता में भाभी का जब देश की आज की स्थिति की ओर ध्यानाकर्षित

किया गया तो बोलीं, 'देश के बिगड़ते हुए माहौल का कारण हमारी शिक्षा-प्रणाली है, जो कुछ विदेशी निश्चित कर गये, जो पुस्तकें वे तैयार कर गये, वही हम पढ़ते जा रहे हैं। उन्हीं का लिखा इतिहास हमारे गले उतारा जा रहा है। सरकार पलटी है लेकिन व्यवस्था वैसी ही है। यह बदली नहीं। इसीलिए बात नियंत्रण के बाहर हो रही है। पंजाब-कश्मीर-असम घर की ही आग में जल रहे हैं।'

'रिपोर्ट' नहीं, क्रांति-इतिहास

देश में क्रांतिकारियों की गतिविधियों का विवरण तैयार करने के लिए 10 दिसम्बर, 1917 को 'रौलट-कमेटी' का गठन किया गया, जिसका प्रमुख एस. एस. टी. रौलट नाम के अंग्रेज को बनाया गया।

अंग्रेजों द्वारा तैयार कराई गई इस रिपोर्ट के आधार पर कालान्तर में अनेक भारतीय इतिहासकारों ने इस देश के क्रांतिकारियों पर पुस्तकें रचीं। कोई लेखक उस पुरानी, 72 वर्ष पहले की रिपोर्ट का नाम ले न ले, लेकिन यह एक वास्तविकता है कि उनकी रिपोर्ट से ही हमारे देशवासियों को भी पता चला कि कितने बड़े पैमाने पर भारत में युवकों ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए सशस्त्र संघर्ष चलाए हैं। ये रिपोर्टें नहीं हैं, इतिहास है'। इस रिपोर्ट में वह सब विवरण विस्तार से दर्ज है कि क्रांतिकारी दल, अनुशीलन समिति, युगान्तर दल आदि में कितने तरह की प्रतिज्ञाएं ली जाती थीं?

धन-शस्त्रादि संग्रह के साधन क्या थे? डाके डालने की क्या नीति थी? 'शपथ' की शब्दावली तक उस रिपोर्ट में दी गई है।

इस रिपोर्ट से पता चलता है कि सन् 1908 में 11 दिसम्बर को अंग्रेज सरकार ने जो एक 'क्रिमिनल लॉ एमेंडमेंट एक्ट' पारित किया था, वह वस्तुतः क्रांतिकारी दलों के दमन किंवा उन्मूलन के ही लिए रची गई एक साजिश थी, जिसके तहत क्रांतिकारियों के अभियोग उच्च न्यायालय के तीन जजों की एक विशेष बेंच को देना निश्चित किया गया और यह भी कहा गया कि आगे उस बेंच में न कोई जूरी बैठेगा, न ही असेसर। इस एक्ट ने यह भी करार किया कि गवर्नर जनरल को यह हक होगा कि वह जिन समूहों अथवा संघों या समिति आदि को चाहे उन्हें प्रतिबंधित कर सकेगा। फलतः नया साल (सन् 1909) शुरू होते ही जनवरी में बंगाल के नौ दलों पर प्रतिबन्ध लगाकर उन्हें गैर-कानूनी करार दिया गया। उन दलों में से कुछ के नाम हैं—स्वदेश बान्धव समिति, ढाका अनुशीलन समिति, साधना समिति (मैमन सिंह), सुहृद समिति, व्रती समिति। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो दल अंग्रेज सरकार ने गैर-कानूनी करार दिये, बंगाल में उतने ही दल थे बल्कि और भी अनेक विप्लवी दल सक्रिय थे। यथा, अनुशासन समिति (मदारीपुर), चन्द्रनगर समिति (इसके नेता थे विपिनचन्द्र गांगुली), बारीसाल समिति, पश्चिमी बंगाल की सतीश चक्रवर्ती की समिति, पश्चिम बंगाल की यतीन्द्रनाथ मुकर्जी (बाधा जतीन) की समिति, उत्तरी बंगाल समिति। ये छह दल उक्त नौ दलों के गैर-कानूनी करार देने के बाद भी कार्यशील बने रहे।

यद्यपि यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि अंग्रेज गवर्नर-जनरल के निर्देश से बनी रौलट-कमेटी की यह रिपोर्ट शत-प्रतिशत सच्चाई पर आधारित है। परन्तु इस संदेह के बावजूद उसमें क्रांतिकारियों का इतिहास भी किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्राप्य है। अब देखिये, रौलट-कमेटी की उक्त रिपोर्ट में लिखा है कि रासबिहारी बोस के एक साथी एवं सहयोगी क्रांतिकारी विनायकराव कापले को किसी व्यक्ति ने फैजाबाद में गोली मार दी, परन्तु अंग्रेजों के खुफिया विभाग की यह गलत रिपोर्ट है, क्योंकि मुझे सप्रमाण पता है कि उस महाराष्ट्रीय क्रांतिवीर विनायकराव को गोली मारी गई लखनऊ के एक मुहल्ले की एक गली में। बहुत दिन उसी मुहल्ले में संपादकाचार्य पं. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी रहते रहे। मैं वह जगह बता सकता हूं। और उस युवक का नाम-पता भी, जिसने काशी से आकर कापले को गोली मारी। लखनऊ में ही उस युवक को फांसी दी गई। किसी क्रांतिकारी का कब क्या हश्र होगा, कहा नहीं जा सकता। इसीलिए डॉ. भूपेन्द्रनाथ दत्त (विवेकानन्द के भाई) कहा करते थे कि 'क्रांतिकारी का फांसी पाना या देश-शत्रु से लड़ते हुए शहीद होना ही श्रेयस्कर होता है, बचे रहना दुःखद होता है।' शायद विनायकराव कापले के जीवन पर भी यही कथन घटित होता है। और यही क्रांतिकारी विनायकराव कापले थे जो ऐसे भयानक बम फौजी छावनियों को उड़ाने के लिए लेकर घूमते थे, जिनमें से एक-एक बम आधी रेजीमेंट का सफाया

कर सकता था। ऐसे ही जो आठ बम अन्य महाराष्ट्रीय युवक विष्णु गणेश पिंगले के पास पकड़े गए, वे कापले के ही द्वारा लाए गए थे। परन्तु रौलट-रिपोर्ट भी कापले के प्रति सही विवरण नहीं दे सकी, यह साबित हो गया। फिर भी इस रिपोर्ट में तमिल क्रांतिकारी बञ्ची अय्यर तक के बारे में ब्योरा दिया गया है कि 'उसने अपने एक साथी विप्लवी से कहा कि 'भारत में युगान्तर तभी संभव है, जब यहां रह रहे सभी गोरों को गोली मार दी जाये। उनमें तमिलनाडु में पहला नाम मैं रखता हूं, तेनेवली के जिला मजिस्ट्रेट मि. ऐश का।' इस रिपोर्ट में तमिलनाडु के विप्लवी दल का विवरण दिया है कि इस दल में नीलकंठ ब्रह्मचारी, शंकर कृष्ण अय्यर, वी. वी. एस. अय्यर थे। वी. वी. एस. अय्यर विलायत में वीर सावरकर, पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा, मादाम कामा के बहुत निकट सम्पर्क में रहे थे। इन्होंने ही भारत आकर तरुणों को निशानेबाजी तथा क्रांति-कार्य की शिक्षा दी। बञ्ची अय्यर को मि. ऐश को गोली मारने पर फांसी दी गई। लेकिन उसके पास जो तमिल भाषा का पर्चा मिला, उसमें गुरु गोविन्दसिंह, राम, कृष्ण, शिव और अर्जुन के नामों तथा उनके धर्मरक्षक ध्येय का हवाला दिया गया था और चेतावनी दी गई थी कि 'गौ का मांस खाने वाला जार्ज पंचम (ब्रिटिश नरेश) जैसे ही भारत-भूमि पर पैर रखेगा, क्रांतिकारी उसे गोली से उड़ा देंगे।'

इस रिपोर्ट से लोगों को पता चला कि उत्तर से धुर दक्षिण मद्रास तक क्रांति की ज्वालाएं धधक रही थीं। बंगाल के फरीदपुर जिले के नरिया ग्राम, बाजितपुर (जिला मैमनसिंह), विधाती (जिला हुगली) तक की छोटी-छोटी डकैतियों का ब्योरा 'रौलट-रिपोर्ट' में मिलता है जबकि विधाटी या विधाती गांव की डकैती सिर्फ 5436 रुपये की हुई थी, बाजितपुर की 1500 रुपये की तथा नरिया गांव के डाके में 6400 रुपये लूटे गये थे। हरिणपाड़ा गांव के 400 रुपये की डकैती और नेतई गंज (ढाका) में 80 रुपये तक के डाके का हवाला रौलट-रिपोर्ट में दिया गया है और इन सब डकैतियों को क्रांतिकारी दलों के द्वारा ही होना सिद्ध किया गया है, यहां तक कि जहां प्रसिद्ध बरहा-डकैती में लूटे गए 25 हजार रुपयों का जिक्र है, वहीं ढाका जिले में 'क्रांतिकारियों द्वारा एक बड़ी नाव चुराने' का भी उल्लेख रिपोर्ट में मौजूद है। यह नाव सच ही दल के काम के लिए फरार क्रांतिकारी नेता त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती (त्रैलोक्य महाराज) ने चुराई थी और खुद ही अपना नाम 'कालीचरण मल्लाह' रखकर उसी नाव से यात्रियों को, कभी-कभी पुलिस अफसरों तक को नदी पार उतारा करते थे। एक दिन गमछा पहने नंगे बदन उसी नाव के पास नदी किनारे ये गिरफ्तार कर लिए गये। इन्हें गिरफ्तार करने गया था अंग्रेज डी. आई. जी.। उस वक्त हिन्दू इंस्पेक्टर ने त्रैलोक्य के पैर छूकर ही हथकड़ी लगाई थी और आंसू पोंछते हुए उसने कहा था—'दाव्रा! पुलिस की नौकरी है। क्षमा करना।' डी. आई. जी. ने अपने पास से 10 रुपये देकर कुर्ता-धोती मंगवाई और उसे त्रैलोक्य महाराज को पहनाकर ले चला।

जब खुदीराम बोस फांसी झूले

अगस्त का महीना भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। इसी महीने में सन् 42 का आग्नेय आन्दोलन आरम्भ हुआ था, जिसमें 'करो या मरो', 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' की तुमुल ध्वनियों से आकाश महीनों गूंजता रहा था और सहस्रों लोगों ने अपनी बलि दी थी। फिर पांच वर्ष बाद आया था 15 अगस्त 1947, भारत का मुक्ति-दिवस। उस दिन जो आजादी आयी उसके लिए पिछले 100 वर्षों में देश के गांवों और नगरों ने, महलों और झोंपड़ियों ने कितने बलिदान दिये, इसका पूरा हिसाब किसी ने लिख कर नहीं रेखा है।

इसी अगस्त महीने में देश के दो महान सपूतों ने फांसी के फंदे चूमे, जिनसे अगले चार दशकों तक आजादी के दीवाने ब्रिटिश दमन से जूझने की प्रेरणा पाते रहे। वे सपूत थे—खुदीराम बोस और मदनलाल धींगरा। दोनों दृढ़व्रती, बलि-पथ के राही

और देश के लिए मरने-मारने की परम्परा की कड़ी थे।

खुदीराम बोस जब फांसी चढ़ा, तब निरा सोलह साल का तरुण था। खुदीराम और उसके साथी प्रफुल्ल चाकी के वासस्थान मेदिनीपुर और बांकुड़ा में विप्लवी समिति की शाखाएं स्वयं अरविन्द घोष और भगिनी निवेदिता ने खोली थीं। मेदिनीपुर में खुदीराम के नेता थे सत्येन्द्रनाथ और बांकुड़ा में प्रफुल्ल चाकी के नेता थे यतीन्द्रनाथ राय। दोनों ही अरविन्द घोष से मार्गदर्शन पाते थे। अरविन्द का दल महाराष्ट्र के 'चाफेकर संघ' से संबद्ध था और दोनों संस्थाओं का सतत संपर्क रहता था।

सशस्त्र विद्रोह के अग्नि-पथ में वासुदेव बलवंत फड़के के बाद सर्वप्रथम महाराष्ट्र के चाफेकर बंधु—दामोदर चाफेकर और बालकृष्ण चाफेकर ने ही 1899 में शीशदान किये। महाराष्ट्र के एक अध्यापक सखाराम गणेश देउस्कर यही आग लेकर बंगाल की गली-गली में अलख जगाते घूम रहे थे। बंगाल में विप्लव के प्रसार में उनका बड़ा हाथ था। वे शिक्षक, संपादक, प्रचारक सब कुछ थे और उनका एकमात्र लक्ष्य था—स्वातंत्र्य। वे बंगाल के विप्लवी संगठनों में रात को लाठी-छुरी चलाना और कृत्रिम युद्ध लड़ना सिखाते थे।

उन दिनों सब स्वातंत्र्य व्रती एक थे। उनमें प्रान्तभेद, भाषाभेद का भाव नहीं था। सबके हृदय में विराजती थी केवल मां की मूर्ति। और इसी मां के सम्मुख खुदीराम और प्रफुल्ल चाकी ने 'आनन्दमठ' में यह प्रतिज्ञा ली थी।

'ओ वंदे मातरम्! मैं अपने पिता-माता, गुरु, ईश्वर और अग्नि के नाम से प्रतिज्ञा करता हूं कि ध्येय पूर्ण होने तक कार्य का त्याग न करूंगा, न परिवार-जनों से कोई मोह-ममत्व रखूंगा। इस कार्य के प्रसार में जीवन-सर्वस्व और अपनी सब धन-संपत्ति का समर्पण करूंगा। गोपनीयता का पूर्णतः पालन करता रहूंगा।

खुदीराम बोस को दीक्षा दी थी हेमचन्द्र कानूनगो ने। स्वयं हेमचन्द्र को दीक्षित किया था अरविन्द घोष ने। हेमदा पर अरविन्द का अटूट विश्वास था।

और क्या था यह 'आनन्दमठ? मेदिनीपुर में एक छोटा-सा जीर्ण-शीर्ण इकमंजिला घर। दीवारों से 'खर-खर' गिरती लोनी मिट्टी की तीन हाथ लम्बी प्रतिमा हाथों से गढ़कर रख ली जाती थी। यही हुई मां, काली मां, जगजननी, विश्वम्भरा, असुर-संहारिणी, खड्ग-हस्ता। मां के चरणों में एक पुरानी फटी चटाई पर बैठे हैं हेमदा (हेमचन्द्र कानूनगो), खुदीराम बोस, सत्येन्द्र बोस, निरापदराय। निरापद मैली सी ऊंची धोती पहने हैं, कंधे पर है केवल पुरानी फटी चादर। किन्तु जब कहो, जहां कहो, चलने और जूझने को तत्पर। सत्येन्द्र बोस अरविन्द के मामा का पुत्र, समर्पित विप्लवी। मेदिनीपुर की कचहरी में बाबू हैं। दमा है, खांसता रहता है। दुबली, ठिगनी, श्यामल देहयष्टि, मगर अदम्य कर्मठता से पूर्ण। नेत्र प्रतिभा-दीप्त। अरविन्द के अनुज बारीन्द्र घोष और सहयोगी देउस्कर ऐसे लड़कों की खोज में गांव-गांव भटकते। फिर उन्हें किसी 'आनन्दमठ' में मां के चरणों में ला बैठाते और प्रतिज्ञा कराकर अग्नि-पथ का सहयात्री बनाते।

अरविन्द ने अंग्रेजी में पद्यमय गद्य में लिखा 'भवानी मन्दिर', जिसका बंगला रूपांतर हुआ 'सोनार बांग्ला'। उनकी एक और पुस्तक थी 'नो काम्प्रोमाइज' (समझौता नहीं)। दोनों गुप्त रूप से छापी गई थीं । 1906 में खुदीराम ने सत्येन्द्र बोस की प्रेरणा से मेदिनीपुर की जेल में लगी प्रदर्शनी में दोनों की प्रतियां वितरित कीं। उसे गिरफ्तार कर लिया गया। परन्तु वह पुलिस को पीटकर भाग निकला। सत्येन्द्र की पैरवी से कानून से बच भी गया। लेकिन इस चक्कर में सरकार ने सत्येन्द्र बोस की नौकरी छीन ली। सत्येन्द्र ने कोई सफाई न दी।

विप्लवी समिति बंग-भंग को समाप्त करवाने में प्राणपण से संलग्न थी। विदेशी-बहिष्कार के साथ ही सशस्त्र प्रतिकार उसका मार्ग था। स्वामी विवेकानन्द के अनुज डॉ॰ भूपेन्द्रनाथ दत्त का बंगला दैनिक 'युगान्तर', अरविन्द का अंग्रेजी अखबार 'वंदे मातरम्' और ब्रह्मबांधव उपाध्याय का बंगला दैनिक 'संध्या' निरन्तर सशस्त्र क्रान्ति का आह्वान कर रहे थे। इन तीनों पत्रों पर ब्रिटिश दमन का दुधारा चल गया।

उन दिनों अखबारों पर सम्पादक का नाम प्रकाशित होना जरूरी नहीं था और 'वंदे मातरम्' भी विना सम्पादक के नाम के ही छपता था। मुकदमा चलने पर अरविन्द तो बच गए, मगर सम्पादक के नाते विपिनचन्द्र पाल को और प्रकाशक अपूर्व कृष्ण बोस को छह महीने की सजा हो गई। 'युगान्तर' के सम्पादक के नाते डां. भूपेन्द्रनाथ दत्त को चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट किंग्सफोर्ड ने डेढ़ वर्ष की जेल दे दी। प्रेस जब्त हो गया। उसके मालिक हरिश्चन्द्र घोष भूमिगत हो गये। 'युगान्तर' मात्र अखबार नहीं था, उसके साथ क्रांतिकारियों का एक पूरा दल जुड़ा हुआ था।

सरकार के भेदिये अभी तक यह नहीं सूंघ पाए थे कि यही 'युगान्तर दल' मानिकतल्ला (कलकत्ता) में बम का कारखाना भी चलाता है, जिसके अध्यक्ष हैं अरविंद घोष। कारखाना जून 1907 से चल रहा था। बम-निर्माता टुकड़ी में हेमचन्द्रदास कानूनगो, सेनापति बापट, इन्द्रनाथ नंदी, प्रभाषचन्द्र देव और चद्रकांत चक्रवर्ती आदि थे। इन में से हेमदा और बापट विदेशों में बम बनाना सीखकर आए थे। हेमदा ने तो इस प्रशिक्षण के लिए अपनी पुश्तैनी जमीन आदि सभी कुछ बेच दी थी।

कलकत्ते के चीफ प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट किंग्सफोर्ड के अत्याचारों की सीमा न रही थी। उसने अखबारों पर बार-बार मुकदमे चलाए। उत्साही तरुण विप्लवी सुशीलकुमार सेन को उसने पंद्रह बेंत लगवाए थे। सुशील का कसूर यह था कि किंग्सफोर्ड की अदालत में एक राजनीतिक मुकद्दमे की पेशी के समय प्रदर्शनकारी छात्रों पर जब अंग्रेज घुड़सवार छोड़ दिये गये तो उसने एक अंग्रेज अश्वारोही को घोड़े से खींचकर दबोच लिया था और पीटा था। किंग्सफोर्ड ने इसके बदले में उसे पंद्रह बेंत लगवाए थे। उस दिन 15 अगस्त था। इस घटना के बाद अरविंद ने तय किया कि किंग्फोर्ड को दंडित किया जाए। उन्होंने इस काम के लिए खुदीराम को मेदिनीपुर से बुलवाया। खुदीराम का नाम उन्हें सुझाया था हेमदा ने।

खुदीराम को बुलाने के पहले भी किंग्सफोर्ड को बम से मारने की एक चेष्टा विप्लवी कर चुके थे। किंग्सफोर्ड कलकत्ते के गार्डन रीच में एक बंगले में रहता था। अरविन्द के आदेश से एक दिन परेश मौलिक उस गोरे मजिस्ट्रेट के चपरासी को एक बृहद ग्रंथ थमा आया कि साहब को दे दो। पुस्तक के पन्ने भीतर से काटकर उसमें इस तरह बम फिट किया गया था कि पुस्तक को खोलते ही बम फट जाए। चपरासी ने पुस्तक साहब की मेज पर रख दी। किंग्सफोर्ड ने सोचा कि उसकी कोई पुस्तक किसी ने वापस की है और उसे बिना खोले वैसे ही सन्दूक में रख दिया।

सरकार जानती थी कि किंग्सफोर्ड ने सम्पादकों और सुशील सेन सरीखे युवकों को जिस तरह दण्डित किया है, क्रांतिकारी दल उससे खफा है और वह उसे बख्शेगा नहीं। अतः उसने उसे सेशन और जिला जज बनाकर कलकत्ते से मुजफ्फरपुर (बिहार) भेज दिया। इस तबादले में वह संदूकबंद पुस्तक भी मुजफ्फरपुर पहुंच गयी। इस तरह किंग्सफोर्ड उस वक्त मरने से बच गया।

अब उसका वध करने के लिए अरविन्द ने खुदीराम और प्रफुल्ल चाकी को मुजफ्फरपुर भेजा। दोनों को दो रिवॉल्वर दिये गये और एक बम भी, जो उल्लासकर दत्त और हेम दा ने बनाया था। खुदीराम को प्रफुल्ल का नाम बताया गया था—दिनेशचन्द्र राय।

प्रफुल्ल को ऐसे कामों का पहले अनुभव भी था। बंग-भंग के प्रबल समर्थक, बंगाल के छोटे लाट सर एंड्र्यू फ्रेजर को बम से उड़ाने के जो तीन प्रयास तब तक किए गए थे, उनमें से दो में प्रफुल्ल ने बारीन्द्र घोष के साथ भाग लिया था। उससे पूर्व वह अरविन्द के आदेश से दार्जिलिंग भी गया था। बाद में कलकत्ते में ही फ्रेजर को दिन-दहाड़े गोली मार दी गयी और इस मामले में छात्र जितेन्द्रनाथ राय को दस साल की सजा भी मिली।

खुदीराम और प्रफुल्ल मुजफ्फरपुर पहुंचे। वहां धर्मशाला में खुदीराम ने अपना नाम दुर्गादास सेन दर्ज कराया और प्रफुल्ल चाकी ने दिनेशचन्द्र राय। यह धर्मशाला महाता वार्ड स्टेट की थी। वहां से प्रफुल्ल ने बारीन्द्र घोष को कलकत्ता चिट्ठी लिखी, 'हमने वर (किंग्सफोर्ड) का घर देखा, बहुत सुन्दर है, मगर अभी तक खुद वर महोदय की झलक नहीं पायी।'

काश! ये युवक किंग्सफोर्ड को भी पहले से ठीक से देख और पहचान पाते। किंग्सफोर्ड के पास लाल रंग की फिटन थी, जिसमें बैठकर वह प्रतिदिन निकटस्थ यूरोपियन क्लब जाता था और काफी रात घर लौटता था। वैसी ही फिटन वहां के केनेडी नामक अमेरिकी वकील की भी थी और वह भी उसी क्लब में जाता था।

30 अप्रैल की रात, अमावस्या का अंधेरा। यूरोपियन क्लब के गेट पर बम और रिवॉल्वर से लैस दोनों विप्लवी किंग्सफोर्ड की राह देख रहे थे। 8 बज गए थे। लाल रंग की फिटन आई। खुदीराम ने उस पर बम फेंक दिया। गाड़ी ध्वस्त हो गई। गाड़ीवान

जख्मी हुआ। लेकिन किंग्सफोर्ड वहां कहां था! वह फिटन थी केनेडी वकील की। उसमें सवार थीं केनेडी परिवार की दो महिलाएं। वे मारी गईं। दुर्भाग्य!

खुदीराम और प्रफुल्ल चाकी तुरन्त वहां से अलग-अलग रास्तों से समस्तीपुर की तरफ पैदल चल पड़े। रास्ते का ज्ञान नहीं, अतः खुदीराम रेलवे लाइन के साथ की पगडंडी पर चला। बेनी स्टेशन आते-आते भोर हो गया। वह 25 मील निकल आया था, पर समस्तीपुर अभी सात-आठ मील दूर था। थकान और भूख-प्यास परेशान करने लगी थी। सोचा, किसी दुकान पर कुछ चिउड़ा-चना लेकर खा ले और पानी पी ले। बनिये की जिस दुकान पर वह पहुंचा, उस पर भी मुजफ्फरपुर-बमकांड की ही बातें हो रही थीं। दुकानदार ने एक अजनबी बंगाली लड़के को अस्तव्यस्त, धूलि-धूसरित देखा, तो उसे संदेह हो गया। उसने पुलिस को भेद दे दिया। पानी पीते समय खुदीराम बोस पुलिस से घिर गया। उसने टेंट से रिवॉल्वर निकाल कर चलाने की कोशिश की। किन्तु पुलिस ने उसे शिकंजे में जकड़ लिया। फिर वह उसे मुजफ्फरपुर ले गई।

उधर प्रफुल्ल चाकी पैदल चलते हुए 32 मील का सफर तय करके समस्तीपुर पहुंचा। सभी स्टेशनों को तार से खबर कर दी गई थी कि बमकांड वाले स्टेशनों से गुजर सकते हैं। प्रफुल्ल ने रेल की पटरी छोड़ दी और रेल-कर्मचारियों के क्वार्टरों के बीच से गुजरने का यत्न किया। तभी रेलवे के एक कर्मचारी ने उसका हुलिया देखकर उसे पास बुलाया। वह भांप गया कि जरूर यह उन दो बंगाली लड़कों में से एक है, जिन्होंने मुजफ्फरपुर में बम फेंका है। बड़े स्नेह से वह उसे अपने क्वार्टर में ले गया और पूरे दिन वहां उसे रखा। प्रफुल्ल ने वहीं स्नान और भोजन करके आराम किया। रेल-कर्मचारी ने उसे दूसरे कपड़े दिये, फिर कलकत्ते तक का इंटर क्लास का टिकट खरीद कर रात में उसे गाड़ी में सुरक्षित बैठा दिया। उस जमाने में यह सब बड़े जोखिम का काम था। उत्कट देशप्रेम के बिना यह सब करना किसी के लिए सम्भव न था।

प्रफुल्ल जिस डिब्बे में बैठा था, उसी में एक पुलिस दारोगा भी मौजूद था। उसका नाम था नंदलाल बंद्योपाध्याय। वह मुजफ्फरपुर से आ रहा था। प्रफुल्ल के रंग-ढंग से वह ताड़ गया कि यह क्रांतिकारी हो सकता है। फिर तो वह उसके पीछे ही पड़ गया। प्रफुल्ल ने मौका देखकर डिब्बा बदल लिया। मगर तब तक दारोगा ने अगले स्टेशन को फ़ोन करके पुलिस-दल को सजग कर दिया। मोकामा के प्लेटफार्म पर प्रफुल्ल को पुलिस ने घेर लिया। विप्लवी ने तत्काल दारोगा पर गोली चला दी। पर दारोगा कमर तक सिर झुका कर निशाना बचा गया। और पुलिस प्रफुल्ल को पकड़े, उसके पहले उसने दो गोलियां खुद को मारकर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर ली।

प्रफुल्ल ने प्रथम गोली अपने प्रशस्त ललाट को लक्ष्य करके चलाई थी, दूसरी छाती पर। मुजफ्फरपुर रवाना होने के पूर्व ही दोनों लड़कों ने कह दिया था कि 'अगर पकड़े जाने की नौबत आई तो हम खुद को गोली मार लेंगे, ताकि पुलिस हमसे कोई भेद उगलवा न सके।' उसी निश्चय को अब प्रफुल्ल ने कार्यान्वित किया था। फिर

भी पुलिस ने सिर धड़ से अलग कर लिया। खुदीराम ने शिनाख्त के वक्त जब यह कटा हुआ रक्त-सना सिर देखा होगा, तब क्या सोचा होगा?

आगे चलकर पुलिस-इंस्पेक्टर नंदलाल को कलकत्ते में एक विप्लवी ने गोली मार दी।

खुदीराम पर मुकदमा चला। जिला जज कर्नडक ने उससे पूछा, 'खुदीराम, तुम्हें कुछ कहना है?' तरुण विप्लवी बोला, 'जी हां। मैं बम के विषय में कुछ बताना चाहता हूं।' और उसने स्वीकार किया, 'बम मैंने ही फेंका था और मैं फांसी चढ़ने में गर्व समझूंगा।'

अंग्रेज जज स्तब्ध! कुछ क्षण बाद उसने कहा, 'खुदीराम! तुम समझते भी हो कि यह क्या कह रहे हो? जानते हो इसका अंजाम क्या होगा?'

खुदीराम ने कहा, 'वह तो मैं काफी पहले, आपसे भी पहले समझ चुका हूं।'

फांसी की सजा सुना दी गई। सुनकर खुदीराम ने जज को धन्यवाद दिया। उसकी निश्चिन्त मुख-मुद्रा देखकर अंग्रेज जज ने हैरानी के साथ पूछा, 'खुदीराम, क्या तुम्हें इस तरह मरने का दुःख नहीं है?'

उत्तर मिला, 'मुझे दो बातों का दुःख है। एक इस बात का कि आततायी किंग्सफोर्ड बच गया और उसके बजाय दो गोरी महिलाएं मारी गईं। दूसरा दुःख इस बात का है कि जब मेरी बहन को पता चलेगा कि खुदीराम यह सब करता था और वह नहीं रहा तो उसे संताप होगा।'

वस्तुतः खुदीराम को उसकी बड़ी बहन अनुरूपादेवी ने ही पाला और पढ़ाया था। मां-बाप तो उसे छह साल की उम्र में ही अकेला छोड़ गये थे।

कूका-क्रांति के नेता गुरु रामसिंह

'पंथ प्रकाश' का प्रमाण है कि एक दिन गुरु गोविन्दसिंह ने गुरु बालकसिंह को स्वप्न में दर्शन दिये और यह वाणी मुखरित हुई कि–

मेरो अवतार अंस रामसिंह हूवै भरै।

अन्य ग्रंथ 'सौ साखी' में भी प्रमाण प्राप्तव्य है कि गुरु नानकदेव के 12वें अवतार गुरु रामसिंह थे। लिखा है–

रिलपुर बीच वाढ़ी सुत होई।
बलुआ राज करेगा सोई ॥
रामसिंह मेरो होई नामा।
वाढ़ी सुत भैणी को धामा ॥

रामसिंह उठे नीचन डरै।
अवनी एक रसौदी करै ॥
उठे रखक देसन को दूलो।
सब राजन को पट दे भूलो ॥
कलयुग में सतयुग बरताऊं।
तवै बारवां बप कहाऊं ॥
जाही कुल ते ऊपजे, ताही कुल को नाम।
पुन्न दुआदस गुरिंड को, मेरी है परणाम ॥

पुनः 'पंथ प्रकाश' में लिखते हैं—

सोई नेत फुरि आई संवत बहत्तरे में,
माघ सुदी पंचमी सवेरे गुरुवार कै।
जिले लुधियाने गाम भैणी नाम जाने,
आय अवतरै सिंह राम कलमलै टार कै ॥
जात तरखान जस्से नाम के अवस्से घर,
सदा मातसे प्रकासे नाम परचार कै ॥
वालक ही पन से थे ईश्वर को मनसे थे,
ध्यावते सगनसे थे जनों सुधार कै ॥

इस पद के अनुसार गुरु रामसिंह संवत् 1872 विक्रमी (सन् 1815), माघ शुक्ल पंचमी दिन गुरुवार को प्रभात वेला में माता सदाकौर जी की कोख से जन्मे। पिता थे बाबा जस्सासिंह तरखान। गांव का नाम राड़ियां, जिला लुधियाना (भैणी के समीपस्थ)। जन्म के बाद मां-बाप राईयां से चलकर भैणी में ही बस गये। इसलिए रामसिंह का बचपन भैणी में ही बीता। यही स्थान आज भी 'भैणी साहब' नाम से विख्यात है।

शहीदे आजम सरदार भगतसिंह गुरु रामसिंह का जन्मकाल सन् 1824 मानते हैं और जन्म-स्थान भैणी नगर।

तरुण होकर रामसिंह महाराज रणजीतसिंह की खालसा फौज में भर्ती हुए। उनका मन भगवद्भजन में रमता था। सेना में वे जम नहीं रहे थे। संवत् 1898 चल रहा था। इन्हीं की खालसा फौज हजरो पहुंची। हजरों फैजलपुर में है। रामसिंह भी उस फौज में थे। 11वें गुरु बालकसिंह जी इन दिनों हजरों में ही ठहरे थे तथा नाम-प्रचार में संलग्न थे। यहां उनके भाई का घर था। रामसिंह सत्संग-प्रेमी थे। सेना से जो वक्त बचता, उसे वे सत्संग में ही व्यतीत करते। तभी उन्हें गुरु बालकसिंह जी के वहां होने की खबर मिली। बड़े खुश हुए और उनसे मिलने आ गये। दोनों के नेत्र मिले, दिल मिले। और तत्काल गुरु बालकसिंह भांप गये कि अरे, ये तो वही हैं जिनके लिए हमें गुरु गोविन्दसिंह का संदेश प्राप्त हुआ है। पहचान गये। बड़े प्रसन्न हुए। गुरु गोविन्दसिंह

की वाणी उन्हें सुनाई। बस, रामसिंह तो मानो उसके लिए पहले से ही तैयार थे। सेना की नौकरी त्याग दी तथा आप भी अब नाम-प्रचार में लग गये। परन्तु जीविका के लिए भी कुछ तो चाहिए। मांग कर खाना तो उचित नहीं। यह सोचकर भैणी में लोहे-कपड़े की दुकान कर ली। तभी एक दिन आपने आकाशवाणी सुनी कि—

'पंथ गुरु दसम की रस्म बढ़ाओ जग। खसम का खालसा है खास मोखायके।'—अर्थात् 'रामसिंह! उठो। दशमेश के खालसा को यह शिक्षा दो कि उसमें अनुशासन चाहिए। खालसा बिना मुखिया के नहीं है।'

एक दिन रामसिंह पर वैराग्य का ऐसा गहरा रंग चढ़ा कि भक्ति की तन्मयता और मस्ती में आपने अपनी पूरी दूकान का माल भक्तों में बांट दिया। अपने लिए कुछ न छोड़ा। चतुर्दिव ख्याति फैली। मालवे दोआबे सब तरफ से लोग इनके पास आते। नाम सुनते। वे भी उसी मस्ती में रंग जाते। उच्चस्वरेण भगवान का नाम पुकारते। इस कारण ये 'कूके' कहे जाने लगे। कहा है—

सही नामधारी आहि तिनको उदासी,
कूक मारने ते कूके जगत बखाने हैं।

—'कूके या कूका' नाम पड़ने का यही रहस्य है। नाम-प्रचार के कारण 'नामधारी' कहे गये।

गुरु रामसिंह के प्रभाव से, संपर्क और सदुपदेशों से अनेक दुष्ट-दुराचारी भी महात्मा पद को प्राप्त हुए। वाणी में ऐसी शक्ति थी कि जिसको शब्द सुनाया, कुछ शिक्षा दी कि इनका शिष्य बन गया। कहते हैं, ये जिस किसी के कान में भी केवल नाम या कि शब्द (मंत्र) सुनाते थे, उसका काया पलट हो जाता था। वह बड़ा आदमी बन जाता था। दोष दूर हो जाते थे। उसमें दैवी शक्ति का भी आभास होता था। डॉक्टर गोकुलचन्द्र नारंग पंजाब के एक नेता थे। उनकी पितामही का एक भाई था। बिगड़ा हुआ लड़का था। चौके में भोजन के समय ही हुक्का पीता जाता। एक बार उसे गुरु रामसिंह मिल गये। उसे भी शब्द सुनाया। उसी क्षण से उसका जीवन बदल गया। त्यागी-विरागी जीवन बिताने लगा। जो देखता, अचरज करता। जहां जाता वहां विलक्षण शक्ति का बोध होता। ऐसी ही शक्तिपात की सामर्थ्य थी गुरु रामसिंह में। डॉ. नारंग साक्षी देते हैं कि एक आदमी हत्यारा था। सजा से बच गया था क्योंकि उस पर अभियोग सिद्ध नहीं किया जा सका था। कहीं उसकी भेंट गुरु रामसिंह से हो गई। उसे भी गुरुजी ने शब्द सुनाया। फिर क्या था! उसमें बड़ा परिवर्तन आ गया। हत्या के कई साल गुजरने के बाद भी वह जिला मजिस्ट्रेट के पास सीधा चला गया। बयान दिये कि किस तरह उसने हत्या की थी।

कुछ साक्षियां भाई परमानन्द ने भी संजोई हैं कि 'पंजाब में यह धारणा सर्वव्याप्त थी कि गुरु रामसिंह के पास एक बार भी जो गया, उनसे नाम सुना कि वह जीवन-

भर के लिए उनका अनुगत हो गया। एक दिन दो कुख्यात रंगरेज गुरुजी के पास इस इरादे से पहुंचे कि उनको कसौटी पर जांचें-परखें। लेकिन गुरुजी से भेंट होते ही पल भर में वे दोनों रंगरेज कुछ के कुछ हो गये। एकदम बदल गये। गुरुजी से शब्द सुनकर वे सत्यनिष्ठ श्रेष्ठ नागरिक बन गये। '

बकौल सरदार भगतसिंह के कालान्तर से गुरु रामसिंह को एक रोज रामदास नाम का एक साधु मिला। उसने कहा, 'व्यक्तिगत आनन्द-लाभ का यह समय नहीं। बिना राजनीतिक स्वतंत्रता के धार्मिक स्वतंत्रता कितने दिन टिकेगी? देश पराधीन है। लोगों में कर्मण्यता, कर्त्तव्यनिष्ठा जगाकर इसे स्वतंत्र कराओ।' भगतसिंह लिखते हैं, 'इन रामदास का जिक्र अंग्रेजों के रिकार्ड में है।' फिर वे रामदास कहां लुप्त हो गए, कोई पता नहीं मिलता। भगतसिंह ने लिखा है कि 'लोगों का कहना है कि उन्होंने (रामदास ने) रूस की ओर प्रस्थान कर दिया था। तब से गुरु रामसिंह ने राजनीतिक चेतना जगाने का बीड़ा उठाया। 'नामधारी' नाम से उनका संगठन या कि संप्रदाय ही पृथक् बन गया। उन्होंने देश में पहले-पहल असहयोग आंदोलन को जन्म दिया। अदालतों, शिक्षा संस्थानों, रेल-तार-डाक की सरकारी व्यवस्था व सेवा का बहिष्कार करने का आह्वान किया। उस जमाने में यह बड़ी बात थी। खुला विद्रोह था। अंग्रेज सरकार के होश उड़ गये। वह गुरु रामसिंह के पीछे पड़ गई। उन पर प्रतिबंध लगा दिये। फलतः गुरुजी का कार्य-प्रचार गुप्त तरीके से चलने लगा। नामधारियों की संख्या तीन लाख हो गई, जिनका प्रण था कि सरकारी नौकरियों का बहिष्कार करेंगे। सरकारी स्कूलों-कॉलेजों का बहिष्कार करेंगे। अदालतों का बहिष्कार करेंगे। विदेशी वस्त्र नहीं पहनेंगे। जो सरकारी कानून अनुचित लगेंगे, उन्हें कतई न मानेंगे। यह बहिष्कार आंदोलन व्यापक बन सके, इस उद्देश्य से गुरु रामसिंह ने पंजाब को 22 जिलों में बांटा। उन सबमें अपना एक-एक प्रधान नियुक्त किया। वे संगठन के विस्तार में लग गये। गो-रक्षा कार्यक्रम को उन्होंने प्रधानता दी। पता नहीं, अंग्रेज सरकार को क्या सूझा या उस पर क्या चमत्कारिक प्रभाव पड़ा कि उसने गुरु रामसिंह तथा उनके संगठन से प्रतिबंध हटा लिये। फिर तो कार्य और भी वेग से बढ़ा। लोग दीवाने-से हो गये उस काम में।'

दीवाली आई तो गुरु रामसिंह अमृतसर पधारे। साथ में बीस हजार नामधारी सिख भी थे। जहां चाटी विण्ड गेट था वहां, आपका खेमा गड़ा। प्रसाद चढ़ाने स्वर्ण मन्दिर पहुंचे परन्तु खेद। मन्दिर के जो कर्ता-धर्ता थे, उन्होंने उनके साथ दुर्व्यवहार किया। कहा, 'तुम तो नीले कपड़े पहने हो, तुम सिख कैसे हो?'

'पंथ प्रकाश' में उस घटना का यों जिक्र है–

प्रसाद भेंट लै अपार जब दरबार,
आयो तो पुजारियों ने कीन्हों कुढंग है।

कोई तो हजार रुपिया रिश्वत मांगै,
कोई तनखाह चार-पांच लाख मंग है ॥
होय के त्रस्त कोऊ कू कान उतारै पग,
सिक्ख न कहावे तेरो धारे नील रंग है।

तब गुरुजी ने कहा—

कही यों रामसिंह एहु बात सब गुरु बस,
शक्ति न मोयें एती फेरों मन ढंग है।

—विवश हो आपने प्रसाद द्वार पर ही रख दिया तथा अरदास निवेदन कर लौट चले। यहां ऊपर छंद में जो 'तनखाह' शब्द आया है, उसका अर्थ 'धार्मिक दण्ड' होता था, वही समझना चाहिए। अर्थात् मन्दिर के ग्रंथियों ने गुरु रामसिंह से मंदिर-प्रवेशार्थ चार-पांच लाख रुपये अर्थदण्ड मांगा, जिसे दे पाने में उन्होंने असमर्थता व्यक्त की।

यही नहीं, जब गुरु रामसिंह मन्दिर-द्वार से ही लौट पड़े तो ग्रंथियों ने उनका अपमान करने की नीयत से प्रसाद के बहाने काला वस्त्र थमा दिया। यद्यपि उन्हें पता था कि काला वस्त्र तो नामधारी पहनते नहीं, परंतु ग्रंथियों ने कहा, 'लो, यह सिरोपा है।' गुरुजी ने आनन्दी मुद्रा में उसी को सिर पर रख लिया, कुछ बुरा न माना। तब भी ग्रंथी (पुजारी) तालियां बजाकर चिढ़ाने लगे ओर कहने लगे—

कूके सिर फूके! कूके सिर फूके।

—अर्थात् 'कूकों का सिर फुंक कर काला हो गया है।'

फिर भी गुरुजी निर्विकार भाव से आगे बढ़ गये। सिर पर वही सिरोपा (काला वस्त्र) रखे हुए।

इन्हीं दिनों अमृतसर में खबर फैली की कि दरबार साहिब के आगे ही अंग्रेज गौएं कत्ल करने के लिए बूचड़खाना खोलने जा रहे हैं। नामधारी गो-भक्ति के लिए प्रसिद्ध थे। उनमें असंतोष भर उठा। दो लोग कृपाण लेकर अमृतसर के बूचड़खाने पर जा धमके। वहां जो कसाई थे, उन्हें काटकर डाल दिया। सभी गौएं मुक्त कर दीं। इस पर शहर में मनमानी पकड़-धकड़ शुरू हो गई। निर्दोष जन भी पकड़े गये। यह घटना सन् 1871 की है। भगतसिंह का कहना है 'कूके वीरों की बूचड़ों से मुठभेड़ अमृतसर जाते हुए हुई, सबको कत्ल करके कूके भैणी की तरफ चल दिये।'

भाई परमानन्द लिखते हैं, 'उन फरार सिखों को बुलाकर गुरु रामसिंह ने कहा, कत्ल तो तुमने किया और पकड़े गये और लोग, जो बिल्कुल बेकसूर हैं। जाओ, खुद को सरकार के हवाले कर दो और निरपराध लोगों को छुड़ाओ।' कूके उनकी बात पर जान देते थे। तुरन्त अदालत में जा उपस्थित हुए। कहा, 'बूचड़ हमने कत्ल किये हैं।'

'पंथ प्रकाश' में ह़वाला है कि–

देन लागे फांसी जब आये खुद कूके तब,
कत्ल सबूत आप लिये सब तौर पे।
खुशी होय दिये शीस, गये ईस लोक माहिं.......

लोकभाषा हिन्दी में अंकित ये शब्द अतीव प्रेरणास्पद हैं, गौरवास्पद भी, कि गौवों के लिए उन सिख भाइयों को शीशदान करते कितनी खुशी हुई। युगों-युगों यह बलिदानी परम्परा संसार को आदर्शों के लिए पुकारती रहेगी। जो आज भासमान है, वह कल नहीं रहेगा। शासन बदलते रहेंगे और हम-आप विस्मृति के अनन्त उदधि में तिरोहित हो जायेंगे लेकिन यह शहीदी शृंखला प्रलय के स्तरों को भी चीरकर देश-विदेश के क्षितिज को, दिग्दिगन्त को मानुष को अपनी ओर खींचती रहेगी। बलिवेदी के नित नये शृंगार के लिए। सिख गुरु जब अपने किसी स्वजन को, प्रिय को बलिदान हेतु बिदा देते थे तो कहा जाता था–उसका 'सिंगार' अपने हाथों किया। उस शृंगार की शोभा अनुपमेय है। अंग्रेजों का दमन-चक्र घूमा और गुरु रामसिंह भैणी में ही नजरबंद कर दिये गये। फरमान जारी किया अंग्रेजों ने कि 'आप भैणी साहब की सीमा से नहीं निकलेंगे।' ऐसे सद्गुरु पर भी दमन-दुधारा, आखिर अंग्रेजों को उनकी शक्ति का बढ़ना कैसे बर्दाश्त होता?

फिर आया सन् 1872। 13 जनवरी को भैणी में माघी का मेला पड़ा। झुंड-के-झुंड कूके भैंणी चल पड़े। मार्ग में एक मुस्लिम रियासत पड़ी मालेरकोटला। एक कूके का एक मुसलमान से विवाद हो गया। मुस्लिमों ने उसे मारा-पीटा और उसके सामने ही एक गाय को पटक कर काट दिया। यह वर्णन सरदार भगतसिंह के दस्तोवेजों से दे रहा हूं अन्यथा अन्य इतिहास-ग्रंथों में दर्ज है कि 'मालेर कोटला के बाजार में एक बलिष्ठ मुसलमान गाड़ीवान बैलों को पीटता ले जा रहा था। गाड़ी पूरी लदी थी। एक कूके ने उसे मना किया कि बैल को इतना क्यों पीटते हो? उस पर विवाद बढ़ा और पुलिस ने दोनों का चालान कर दिया। कोतवाली जाने पर वहां मुस्लिम कोतवाल ने कहा, 'उस बैल को इसके सामने काट दो। 'बैल कतल कर दिया गया। कूका वहां से रोता-चीखता भैणी आया। गुरुजी को पहले ही यह सब विदित हो चुका था। उन्होंने दरबार बुलाया। समझाया, 'सब्र करो।' तभी वह भुक्तभोगी कूका वहां आ गया। उसका विलाप सुनकर सभी कूके रोष से भर गये। जिद करने लगे कि 'जिस दिन के लिए हमारी तैयारी चल रही है, वह दिन आ गया। विप्लव शुरू कर दें।' गुरुजी ने फिर भी मना किया। कहा, 'अभी हमारी इतनी तैयारी कहां हो पाई।' पर दरबार के 154 लोग किसी तरह नहीं माने। उन्होंने क्रांति का उसी दिन शंखनाद गुंजा दिया। गुरु रामसिंह ने तत्काल पुलिस को संदेश भेजा। 'इन कूकों से अब मेरा संबंध नहीं। ये जो भी करें उसकी जवाबदेही मुझ पर न होगी।' वे सोचते थे, इस युक्ति से कूका संगठन बच

सकेगा तथा आगे तैयारी पूर्ण होने पर क्रांति शुरू की जायेगी।

उधर उन 154 कूकों ने मलौंध दुर्ग पर धावा बोलकर तोप, तलवारें तथा घोड़े लूट लिये। सरदार भगतसिंह लिखते हैं, 'इस दुर्ग के सरदारों ने पहले उन कूकों का साथ देने का वादा किया था लेकिन जब देखा, ये तो थोड़े ही हैं तो वे मुकर गये। इस पर कूकों ने वह किला ही लूट लिया ताकि अगली योजना के लिए हथियार मिल सके। दूसरे दिन भोर बेला में सब मालेरकोटला में घुस आये। महल पर छापा मारा। पहरेदारों से युद्ध हुआ। खजाने पर धावा बोला। अंग्रेजों की पुलिस से भी युद्ध हुआ। कूके बहादुरी से जूझे। लड़ाई पटियाला के रढ़ गांव तक फैल गई। वहीं युद्धरत 68 कूके पकड़े गये। दूसरे दिन उनमें से 50 कूके मालेरकोटला में तोपों से उड़ा दिये गये। वहां इसके लिए आदेश दे रहा था लुधियाना का डिप्टी कमिश्नर कॉवन। एक-एक कूका वीर 'जय' बोलता हुआ तोप के सामने बारी-बारी से आता और तोप के गोले के साथ उसकी धज्जियां हवा में बिखर जातीं। 49 कूके जब बलि चढ़ चुके तो 50वां कूका आया—एक तेरह वर्षीय बालक। श्रीमती कॉवन ने उसे देखा तो कॉवन से सिफारिश की कि इस बच्चे को माफ कर दें लेकिन कॉवन ने गुरु रामसिंह के खिलाफ बकते-झकते हुए उस बच्चे से कहा, 'तुम्हें कहना होगा कि तुम उस गुरु के शिष्य नहीं हो, तभी रिहा किये जाओगे।' बालक को अपने नेता का अपमान सहन नहीं हुआ। वह जोर लगाकर पहरेदारों के बंधन से निकल भागा और दौड़कर कॉवन की दाढ़ी दबोच ली तथा तब तक न छोड़ी जब तक तलवार से उसके दोनों हाथ काटकर उसे वहीं कत्ल नहीं कर दिया गया।

बाकी अठारह कूके दूसरे दिन मलौंध में फांसी देकर मार डाले गये परन्तु वे सभी अपार हर्षनाद गुंजाते हुए फांसी चढ़े थे। जैसे वह कोई उत्सव हो या पर्व। इस तरह वे 68 वीर बलिदान हो गये। 1818 रेगुलेशन एक्ट में गुरु रामसिंह भी गिरफ्तार हुए और उन्हें अंग्रेजों ने बर्मा की जेल में निर्वासित कर दिया। उस महाप्राण की सन् 1885 में वहीं इहलीला समाप्त हुई तथा इस तरह बड़े भाई वाले वाली 'जन्म-सार्खी' की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई कि—'भाई अजितिआ, बारवांजामाजद गुरु होवेगा, निरलम्भ, सब ते निरलेप, सब दुनिया ते न्यारा रहेगा। अते आपको जनायेगा नहीं और निरमोह होवेगा और आसरा जो लवेगा, इक अकाल पुरुष का लवेगा, ते तिसको कोई लख न सकेगा। सूली शब्द उचारेगा और शब्द कमायेगा और जो सिख होवन गे, तिनको बी शब्द ही दस्सेगा।'

पटना के शहीद पीरअली

बिहार में सत्तावनी क्रांति के प्रथम बलिदानी थे तिरहुत के पुलिस जमादार वारिसअली और दूसरे थे पीरअली। पीरअली मूलतः लखनऊ के रहने वाले थे लेकिन संभवतः व्यवसाय या अन्य किसी कारणवश वे 1857 से कई साल पहले ही पटना आ गये और वहीं रहकर उन्होंने पुस्तकों की एक दुकान कर ली थी। वे पटना में पुस्तक-विक्रेता के नाते ही जाने जाते थे। लेकिन उनकी दुकान में कौन-सी पुस्तकों की प्रमुखता रहती होगी, इसका अंदाजा आसानी से लगाया जा सकता है। क्योंकि आखिर उन्हीं विक्रयार्थ रखी अपनी दुकान की पुस्तकों को पढ़ते-पढ़ते वे क्रान्तिकारियों के साथ कब शामिल हो गये, इसको कोई नहीं जान सका।

भारत की दासता और अंग्रेजों का दमन उन्हें किसी तरह भी सहन नहीं हो रहा था। उन दिनों पटना में अंग्रेज दमनचक्र शुरू कर चुके थे। उसे देखकर पीरअली को

अपना जीवन व्यर्थ लग रहा था। हुआ यह कि दानापुर में अंग्रेजों की छावनी थी और यह जगह या मुहल्ला पटना के पास ही है। यहां सातवीं पलटन रखी गई थी। 12वीं रेजीमेंट भी निकट ही रहती थी। यह घुड़सवार सेना मेजर होम्स के अधीन थी। दानापुर का कमांडर मेजर जनरल लायड था। इसके पास एक अंग्रेज सेना और तोपखाना भी था। पटना का कमिश्नर था टेलर नामक एक अंग्रेज।

जिन दिनों 1857 में दानापुर और पटना में क्रांतिकारियों की गुप्त बैठकें होने लगीं और फौज में भी क्रांति का प्रचार साधु और फकीरों के जरिये शुरू हो गया, उनके नेताओं की जानकारी तो अंग्रेजों को न हो सकी लेकिन वे सजग जरूर हो गये कि कुछ न कुछ होने वाला है। पीरअली ने लखनऊ और दिल्ली के क्रांतिकारियों से अपने संबंध स्थापित कर लिए तथा उनसे पत्र-व्यवहार भी जारी रखा। कमिश्नर टेलर को जब मेरठ छावनी में क्रांति की खबर मिली तो उसे दानापुर की दोनों हिन्दुस्तानी पलटनों पर संदेह होने लगा। फलतः टेलर साहब ने खास पटना के लिए मि. रेट्रे को 200 सिख सैनिकों के साथ भेज दिया।

पटना आने पर जहां कहीं लोग उन सिखों को वर्दी में देखते तो व्यंग्य करते, 'क्या तुम भी फिरंगी हो?' 'तुम कैसे सिख हो?' आदि। यहां तक कि एक दिन ये सिख सिपाही जब पटना के गुरुद्वारे में जाने लगे तो वहां उनका सख्त विरोध हुआ। ग्रंथी ने कहा, 'आप यहां नहीं आ सकते।' वे अपमानित हुए वहां भी।

वारिसअली पटना पुलिस में था। जब वह पकड़ा गया तो उसके पास एक अधलिखा पत्र भी बरामद हुआ जिसे वह गया-निवासी अली करीम के नाम लिख रहा था। अंग्रेज जानते थे, अलीकरीम गदर वालों के साथ है। एक नेता है। इस पत्र के कारण टेलर ने वारिसअली को कटघरे में ला खड़ा किया और उसे राजद्रोह में प्राणदण्ड दिया गया। जब वह फांसी के लिए ले जाया जाने लगा, उस क्षण उसने बहुत उत्तेजना के स्वरों में पुकार कर जनता से कहा—'कोई है जो मुझे इन दरिन्दों से नजात दिलाये?' लेकिन कौन था ऐसा वहां? उसकी व्याकुल आवाज सिर्फ हवा में तैरती रह गई। वह शहीद हो गया।

कोई गैर नहीं

आगे वारिसअली की चिट्ठी को ही आधार मानकर अली करीम को अंग्रेजों ने लक्ष्य बनाया। मि. लुइस के हमराह गोरों का एक दस्ता अली करीम को पकड़ लाने गया पहुंचा। लेकिन वह क्रांतिकारी नेता सतर्क था। हाथी पर बैठकर फरार हो गया। फिर क्या था! आगे-आगे गजारूढ़ अली करीम, पीछे लुइस के गोरे सैनिकों की दौड़। यह प्रतियोगिता देर तक चली। सड़क पर दोनों तरफ दर्शकों की भीड़ आ जुटी। उनकी हमदर्दी क्रांतिकारी के साथ थी। अतः जितना वे गोरों को तंग कर सकते थे, करने से बाज न आते। जब अली करीम का हाथी दूर निकल जाता और मि. लुइस और उनकी

गोरी टुकड़ी रास्ता भटक जाती तो पूछने पर किसान उन्हें भ्रम में डाल देते। गलत राह बताकर उन्हें चकमा दे जाते। यही नहीं, उनमें यह भी साहस था कि कोशिश करके वे उन गोरों के पथ में बाधा डाल देते ताकि अली करीम का हाथी दूर निकल जाये। नतीजा यह हुआ कि मि. लुइस के छक्के छूट गये और क्रांतिकारी का हाथी दूर निकल गया। तब पस्त होकर लुइस साहब ने एक हिन्दुस्तानी अफसर को यह काम सौंपा कि वह अली करीम का पीछा करे और जैसे भी हो सके, गिरफ्तार कर लाये। लुइस को क्या पता था कि वह भारतीय नायक भी क्रांतिकारियों से अन्दर मिला हुआ है और निश्चित तिथि के इंतजार में है। हुआ यह कि वह भारतीय फौजी अपने सिपाहियों सहित अली करीम के करीब पहुंच भी गया, उसे रोका और कहा, 'तुम भागते क्यों हो? हम तुम्हारे दुश्मन नहीं। अपने आदमी हैं। तुम देखोगे, एक दिन जल्दी ही हम इन फिरंगियों को ठिकाने लगा देंगे। जाओ, कोई तुम्हें हाथ न लगायेगा। जहां मर्जी हो, निकल जा सकते हो।'

अली करीम चकित, प्रसन्न। क्या खूब! तो यह भी गैर नहीं, गोरों का नहीं, हमारा अपना है। साफ निकल गया हाथी भगाता हुआ वह विप्लवी और वह फौजी नायक हाथ झाड़ता मि. लुइस के आगे जा खड़ा हुआ। बोला, 'साहब, असामी हाथ नहीं आया, बड़ी भाग-दौड़ की। कुछ पता न चला।'

टेलर की चाल

लुइस ने उसकी ओर देखा और फिर मौन बैठे रहे। एक दिन कमिश्नर टेलर को खबर लगी कि तीन ऐसे मौलवी हैं जिनके घर क्रांतिकारी इकट्ठे होते हैं, बैठक और योजनाएं तय होती हैं। उसने बहाने से पटना के अनेक गण्यमान्य लोगों को अपने बंगले पर आमंत्रित किया, मानो केवल भोज और भेंट-मुलाकात ही प्रयोजन हो। सभी आमंत्रित आये, क्योंकि कमिश्नर साहब ने न्यौता दिया था। उसे सभ्य समझा परन्तु जब मेहमान उसके यहां से विदा होने लगे तो उसने उन तीनों मौलवियों से कहा, 'जरा आप लोग ठहर जायें।' उस वक्त मि. टेलर खूब प्रसन्न नजर आ रहे थे, हंस रहे थे, उसका राज कोई समझता भी क्या? वे तीनों रुक गये। फिर थोड़ी देर बाद टेलर ने फरमाया, 'आप लोग सरकार के कैदी हैं। क्योंकि इस फिज़ा में शहर में आप लोगों का आजाद रहना खतरनाक समझा जाता है।' वे तीनों नेता जेल भेज दिये गये।

फिर उसी कमिश्नर ने एक फर्मान जारी किया कि 'पटना का कोई भी निवासी रात नौ बजे के बाद घर से बाहर नजर आया तो जेल भेज दिया जायेगा। और जिस आदमी के भी पास कोई बंदूक-पिस्तौल या तलवार भाला हो वह जब्त कर लिया जाए।' इस आदेश से जनता में बड़ी बेचैनी फैली। दानापुर की पलटन और पटना के क्रांतिकारी उस तारीख की प्रतीक्षा में थे कि क्रांति का शंखनाद होते ही वह गोरों का

संहार शुरू कर देंगे। वह समय अभी आया नहीं था, फिर भी पुस्तक-विक्रेता पीरअली का धीरज टूट गया। उसने सोचा, 'अब इंतजार क्या करना! गोरों पर चढ़ाई ही कर दें।'

इंतजार खत्म

उसने अपने मकान पर कई क्रांतिकारियों को इकट्ठा किया। बैठक की, और तिथि तय करके एक छोटा-सा दल संगठित कर लिया। इसमें 200 क्रांतिकारी थे। 3 जुलाई को ये लोग हथियार और झंडा लेकर पटना के रास्तों पर आ खड़े हुए। वे सीधे पटना के गिरजाघर पहुंचे। मि. लायल एक टुकड़ी लेकर उनसे युद्ध करने आगे बढ़े। पीरअली ने उसे गोली मार दी। गोरा अफसर एक ही गोली में ढेर हो गया। और संसार से कूच कर गया। क्रांतिकारी दल ने उसकी बोटी-बोटी काटकर रास्ते में बिखरा दी। जैसे वे शहीद वारिसअली का बदला चुका रहे हों।

फिर मि. रेट्रे एक बड़ा दल लेकर वहां आये। युद्ध हुआ। क्रांतिकारी कम थे। शस्त्र भी ठीक न थे। अनेक क्रांतिकारी पकड़ लिए गये, पीरअली भी। उन पर अभियोग लगा कि 'उसने लोगों को हथियार दिये हैं और गदर के लिए उकसाया है।'

'बको मत'

पीरअली को फांसी की सजा सुनाई गई। हाथों में हथकड़ी, पांवों में बेड़ियां कस गईं। गोरे उन बेड़ियों को पीरअली के पांवों में इतनी शक्ति से दबा रहे थे कि वे उनके मांस में चुभ गई थीं। अंग्रेजों ने पीरअली से कहा, 'अपने पूरे दल के नाम बता दो, माफ कर दिये जाओगे।'

पीरअली ने कहा था, 'बको मत। मैं किस्मत वाला हूं कि यह शानदार मौत गले लगाऊंगा।' निःसंदेह पीरअली, फांसी के लिए जब ले जाया जाने लगा तो हंसा था। लेकिन जब उसके सामने उसका बेटा आया तो उसका नाम लेते-न-लेते उसका कंठावरोध हो आया। कुछ कह न सका। सिर्फ बेटे का नाम मात्र उसके होंठों तक आकर रह गया और फिर वह तेज कदमों से फांसी की तरफ बढ़ गया—घूमकर भी नहीं देखा।

वारिसअली के बाद बिहार में यह दूसरा शहीद था, लेकिन वह ऐसा पथ प्रशस्त कर गया, जिस पर आने वाले समय में शहीदों का मेला चल पड़ा, एक रेला आ गया। होड़ लग गई शीशदान की। पीरअली यही तो पुकारता रहा था। उसका बलिदान विफल नहीं हुआ। फिर उसी बिहार की कोख से बाबू कुंवरसिंह आये। दानापुर की दोनों पलटनें आईं, बैरकपुर में मंगल पाण्डे पहले ही आये थे, फांसी चढ़ने बैकुण्ठ शुक्ल आये, खुदीराम ने बिहार में ही आकर बम फेंका। फिर फुलेना प्रसाद शहीद होने आये और आयी सचिवालय पर सात शहीदों की टोली। काफिले-दर-काफिले आते गये। आहुत होते गये।

आमी सुभाष बोलची

सुभाष बोस ने कहा था—'देश बंटेगा तो पतन के गड्ढे में गिरेगा।'

जिन दिनों मुहम्मदअली जिन्ना और गांधीजी परस्पर समझौते की भूमिका-स्वरूप वार्ता कर रहे थे, उन दिनों सुभाषचंद्र बोस 'आजाद हिन्द फौज' के कमाण्डर-इन-चीफ के नाते बर्मा में मौजूद थे। बर्मा पर जापान के सहयोग से 'आजाद हिन्द फौज' ने कब्जा कर लिया था। अनंतर बर्मा रेडियो से ही सुभाष बोस ने कांग्रेस-मुस्लिम लीग के समझौते का सख़्त विरोध करते हुए चेतावनी रूप में एक वार्ता प्रसारित की। सन् 1944 का वह 22 सितंबर था। शुरू में उन्होंने बंगला में कहा—

'आमी सुभाष बोलची। अर्थात् मैं सुभाष बोल रहा हूं। आज कांग्रेस मुस्लिम लीग के साथ समझौता करने को तैयार है, चाहे उसके लिए कांग्रेस को मुस्लिम लीग की पाकिस्तान बनाने की मांग ही क्यों न मंजूर कर लेनी पड़े। शायद भारतवासियों

को यह जानने की जिज्ञासा हो रही हो कि हम लोग आज कांग्रेस के इस प्रयास के प्रति क्या विचार रखते हैं? उस पर मैं प्रकाश डालूंगा। वस्तुतः हम कांग्रेस के द्वारा मुस्लिम लीग के साथ इस समझौते की वार्ता को मात्र मुस्लिम तुष्टीकरण का एक रूप मानते हैं और हम कभी भी उस प्रकार के किसी भी समझौते में शामिल होने का सख्त विराध करेंगे जो ब्रिटेन के साथ किया जाएगा। ऐसे प्रत्येक समझौते से हम घृणा करते हैं। हम हर उस कोशिश के खिलाफ हैं, जो हिन्दुस्तान को बांटने-काटने व उसके टुकड़े-टुकड़े करने की साजिश से संबद्ध है।

आयरलैंड और फिलिस्तीन से हमने एक सबक लिया है कि जिस देश का बंटवारा होगा, उससे निश्चय ही वह देश सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक पतन के गर्त में आ गिरेगा। कभी अमेरिका में भी विघटन या कि विभाजन की स्थिति लाई जा रही थी और अगर अमेरिका विभाजित हो जाता तो आज वह इस विकास को पहुंच न पाता। जहां तक भारत में अल्पसंख्यकों का प्रश्न है, उस संदर्भ में हम रूस की बात भी सामने ले सकते हैं, वहां तो हमारे देश की तुलना में और भी ज्यादा जातियां रहती हैं, तथापि वे एक साथ एकता के सूत्र में संघबद्ध और संघटित हैं। उन्हें किसी विदेशी के सामने सिर नहीं झुकाना पड़ता। अतः जो भी सूरत हो, मैं अपनी मातृभूमि के टुकड़े करनेवाली 'पाकिस्तान योजना' का सख्ती से विरोध करता हूं।

तकदीर बदलेगी

'आज जो महायुद्ध चल रहा है, उसमें प्रारंभिक तीन वर्षों में इंग्लैंड और अमेरिका लगातार हारते गए। फिर भी न उन्होंने हथियार डाले और न दुश्मन के आगे उन्होंने आत्मसमर्पण ही किया; बल्कि वह उम्मीद बांधकर युद्धरत रहे कि आज नहीं तो कल उनकी तकदीर बदलेगी। वही हुआ। वह आशावाद रंग लाया और आज वे कई मोर्चे जीत भी चुके हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हम लोग जो आज भारत की स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं, अपने संग्राम में शिथिलता बरतें या हम आत्मसमर्पण कर दें। अलबत्ता हमारे दूसरे अनेक भारतवासी हैं, जो इंग्लैंड-अमेरिका के इस प्रचार के शिकार बन गए हैं क्योंकि मित्र राष्ट्र जीत रहे हैं, इसलिए हम भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ समझौता कर लें। यह इंग्लैंड के उस अपप्रचार का असर है हमारे देश के नेताओं पर, जो वहां लगातार होता रहा है योजनात्मक तरीके से। इसी से कांग्रेस ब्रिटिश सरकार से देश के विभाजन पर भी हाथ मिलाने या कि समझौता करने पर तत्पर है। हम समझते हैं कि महायुद्ध का आखिरी फैसला पश्चिम में न होकर पूर्व में ही होना है।

जाल में न फंसे

'यह सच है कि फिलहाल लड़ाई रुकी है, पर उसका कारण है मौसम की बाधा। लेकिन

यह भी ध्यान देने की बात है कि विगत छह मास से हमारे अभियानों (धावों) के कारण दुश्मन (अंग्रेज) निरंतर पीछे ही हटता गया है। हम उसे खदेड़ते गए हैं और विजय पर विजय प्राप्त करती हुई हमारी सेना ने कालादाम, हाका, टिड्डीम, बिशनपुर, पालिन तथा कोहिमा से अंग्रेजों को निकाल फेंका है और ये सभी इलाके अब हमारी ही सेना के कब्जे में हैं। और हम दृढ़प्रतिज्ञ हैं कि हम इसी तरह तब तक युद्ध करते जाएंगे, जब तक कि हमारी प्रिय मातृभूमि भारत स्वतंत्र नहीं हो जाती। अलबत्ता पिछले पांच वर्षों के युद्ध में एक-दो बार ब्रिटिश-अमेरिकी फौज भी जीती है, लेकिन हम कभी भी किसी कारण से ब्रिटिश कूटनीति के समझौते के जाल में न फंसे। शत्रु से सौदेबाजी करके हम देश को विभाजित तो कर ही बैठेंगे, उसे सदा के लिए कमजोर और परमुखापेक्षी बना देंगे।

विभाजन की पूर्व भूमिका

'अभी कांग्रेस और मुस्लिम लीग के दरम्यान जो समझौता हो रहा है, वह दरअसल आगे अंग्रेजों के साथ कांग्रेस के संभावित समझौते की पूर्व भूमिका ही है। अगर ऐसा हो गया तो भारत हमेशा के लिए दुःखों के दावानल से घिर जाएगा। आज वे कांग्रेसजन, जिन्हें कांग्रेस का मुस्लिम लीग से समझौता करना उचित प्रतीत होता है, वे पाकिस्तान रूपी जहर को गले उतारने को तत्पर हो गए लगते हैं। अंग्रेज इस स्थिति का लाभ उठाकर अल्पसंख्यकों के हितरक्षण का बहाना करने लगे हैं। मैं चेतावनी दे देना उचित समझता हूं कि अगर पाकिस्तान बना भी, तो वह हमारी किसी भी समस्या का हल साबित न होगा। मुस्लिम लीग तो अंग्रेजों से कभी लड़ने से रही। अंग्रेज मुस्लिम लीग को हथियार बनाकर चाहते हैं कि हिन्दुस्तान, यह विशाल देश हिन्दू और मुस्लिम, इन दो राज्यों या टुकड़ों में बंट-कट जाए, क्योंकि तब मुस्लिम राज्य हमेशा अंग्रेजों के असर में रहेगा। मैं उन लाखों मुसलमान युवकों से प्रश्न करता हूं कि क्या तुम्हें अपनी मातृभूमि का बंटवारा गवारा है? तब उस विभाजित भारत में तुम्हारा अस्तित्व क्या होगा? इसलिए हे मेरे मित्रो! आओ, आजादी के लिए संग्राम करो और अंग्रेजों को अपने देश से बाहर खदेड़ दो। उनसे किसी तरह का समझौता न करना और न ऐसा करके अपनी मातृभूमि के टुकड़े होने देना।'

निराश न हों

अफसोस! देश के नेताओं ने सुभाष बोस की इस चेतावनी पर कान नहीं दिए और वही हुआ, जिसकी आशंका ऊपर सुभाष बोस ने व्यक्त की थी। और उसके बाद जो स्वदेशी शासन आया, उसमें भी हम प्रजातांत्रिक व्यवस्था वाले देश कहलाकर भी क्या सुभाष बोस का वह सपना साकार कर सके, जो उन्होंने स्वतंत्रतापूर्व देखा था? वे कहा करते थे–

'हमारे इस देश का सर्वस्व नष्ट हो चुका है तथापि 'ता बला भावना करा चलबे ना…', ऐसी भावना अर्थात् निराश होने से काम चलेगा नहीं। कवि ने यह भी तो कहा है कि 'तुम फिर से मनुष्य बनो।' अस्तु, तुम्हें पुनः पुरुषार्थ प्राप्त करना ही होगा। हिन्दुस्तान के शस्य श्यामल खेत, यह ऋतम्भरा, विश्वम्भरा धरती श्मशानचारी भूत-बैतालों की लीला-स्थली बन गई है। दिशा-दिशा में मृत्यु, रोग, भोग, नैराश्य, शोक सदृश आपदाएं-विपदाएं भारत के भाग्य में जैसे टांक दी गई हैं। लेकिन हमें यह निष्क्रियता, नैराश्य, दुःख-दारिद्र्य, निस्तब्धता, विलासिता, भूखों का हाहाकार, सुख-समृद्धि, शक्तिमत्ता तथा पुरुषार्थ-पराक्रम में बदल देना है और हमें फिर से भारत का अति प्राचीन वैदिक राष्ट्रगीत गाना है—

'उत्तिष्ठत्! जाग्रत…'

सब कुछ मगर…

आज 50 साल हो गए देश को आजाद हुए। हमारा गणतंत्र क्या सुभाष बाबू का उक्त स्वप्न साकार कर पाया? क्यों आज हमारा गणतंत्र वह स्वर्णिम स्वप्न सत्य में नहीं बदल सका और क्यों हम इतने दीर्घकाल तक, हजार वर्ष से भी अधिक काल तक गुलाम और पददलित होते रहे, इसका उत्तर भी सुभाष बोस ने हमें दिया था। उन्होंने कहा था—

'हमारे पास और तो सब कुछ है, सिर्फ एक चीज नहीं है। वह है निःशेष आत्मबलिदान। सब विघ्न-बाधाओं का अतिक्रमण करते हुए मुसीबतों को तुच्छ मानते हुए एक महान आदर्श के पीछे आजीवन अनुधावन का वीरत्व। हम पूर्ण अन्तःकरण से अपने देश को प्रेम नहीं करते, इसीलिए हमारे बीच पैदा होते हैं, मीर जाफर और अमीचंद…'

यह सूत्र पाया था सुभाष ने विवेकानंद की वाणी से, क्योंकि विवेकानंद ने कहा था, 'हे जननी! जन्मभूमि! अगले पचास वर्षों तक केवल तुम्हारी ही आराधना हो। एक आदर्श के लिए एक जीवन का बलिदान तुच्छ है।' और कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी तो यही कहा था—

उदयेर पथे शुनिकार वाणी।
भय नाइ ओ रे भय नाइं॥
निःशेष प्राण, जे करिवे दान,
क्षय नाइं तार क्षय नाइं॥

—'उदयपथ में यह किसकी वाणी सुनाई पड़ती है? भय नहीं, कोई भय नहीं है। अपने निःशेष प्राणों का जो श्रेष्ठ समर्पण करता है, उसका कभी क्षय (नाश) नहीं है।'

और यह जीवनमंत्र आत्मसात करके सुभाष बोस उस अग्नि-पथ पर चल पड़े थे, जिसकी मंजिल गरीब के, सर्वसामान्य शोषित-पीड़ित देशवासी के द्वार पर पड़ती है। पर अनेक वैभव-विलासी या सत्तालिप्सु नेता, जिसकी कल्पना करते कंपित होते हैं, भीत हो जाते हैं, तब वे ओट लेते हैं पथ-भेद, मत-भेद की, विचार-भेद की, कि वह पथ हमें काम्य है ही नहीं।

देश में रहकर, और देश की स्वतंत्रता के लिए जरूरत पड़ती तो विदेश में भी संग्राम चलाकर सुभाष बोस ने देशवासियों की देशभक्ति को यही ज्वलंत बीज-मंत्र देना चाहा कि—

जाय जेनो जीवन चले शुधु जगत मांझे,
तोमार काजे, 'वन्देमातरम' बोले
आमि धन्य हबो मायेर जन्य लांछनादि सहिले
ओदेर वेत्रा धाते कारागारे, फांसि काण्ठे झुलिबो।

—'हे मातृभूमि! तेरा कार्य करते हुए मैं 'वंदेमातरम्' का निनाद करता जाऊंगा, भले इस जगत में तेरे हित में यह जीवन निःशेष हो जाए। तब भी मैं अपने को धन्य मानूंगा और हे जननी! तेरे लिए सर्वलांछना सहूंगा। कारागार मिले, कारा में बेंतों के प्रहार मिलें, या फांसी ही क्यों न झूलना पड़े, उसमें भी जीवन सार्थक समझूंगा।'

अनुशासन

देश में नैतिक मूल्यों का जो चतुर्दिक ह्रास, राष्ट्रीय अनुशासन-वृत्ति का घोर अभाव तथा रहन-सहन, चलने-फिरने के जो विकृत उदाहरण कदम-कदम पर यहां द्रष्टव्य हैं, उस आशंका को अपने ध्यान में बहुत पहले ही सुभाष बाबू ले आए थे। प्रजातंत्री व्यवस्था के ही संदर्भ में उन्होंने एक बार 'आजाद हिन्द फौज' के अधिकारी-प्रशिक्षक सरदार बलवंतसिंह से कहा था, 'मैंने जापान में कुछ चीजें देखीं तो मेरे मन में विचार आया कि भारत में प्रजातंत्री व्यवस्था को सार्थक और सफल बनाने के लिए पहले एक लंबे समय तक, यानी कोई बीस वर्षों तक देश के बच्चों को वे संस्कार देने होंगे जो एक स्वाधीन स्वावलंबी, सशक्त और गणतंत्री व्यवस्था वाले देश के लिए अपरिहार्य हैं। जापान के एक होटल की ऊपरी मंजिल पर बैठा खुली खिड़की से मैं नीचे सड़क की तरफ देख रहा था तो देखा कि बेशुमार बच्चों की पंक्तियां बाकायदा अनुशासित शक्ल में नीचे आम सड़क से गुजर रही हैं पर कहीं भी कोई कोलाहल, धक्का-मुक्की या शोरगुल जरा भी नहीं। न कोई चीख-पुकार सुनाई देती है। यह देखकर बड़ा अचरज हुआ मुझे कि कैसे हैं ये बच्चे! कहीं एक भी आवाज नहीं। कदम से कदम मिलाकर कतार बांध खामोशी से फौज की तरह चले जा रहे हैं। तत्काल मुझे अपना देश याद आया, वहां के बच्चे याद आए। मैंने होटल-मैनेजर से पूछा, 'ये बच्चे कहां जा रहे हैं?'

तो उसने हंसकर बताया कि 'आपको पता नहीं? ये तो आपका ही भाषण सुनने जा रहे हैं।'

जापान में उस दिन मेरा प्रथम भाषण होने वाला था। तब मैंने दोबारा उससे पूछा, 'लेकिन इतना अच्छा अनुशासन इन्हें सिखाया किसने?' वह कोई जवाब तो न दे पाया, पर बाद में पता चला कि किसी तरह मेरा वह प्रश्न जापान के सर्वेसर्वा जनरल तोजो तक भी पहुंच गया था। खैर, उस दिन भाषण हुआ। कई दिन गुजरे। एक दिन जनरल तोजो मिले तो फिर मैंने उनसे कहा कि 'आपके देश के उस स्कूल को मैं देखना चाहता हूं एक नजर, जहां आपके यहां के बच्चों को इतने अनुशासित ढंग से चलना-फिरना सिखाया जाता है?

जनरल ने फोन करके तमाम स्कूलों की एक सूची मंगाई और उसे मुझे देकर कहा, 'स्कूल तो हजारों हैं, यह सूची देखकर आप जिस स्कूल में चाहें, निशान लगा दें। हम वहीं आपको ले चलेंगे।'

हम लोग एक स्कूल में गए, जिसके नाम पर मैंने निशान लगाया था। स्कूल में जोरों से पढ़ाई चल रही थी। शुरू में जो कमरा था, हम वहां जाकर खड़े हुए, पर कोई वहां औपचारिकता दिखाने न आया, जबकि जापान का सबसे महत्वपूर्ण पुरुष वहां हमारे साथ आकर खड़ा था। पर कहीं पत्ता न डोला। जिस कमरे में हम खड़े थे, वहां बच्चे बोर्ड पर कुछ पढ़ रहे थे और अध्यापक उन्हें मनोयोग से, पूर्ण तन्मयता से कुछ समझा रहा था। उनकी वह तल्लीनता क्षण भर को भी भंग न हुई। अनुशासन का यह एक भव्य रूप ही है, जो जापान के नागरिक जीवन का एक जरूरी अंग बन चुका था।

'तो, यह मात्र एक मिसाल है और मैं तुमसे कहता हूं कि मेरी बड़ी अभिलाषा है कि जब हमारा देश स्वतंत्र हो, तो शुरू के बीस वर्षों में सब बच्चों को सैनिक जीवन के अनुशासन, भाईचारे, प्रेम, निष्ठा आदि सद्गुणों की शिक्षा दी जाए अनिवार्य रूप में, साथ-साथ पढ़ाई चलती रहे, क्योंकि जापान में मैंने यही देखा कि वहां के नागरिक जीवन और राष्ट्रीय जीवन को जो सफलता और यश मिला है, उसके मूल में अनुशासन ही है। बीस साल में भारत भी अनुशासन की शिक्षा प्राप्त कर लेगा कि कैसे रहना चाहिए, कैसे चलना चाहिए? तब सुव्यवस्थित जीवन की पद्धति किसी को सिखलानी नहीं होगी। तब कोई हमारे देशवासी की तरफ उंगली न उठायेगा। इस शिक्षण से भारत में प्रजातांत्रिक व्यवस्था व्यवहार्य बनाई जा सकेगी।'

आज देश की जो स्थिति है, हर स्तर पर जो गिरावट और अराजकता नजर आती है, उसे देखते हुए कौन कह सकता है कि सुभाष बोस के उक्त विचार आज भी ताजे नहीं हैं?

मातृभूमि का अपमान मत करो

सुभाष ने कहा था, 'सेवा एक की ही हो सकती है, दो की नहीं।'

उन दिनों (सन् 1928) तक कांग्रेस ने अपना ध्येय पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति घोषित नहीं किया था। यह प्रस्ताव पारित किया कांग्रेस ने 'लाहौर कांग्रेस' में। यह कांग्रेस 31 दिसंबर 1929 में हुई थी, अन्यथा इसके पूर्व कांग्रेस का ध्येय केवल 'औपनिवेशिक स्वराज्य' तक ही सीमित था।

सन् 1928 में जब 'साइमन कमीशन' भारत आया, तो सुभाषचन्द्र बोस ने उसके विरुद्ध चल रहे आंदोलन में आगे बढ़कर भाग लिया, उसका बहिष्कार कराने में यथेष्ट योगदान दिया। इसी बहिष्कार के क्रम में पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय ने अंग्रेज एस. पी. स्काट की लाठियां खाकर प्राण गंवाये और लखनऊ में पं. जवाहरलाल नेहरू तथा गोविन्दबल्लभ पंत पर भी लाठी-प्रहार किए गए। सन् 1928 में जो जोश तथा

उत्साह जनता में उभरा, उससे प्रेरित होकर सुभाष बोस साबरमती-आश्रम जाकर गांधीजी से मिले और उनसे आग्रह किया कि इस समय जनता उत्साह में है, आप भी इस अवसर का लाभ उठाकर आंदोलन छेड़ दें। बारदोली में जागृत किसान लगानबंदी छेड़े हुए ही थे, परन्तु तब गांधीजी सुभाष बोस के प्रस्ताव से सहमत नहीं हो सके और सुभाष बोस हताश मन से कलकत्ता लौट गए। ऐसी ही निराशा सुभाष बोस को उस समय भी हुई थी, जब 'नेहरू कमेटी-रिपोर्ट' छपी। यह सन् 1927-28 के सर्वदलीय सम्मेलन के बाद छपी थी। उस रिपोर्ट में निराशा की बात सुभाष बाबू को यह लगी कि उस रिपोर्ट में कांग्रेस का ध्येय औपनिवेशिक स्वराज्य घोषित किया गया था। इससे क्षुब्ध हो सुभाष बोस ने जवाहरलाल नेहरू को साथ लेकर लखनऊ में एक बैठक आयोजित की, जिसमें सुभाष, नेहरू और श्रीनिवास आयंगर का वर्चस्व था तथा इन लोगों ने एक नया दल गठित किया। नाम था, 'इंडिपेंडेंट्स लीग'। इस दल ने देश के संघर्ष का ध्येय पूर्ण स्वराज्य घोषित किया। सुभाष बाबू ने यह भी प्रचेष्टा की कि कलकत्ता कांग्रेस में जवाहरलाल नेहरू एक ऐसा संशोधन पेश करें, जिसका ध्येय पूर्ण-स्वराज्य की प्राप्ति हो। नेहरूजी ने यह बात मान ली लेकिन कलकत्ता-कांग्रेस में जब यह संशोधन पेश होना था, नेहरू जी सुभाष को कहीं खोजे ही नहीं मिले। तब विवशतः स्वयं सुभाष बाबू ही मंच पर आए और एक उत्तेजक भाषण के रूप में वही संशोधन कांग्रेस के समक्ष व्यक्त किया। फिर आए जवाहरलाल और उन्होंने भी सुभाष बाबू के संशोधन का प्रबलता से समर्थन किया। कांग्रेसजनों के खुलकर उसके पक्ष में जाने से स्थिति ऐसी आ गई कि कांग्रेस उस संशोधन को पारित कर देती, पर तभी गांधीजी ने कहा कि 'अगर ब्रिटिश संसद इस रिपोर्ट को पूरी तरह स्वीकार कर लेती है सन् 1929 के 31 दिसंबर तक, तो कांग्रेस भी उसे स्वीकार कर लेगी, लेकिन इस मियाद के पहले यह रिपोर्ट नामंजूर कर दी जाती है, तो कांग्रेस कर न देने आदि का असहयोग आंदोलन छेड़ देगी। लेकिन मेरा यह प्रस्ताव अगर कांग्रेस के गले नहीं उतरता, तो उस स्थिति में मैं राजनीति से पृथक् हो जाऊंगा।'

गांधीजी के शब्द

गांधीजी के ये शब्द काम कर गए और सुभाष बोस द्वारा प्रस्तुत तथा नेहरूजी द्वारा समर्थित संशोधन गिर गया। गांधीजी का प्रस्ताव मंजूर कर लिया गया। यह तो एक झलक है कलकत्ता-कांग्रेस की और यह सब विवरण यहां इसलिए देना जरूरी समझा कि बाद में लाहौर-कांग्रेस ने जो गांधीजी के प्रयास से अपना ध्येय पूर्ण स्वराज्य घोषित किया, उसके पहले क्या भूमिका और कैसा वातावरण देश में तैरता रहा था तथा जहां तक देश का लक्ष्य पूर्ण स्वतंत्रता निश्चित होने का प्रसंग है, उसमें सुभाष बोस का क्या योगदान रहा। वस्तुतः वे हृदय में अति ज्वलंत देशभक्ति की ज्वाला लिए ही देश के राजनीतिक मंच पर आये थे। सन् 1920 में उन्होंने 'इंडियन सिविल सर्विस' की

परीक्षा इंग्लैंड में रहकर उत्तीर्ण की थी, पर वे इंडियन सिविल सर्विस ठुकराकर सन् 1921 में भारत आ गए। इस संदर्भ में सुभाष बोस ने स्वयं लिखा है कि 'मैंने अच्छी प्रकार सोच-समझ लिया कि सेवा केवल एक की हो सकती है, दो की नहीं। मेरा तात्पर्य है कि अंग्रेज सरकार और मातृभूमि इन दोनों की सेवा एक साथ कर पाना संभव नहीं, किसी के लिए। इसी विचार से मैंने सन् 1921 के मई मास में इंडियन सिविल सर्विस से इस्तीफा दे दिया और निश्चय किया कि स्वदेश जाकर वहां जो देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष चल रहा है, उसमें मैं भी शामिल हो जाऊं। इसी मनःस्थिति में मैं उसी वर्ष (सन् 1921) के जुलाई महीने में भारत आ गया तथा उसी संध्या को बंबई में मैं पहली बार गांधीजी से मिला।'

लाहौर-कांग्रेस

यही सुभाष बोस थे, जिनका पूर्ण स्वराज्य सम्बन्धी संशोधन कलकत्ता-कांग्रेस में स्वीकार नहीं किया गया, लेकिन उसी की घोषणा बाद में होने वाली लाहौर-कांग्रेस में होकर रही। इसमें जवाहरलाल नेहरू का भी भरपूर सहयोग था और वही उस कांग्रेस के राष्ट्रपति भी चुने गए थे। यह चुनाव भी इस तरह हुआ कि लाहौर-कांग्रेस में राष्ट्रपति-पद के नाते गांधीजी के नाम का प्रस्ताव रखा गया, लेकिन गांधीजी ने यह प्रस्ताव मंजूर नहीं किया। कहा, 'मैं राष्ट्रपति-पद की जिम्मेदारी नहीं ले सकता।' इस पद के लिए एक और नाम था बारदोली-सत्याग्रह के प्रमुख सरदार वल्लभभाई पटेल का। तय था कि गांधीजी के अस्वीकार कर देने पर पटेल ही राष्ट्रपति चुने जाते, पर गांधीजी ने तत्काल जवाहरलाल के नाम का प्रस्ताव कर दिया। तब वही राष्ट्रपति चुने गए। उस समय उस पद के लिए कांग्रेस में राष्ट्रपति शब्द ही चलता था। गांधीजी की इस नीति से नेहरूजी का गांधीजी का ही पक्षधर रहना स्वाभाविक और सुनिश्चित था। वरना यही नेहरूजी थे, जिन्होंने लखनऊ में कांग्रेस से अलग एक नया दल ही सुभाष बोस के सहयोग से बना डाला था। इस स्थिति के बावजूद लाहौर-कांग्रेस में सुभाष बोस छाए रहे। उसमें सुभाष बोस ने कहा, 'कांग्रेस आयरलैंड की सिन-फिन-पद्धति की तरह भारत में भी अंग्रेजों के समानान्तर एक सरकार स्थापित करे और देश के तरुणों, किसानों तथा श्रमिकों में कार्य करते हुए उन्हें एकता-सूत्र में संगठित करें, उन सबको अपने विश्वास में तथा नजदीक लाये।' कांग्रेस में जब यह संशोधन स्वीकृत नहीं हो सका, तो बड़े ओजस्वितापूर्वक सुभाष बाबू ने फिर कहा, 'आप लोगों को इस संशोधन पर विचारार्थ अभी एक साल का मौका और है। मैं आशा करता हूं कि भविष्य में कांग्रेस का जो अधिवेशन होगा, वही इस किस्म के तथा इसी से समानता रखने वाले विचारों पर अमल करेगा। मुझे खेद है तो यह कि इस बीच कीमती समय बरबाद हो चुका होगा। राजनीति-शिक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है, जो लंबा वक्त लेती है, उसकी लाचारी हमारे देश को भी है। खासकर उस स्थिति में और भी, जबकि आज मूर्धन्य

नेता ऐसे सुझावों के विरुद्ध हो जाएं, पर अगर कल भारत को कहीं औपनिवेशिक स्वराज्य देने की बात उठे और कांग्रेस उसे मंजूर भी कर ले तो भी हमारा प्रथम फर्ज हमें पुकारेगा और हम देश के तरुणों को साथ लेकर सक्रिय अवश्य होंगे तथा एक नया प्रजातांत्रिक दल कायम करेंगे, जिसका लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य होगा और वह स्वराज्य प्रजातांत्रिक होगा। सच बात तो यह है कि मैं देश की युवा-शक्ति में विश्वास और आस्था रखता हूं। उनमें कोई गुण न हों, यह बात नहीं। अतः उन्हें उत्साह प्राप्त कराना होगा। जो बहुत प्रसिद्धि-प्राप्त हैं या मूर्धन्य, उन्हें ही हम अपनी बुद्धि समर्पित नहीं कर सकते।'

कड़ा विरोध

इसी समय भारत के तत्कालीन अंग्रेज वायसराय लॉर्ड इरविन ने लंदन में 'गोलमेज कान्फ्रेंस' रखने का प्रस्ताव रखा, ताकि उसमें हिन्दुस्तान की मांगों पर, कुछ विचार-विमर्श हो सके। इस आशय का एक बयान लॉर्ड इरविन का आया, प्रकाशित भी हुआ। इस प्रस्ताव का कांग्रेस की तरफ से बड़ा गर्मजोशी से स्वागत किया गया, जैसे कि उस प्रस्ताव से कांग्रेस बहुत संतुष्ट हो गई हो और उसे कोई बड़ी चीज मिलने वाली हो। कांग्रेस ने एक सम्मिलित वक्तव्य छपाया कि ऐसी कान्फ्रेंस में हमें ब्रिटिश सरकार को सहयोग प्रदान करना चाहिए। पं. जवाहरलाल नेहरू ने भी उस पर स्वीकृति-सूचक या सहमति के दस्तखत कर डाले। स्पष्ट ही अंग्रेजों की तरफ से भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने की संभवतः पेशकश की गई, पर सुभाष बाबू ने उसका भी कड़ा विरोध किया। उन्होंने उस पर दस्तखत नहीं किये।

सख्त निगरानी

सुभाष बोस पर अंग्रेजों की कितनी सख्त निगहबानी थी, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि जब गांधीजी लंदन से गोलमेज कान्फ्रेंस से निराश-हताश खाली हाथ ही लौटे और उसके बाद अंग्रेजों का दमन-चक्र भी और तेज हो गया, उस समय बंबई में कांग्रेस-कार्यसमिति की एक बैठक बुलाई गई, सुभाष बोस को इसमें विशेष तौर से निमंत्रित किया गया। इससे अंग्रेज चिन्ता में पड़ गए कि यदि सुभाष बोस इस बैठक में बोले तो अपना कोई विचार जरूर रखेंगे और कांग्रेस से भी अपने विचार के अनुसार कोई नया आंदोलन या कार्यक्रम मनवाने की कोशिश भी करेंगे। इस भय से अंग्रेज सरकार ने उन्हें बंबई पहुंचने के पहले ही गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया। इसके कुछ ही पहले वे मांडले (बर्मा) की जेल की यातनाएं झेलकर लौटे थे। वहां स्वास्थ्य बिगड़ गया था। इस नई गिरफ्तारी और कारावास से उनके स्वास्थ्य पर और भी बुरा प्रभाव पड़ा, जिससे विवश होकर सरकार को उन्हें सन् 1933 में रिहा कर देना पड़ा। जेल की यातनाओं के बीच भी वे मांडले जेल में ये

पंक्तियां गुनगुनाया करते थे—

आर्य जेई स्थाने आज करो विचरण
पवित्र सेइ देश, पुण्यमय स्थान
छिलो सेइ एक दा देवलीला भूमि
कारो ना कारो ना तारो अपमान

'हे आर्य बंधु! आज तुम जहां विचरण करते हो, वह हमारी पवित्र और पुण्यशील मातृभूमि है। अतीत में वह देवताओं की लीलाभूमि रही है। उसका अपमान मत करो, मत करो।'

देश के प्रति उसके एक उपासक की क्या भावना हृदय में ज्वलंतरूपेण स्फुरित रहती है, उक्त पंक्तियां यहां सुभाष बाबू का जीवनोद्देश्य और आदर्श व्यवहृत करती हैं।

सुभाष का अज्ञात अन्त!

'इतिहास मौन रहा और रहने दिया गया'

वह कौन-सा दिल-दिमाग था, कौन-सी मानसिकता थी, और कौन-सा प्रभाव या माहौल था, जिसने हमारे देश को बांट दिया, दो टुकड़े कर दिए? शायद कोई उत्तरदाता जिन्ना का नाम लेंगे तो कोई अल्लामा इकबाल को पाकिस्तान का पिता कहना चाहेंगे, और कोई मुस्लिम लीग का नाम लेगा, पर हकीकत क्या है? कोई डाकू या चोर-उचक्का धमकाए कि 'हमें अपनी धरोहर सौंप दो वरना हम खुद ही तुम्हारी गठरी छीन लेंगे', तो आपका उस स्थिति में क्या फर्ज बनता है? और ऐसे में अगर कोई तीसरा बीच में आ पड़े कि 'ठहरो, हम समझौता करा देते हैं' और मध्यस्थ या काजी बनकर तुम्हारी धरोहर को आधा-तिहाई करके, डाकुओं को बांट दे तो आप क्या उस मध्यस्थ के, काजी के शुक्रगुजार, कृतज्ञ हो सकते हैं?

हमारी नजर में भारत के बंटवारे के परिप्रेक्ष्य में अर्ल माउंटबेटन ब्रिटिश सरकार की तरफ से भेजा गया एक ऐसा ही काजी या कि मध्यस्थ था, जिसे नेहरू सरकार ने आजादी आने के बांद भी बड़ी मनुहार के साथ भारत का गवर्नर-जनरल सन् 1948 की 28 जून तक बनाए रखना चाहा। यह 28 जून 1948 की तिथि यहां इसलिए उद्धृत की जा रही है, क्योंकि अंग्रेज इसी तिथि से भारत को आजाद करना चाहते थे। लेकिन जब ब्रिटेन से अर्ल माउंटबेटन को यहां भेजा गया और यहां की तत्कालीन स्थिति की उसने समीक्षा की तो माउंटबेटन ने खुद ही आजादी की तिथि उक्त तिथि से पहले रख दी—15 अगस्त 1947। इसके बावजूद जिन्ना के साथियों ने 14 अगस्त 1947 को ही पाकिस्तान की आजादी का एलान सार्वजनिक तौर से कर दिया। घोषित किया गया कि 'हमारा एक अलग मुल्क (पाकिस्तान) है।' यह बात माउंटबेटन को जरूर अखरी क्योंकि माउंटबेटन की दिली ख्वाहिश थी कि मैं भारत-पाकिस्तान, दोनों का ही प्रथम गवर्नर-जनरल बनूं और इंग्लैंड जाऊं तो इसी हैसियत से। पर माउंटबेटन की यह तमन्ना जिन्ना ने तार-तार कर दी। हमारे नेताओं की मनःस्थिति भिन्न रही। हमारे नेता सोचते थे कि हिन्दुस्तान आजाद हो, तो उसके लिए माउंटबेटन जैसे गर्वनर-जनरल का होना जरूरी है। ये नेता सोचते थे कि शायद आजाद हिन्दुस्तान को माउंटबेटन ही संभाल सकता है। कैसी असहाय या कि मोहताजी की बात थी यह, और मोहताजी भी शासन-क्षमता की। हमारे नेता जैसे इस बात को लेकर बड़े खुश थे कि माउंटबेटन हिन्दुस्तान के प्रथम गवर्नर-जनरल हैं, तभी तो इन्होंने यह मनुहार की थी कि यह अंग्रेज तो ब्रिटिश फौज का एक ऊंचा अफसर रहा है, 28 जून 1948 तक भारत का गवर्नर-जनरल बना रहे। लेकिन हम यह कैसे भूल जाएं कि यही वह अंग्रेज सेनाधिकारी था जो महायुद्ध के समय दक्षिण-पूर्व एशिया के समरस्थलों में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को जिन्दा या मुर्दा गिरफ्तार कर लाने के लिए ब्रिटेन की तरफ से तैनात था क्योंकि उन दिनों सुभाष बोस भारत की आजादी के लिए ब्रिटिश फौजों से युद्ध कर रहे थे!

संभव तो यह भी है कि इसी अंग्रेज को यह राज भी जरूर मालूम रहा होगा कि सुभाष बोस का अंततः हुआ क्या? यदि नेहरूजी चाहते, जबकि वे माउंटबेटन को अपना घनिष्ठ मित्र मानते थे, तो यह राज भी उस अंग्रेज से पूछकर जान सकते थे, पर सुभाष के अज्ञात अंत या तिरोधान पर इतिहास मौन है। माउंटबेटन भी मौन रहा। किसी को यह गरज महसूस न हुई कि जब वह (माउंटबेटन) भारत सरकार की सेवा में था तो उसका गरेबान पकड़कर पूछता कि बताओ, नेताजी सुभाष का क्या हुआ? क्योंकि यह अंग्रेज महायुद्ध-काल में सुभाष बोस का बहुत बड़ा शत्रु रहा था—उनको जान से मारने या पकड़ने की युक्ति करता रहता था।

अलबत्ता इसके विपरीत जब माउंटबेटन मर गया, तो हमारे शासकों ने, कांग्रेस सरकार ने यह कहा कि ये माउंटबेटन ही थे, जिनसे हमें भारत का शासन प्राप्त हुआ,

अर्थात् हमारी आज की यह जो आजादी है, वह अंग्रेजों की, लार्ड माउंटबेटन का कृपादान है, उसी की उदारतापूर्ण देन है।

इतिहास भुलाया

इस इतिहास को पीछे धूल में डाल दिया गया कि यदि सुभाष बोस ने आजाद हिन्द फौज कायम करके अंग्रेजों से संग्राम न किया होता तो देश आज़ाद न हुआ होता। यह साधारण बात नहीं कि सुभाष ने 60 हजार सेना सुदूर विदेश में भी बना ली और उससे उन्होंने अण्डमान तक से ब्रिटिश झंडा 'यूनियन जैक' उतार फेंका। आजाद कर लिया अंडमान को अंग्रेजों से और बर्मा आदि में युद्ध करते हुए वे भारत के भीतर इंफाल तक आ गए। उनका आह्वान निरंतर गूंज रहा था, 'दिल्ली चलो, दिल्ली चलो!

और यदि अमरीका ऐन वक्त पर एकाएक नागासाकी और हिरोशिमा पर दो अणुबम न गिरा देता और उस संहार से लाचार हो जापान पराजय न स्वीकार कर लेता तो सुभाष बोस की 'आजाद हिन्द फौज' को दिल्ली तक आने से किसकी मजाल थी, जो रोक लेता!

मगर हाय रे इतिहास की विसंगति और विडंबना कि सुभाष बोस के पीछे लगा हुआ हमारा वही प्रबल देश-शत्रु माउंटबेटन हमारे आजाद हिन्दुस्तान का पहला गवर्नर-जनरल खुद हमारे नेताओं के आग्रह और आमंत्रण पर बना। और जब वह मरा तो हमारे उन शासकों ने एक स्वर से शोक प्रकट किया कि 'यह अंग्रेज हमारा बड़ा शुभाकांक्षी था क्योंकि उसी ने हमें आजादी और यहां की हुकूमत प्रदान की थी।'

झूठ

मगर यह कितना बड़ा झूठ है! अंग्रेजों ने स्वयं यह सत्य स्वीकार किया था कि अब 'आजाद हिन्द फौज' की जो 'जयहिन्द' भावना है, वह हिन्दुस्तानी सेना में भी घर कर गई है और अब वह हमारे लिए विश्वसनीय नहीं रह गई। इसलिए अब हिन्दुस्तानी पलटनों के बूते हम भारत पर शासन नहीं कर सकते।

यह एक तथ्य था और तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने भी इसे स्वीकार किया था। पूरा भारत उन दिनों 'जयहिन्द' की भावना से आप्लावित हो उठा था। आजाद हिन्द फौज के हजारों सैनिक कैद थे तथा अंग्रेज उन पर मुकदमे चला रहे थे। नेहरूजी सरीखे लोग भी वकील की हैसियत से उन मुकदमों की दिल्ली में पैरवी करते रहे तथा उन सभी ने सुभाष का तथा उनकी सेना का 'जयहिन्द' नारा अपना लिया था। उसी समय नौसेना-विद्रोह की धूनी धधकी तथा नौसेना के सौ जहाज समुद्र में लंगर डालकर–अंग्रेजों को ललकारने लगे कि 'जाओ, जाओगे किधर से? हम तुम्हें भूनकर रख देंगे।' उन सभी जहाजों पर तोपें चढ़ी थीं और उन तोपों के मुंह भारत के सागर-तटों की तरफ ही थे। कैसी अभूतपूर्व सांप्रदायिक एकता मूर्त्त हुई थी उस विद्रोह में! उन जहाजों

पर हर पार्टी के झण्डे थे, तिरंगे भी और हरे रंग के इस्लामी झंडे भी। सब हिन्द और हिन्दी के नाते एकजुट थे शत्रु से जूझने के लिए। तब उन विप्लवी नौसैनिकों को समझाने-बुझाने के लिए अंग्रेजों ने सरदार पटेल को पठाया था। और उस विद्रोह का पर्यावसान हुआ था कांग्रेस के हाथों में इस देश की सत्ता का हस्तान्तरण। हिन्दुस्तान आजाद तो हुआ, पर क्या अंग्रेज की कृपा से या उसके पीछे सुभाष बोस की सेना के हजारों शहीदों सहित पूरे सौ वर्षों की त्यागमयी, बलिदानमयी एक लंबी परंपरा कारणीभूत थी? परन्तु हमने वह परंपरा पीछे फेंक दी। उस इतिहास पर, उसके गौरव पर धूल की पर्तें चढ़ा दीं—उस दिन जब माउंटबेटन की याद अपने सामने रखकर हमने कहना शुरू किया कि यह सत्ता, यह आजादी तो हमें माउंटबेटन ने ही दी थी। कैसी शर्मनाक शुक्रगुजारी है यह! हम सुभाष बोस और उनकी सेना के प्रति कृतज्ञ नहीं, उन हजारों-लाखों देशभक्तों-शहीदों के भी कृतज्ञ नहीं, जिनके बलिदानों की सुदीर्घ परंपरा से देश स्वतंत्र हुआ, वरन् हम कृतज्ञता प्रकट करते रहे माउंटबेटनों को कि वही थे, जो हमें यह हुकूमत दे गए, यह आजादी दे गए। इस भावना को लानत देनी चाहिए। भारतीय गणराज्य इस भावना के रहते कभी पनप नहीं सकता, सक्षम और सशक्त नहीं रह सकता। न उस राष्ट्रीय स्वाभिमान को प्राप्त कर सकता है जो किसी भी देश को स्वतंत्र, सुरक्षित और शक्तिवान बनाने की प्रथम शर्त होती है।

सुभाष ने कहा था

हमारे शासन का समाजवाद भी बिना माउंटबेटनों से जुड़े सार्थक नहीं होता। फिर कैसे हम सुभाष बोस के उन विचारों को आत्मसात या याद कर सकते हैं जो हमारे देश की राष्ट्रीय विचारधारा को व्याख्यायित करते हैं? 1 पौष : सन् 1934 को कलकत्ता-यूनिवर्सिटी-इंस्टीट्यूट हाल में अखिल भारतीय युवा-सम्मेलन हुआ था। उसकी अध्यक्षता की थी सुभाष बोस ने ही। वहां उन्होंने कहा था—'भगवान की कृपा से हमारे देश में पतन के बाद अभ्युत्थान का आरंभ हुआ है। हमारा यह राष्ट्रीय आंदोलन मात्र बाहरी सक्रियता नहीं है, वरन् यह राष्ट्रीय आत्मा के जागरण की भी अभिव्यक्ति है।

'समाज-पुनर्गठन के निमित्त आजकल पश्चिमी देशों में विभिन्न विचारधाराओं तथा कार्य-प्रणालियों का प्रचलन है, यथा, सोशलिज्म, स्टेट सोशलिज्म, गिल्ड सोशलिज्म, सिण्डिकलिज्म, फिलास्फिकल अनार्किज्म, बोल्शेविज्म, फासिज्म, पार्लमेंटरी डेमोक्रेसी, आरेस्टोक्रेसी, एन्मोल्यूट मोनार्की, लिमिटेड मोनार्की, डिक्टेटरशिप आदि। इनके बारे में साधारण रूप से एक-दो बातें कहना चाहता हूं। प्रथमतः सभी मतों में कुछ न कुछ सत्यता है, किन्तु इस विकासशील जगत में किसी भी मत को चरम सत्य और चरम सिद्धांत मानना युक्तिसंगत नहीं है, दूसरे यह भी याद रखना चाहिए कि किसी भी देश की किसी भी संस्था को समूल उखाड़कर जोर-जबर्दस्ती से दूसरे देश में स्थापित करने

पर सुफल प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि हर राष्ट्रीय संस्था को जन्म मिलता है, उस देश के क्रमिक विकास से, नित्य नैमित्तिक जीवन की प्रयोजनता से। अतः हमें स्मरण रखना होगा कि किसी संस्था का निर्माण करने के लिए इतिहास की धारा, पारिपार्श्विक अवस्था और वर्तमान परिवेश की उपेक्षा करना संभवतया समीचीन नहीं है।

'आप लोग जानते हैं, मार्क्सिज्म (मार्क्सवाद) की लहर इस देश में आई है; इस लहर से कुछ लोग आलोड़ित हुए हैं। कार्ल मार्क्स के सिद्धांत को समग्रता से ग्रहण करने पर हमारा देश सुखी-समृद्ध होगा, इस बात पर अनेकों की आस्था है। उदाहरण के रूप में वे रूस की चर्चा करते हैं, लेकिन हो सकता है कि आप लोग यह जानते हों कि रूस में जिस बोल्शेविज्म की स्थापना हुई है, उससे मार्क्सवादी समाजवाद का जितना मेल है, उससे कहीं अधिक अलगाव है। रूसी सिद्धांत ग्रहण करते वक्त प्राचीन इतिहास की धारा, राष्ट्रीय आदर्श, वर्तमान का परिवेश तथा नित्य नैमित्तिक जीवन की प्रयोजनीयता को भूल नहीं गया था। आज अगर कार्ल मार्क्स जिन्दा होते, तो वे रूस की वर्तमान अवस्था देखकर सुखी होते, इसमें मुझे संदेह है। कारण, मुझे लगता है कि कार्ल मार्क्स का विश्वास था कि उनका सामाजिक आदर्श एक तरह से बिना रूपांतरित हुए सभी देशों में संस्थापित हो। इन बातों की चर्चा की अनिवार्यता यह है कि मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूं कि किसी अन्य देश के अंधानुकरण का मैं विरोधी हूं। और बिना इस बात का उल्लेख किए अपनी बात साफ नहीं कर सकता कि एक पराधीन देश को यदि कोई भी 'इज्म' (वाद) अंतर से ग्रहण करना है तो वह है 'नेशनलिज्म' (राष्ट्रवाद)।

'...इसलिए जीवन के सभी क्षेत्रों में मृतसंजीवनी-सुधा का संचार करना होगा। वह सुधा कौन लाएगा? बिना जीवन दिए जीवन की उपलब्धि नहीं होती। आदर्श के समक्ष जो व्यक्ति संपूर्ण रूप से अपना बलिदान दे चुका है, केवल वही व्यक्ति उस सुधा का संधान कर सकता है। हम सभी अमृत-पुत्र हैं। मैं आप लोगों का आह्वान करता हूं कि आओ! मातृ मंदिर में हम सभी एक साथ दीक्षा लें। हम सभी एक साथ प्रतिज्ञा करें कि देश-सेवा ही हमारा एकमात्र जीवन-व्रत है। देशमाता के चरणों में हम सभी अपना जीवन न्योछावर करेंगे और मरण के द्वारा अमृत प्राप्त करेंगे। यदि हम ऐसा कर सके तो—

भारत आमार जगत् समाय श्रेष्ठ आसन लवे।

—अर्थात् 'हमारा यह भारत संपूर्ण विश्व में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करके रहेगा।'

सुभाष बाबू के उक्त उद्‌गार इस संदर्भ में देने उचित हैं कि वे राष्ट्रीय स्तर पर किसी को भी अपनाने या उसका अनुसरण करने के परिप्रेक्ष्य में कितनी सतर्क और सजग दृष्टि रखते थे। वे कहते थे कि 'कोई कितना ही अच्छा हो, उपयोगी हो, परन्तु वह हमारी राष्ट्रीय भूमिका में भी उतना उपयोगी होगा, यह बात आंखें बंद करके अपनाने की नहीं है वरन् हम उसे राष्ट्रीय हिताहित की कसौटी पर परख करके कोई

निर्णय करेंगे।'

सुभाष बोस को विस्मृत कर देने तथा माउंटबेटन को भारत के उपकारकर्ता के रूप में बरतने की जो इस देश के शासनकर्ताओं की नीति या चरित्र रहा है, उसके पीछे ठीक वही भावना सक्रिय रही है, जिसके प्रति कभी बहुत पहले सुभाष बोस ने चेतावनी देकर सावधान किया था। परन्तु हमने उधर दुर्लक्ष्य किया, फलतः जिन्होंने भारत को विभाजित करने में भी खास भूमिका अपने देश के एजेंट बनकर अदा की, हम उनके प्रति भ्री कृतज्ञता ज्ञापित करते रहे। यहां लोकतंत्र का विचार बहुत पीछे दूर अंधेरे में छूट गया। आम प्रजा की भावना उपेक्षित रही।

यह धरती है बलिदान की··

बलिदान शब्द भले ही, स्वतंत्रता-संग्राम से जुड़कर अधिक प्रचलन में आया—परन्तु इसकी मूल भावना मानव के चरम विकास और उत्थान के इतिहास में अत्यन्त आरम्भिक काल से संबद्ध है। वैदिक युग से लेकर त्रेता, द्वापर तक निरन्तर परहित किंवा समाज-हित में बलिदानों की सुदीर्घ परम्परा प्रकाश में आती रही है। शतमन्यु, दधीचि, जटायु और द्वापर में वसुदेव-देवकी की संतानों के बलिदान उजागर हैं। उसी परम्परा में पाटन-प्रभास के सोमनाथ मन्दिर के युद्ध में पचास हजार हिन्दू योद्धा बलिदान हुए।

अनन्तर अकबर ने जब चित्तौड़ पर चढ़ाई की और वहां अधिकार पा लिया तो उसने चित्तौड़ के मन्दिरों को ध्वस्त करने की आज्ञा दी। जिसका प्रतिरोध करते-करते दस हजार राजपूत वीर खेत रहे। खुद मुस्लिम इतिहासकारों—बदायूंनी, फिरिश्ता और निजामुद्दीन अहमद ने ये आंकड़े अपनी कलम से दिए हैं।

उन दिनों आक्रमणकारी का प्रबल विरोध करते हुए आत्म-बलिदान की कैसी रोमांचकारी पद्धति थी, इसका उदाहरण देखिए। बात राजस्थान की ही है। बादशाह अकबर मेड़ता होकर गुजरात की तरफ जा रहा था—ठीक उसी समय सिरोही का एक वीर राजपूत अकबर के एक सरदार खान-ए-कलां के शिविर में आया और आते ही तेज़ कटार खान के कलेजे में उतार दी—वह पीठ की तरफ पार हो गयी। खान किसी तरह बचा लिया गया लेकिन मुगलों ने उस वीर सपूत की बोटी-बोटी अलग कर दी। क्या उस आत्म-बलिदानी को पता न था कि उसका यही अंजाम होगा? जरूर पता था। लेकिन उसका निश्चय था, बर्बर आततायी को मारकर मरना। कैसी प्रखर देशभक्ति है! कैसा ज्वलंत स्वाभिमान! विरोध का कैसा उग्र स्वरूप ! इसी समय अकबर सिरोही से गुजरा तो वहां थोड़े ही लोग युद्ध के लिए बचे थे—होंगे कोई डेढ़ सौ। उन सबने केसरिया, बाना पहना और तलवारें नंगी करके अपने घर के बाहर आ गए। बहुत से देवालयों में इकट्ठा हो गये और जैसे ही अकबर फौज-फाटा समेत सिरोही आया—डेढ़ सौ का वह जत्था, वे जवां-मर्द मुगलों से लड़ते-लड़ते बलिदान हुए। सैकड़ों मुगल भी मारे गये—इनमें अकबर के एक बड़े सरदार तातार खां का बेटा दोस्त मुहम्मद भी उन बलिदानी राजपूतों के हाथों जहन्नुम चला गया। उन डेढ़ सौ राजपूतों में कोई नहीं जीवित बचा। इन बलिदानों का यह संदेश था कि हम जीते जी आक्रमणकारी अकबर को सहन नहीं करेंगे, अपनी भूमि को उसकी फौज के पांवों तले रौंदे जाना नहीं देख सकते और अकबर का स्वागत इसी तरह से करेंगे। मारेंगे और मरेंगे। देश के शत्रु को मारने और मरने की परम्परा भारत के बलिदानी इतिहास की बहुत मूल्यवान थाती है, अजस्र प्रेरणास्रोत।

यह सत्-असत् का युद्ध था। इसे हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष कहना ठीक नहीं, क्योंकि हल्दीघाटी की लड़ाई में पहले पहल पर्वतों के पीछे से महाराणा प्रतापसिंह का पक्षधर जो वीर सेनानी अपने गुल्म के साथ मुगलों पर बिजली की तरह टूट पड़ा—वह हकीम खां सूर था और यही राष्ट्रभक्त मुसलमान वीर था, जिसने घिर जाने पर घायल महाराणा प्रताप चेतक की लगाम पकड़ कर समरांगण से दूसरी ओर मोड़ दी थी और साग्रह प्रताप को वहां से चले जाने को विवश कर दिया था। अन्यथा किसी भी दशा में महाराणा प्रताप हल्दीघाटी में अपने सैनिकों, समर्थकों को जूझते छोड़कर चले जाने को तैयार नहीं हो रहे थे। क्या दृश्य रहा होगा हल्दीघाटी का कि अकबर की सेना का नेतृत्व कर रहा था राजा मानसिंह और महाराणा प्रताप की तरफ से ध्वज फहराता जो सर्वप्रथम समरांगण में कूदा, वह था मुसलमान हकीम खां सूर। फिर महाराणा को युद्ध के बीच नाजुक क्षणों में बचाने की झाला मानसिंह के साथ उसी त्वरा से जिसने चिन्ता की, चेष्टा भी, वह भी हकीम खां ही था।

ऐसे ही महान उत्सर्ग का एक उदाहरण ग्वालियर के राजा रामशाह तंवर किंवा रामसिंह का है, ये पाण्डवों के वंशज थे और यद्यपि युद्ध मेवाड़ की स्वतंत्रता के लिए

हो रहा था तो भी ग्वालियर से स्वेच्छया यह अपने सभी पुत्रों और सेना सहित हल्दीघाटी की लड़ाई में राणा प्रताप के कंधे से कंधा मिलाकर सर्वथा आगे रहा। हरावल सेना के अग्र भाग में ही रहकर लड़े। इनके परिवार और वंश का एक-एक आदमी हल्दीघाटी में बलिदान हुआ, समूचा कुल शेष-चिह्न हो गया। इनके सभी पुत्र शालिवाहन, भवानीसिंह (मानसिंह) और प्रतापसिंह राणा के पक्ष में मुगलों से संग्राम करते हुए शहीद हुए—तंवर राजा खेत रहा। शालिवाहन की छतरी आज भी खामनोर ग्राम में मौजूद है। ऐसा एक भी शस्त्रधारी तंवर (तोमर) रामशाह के खानदान में न रहा, जो युद्ध से विरत होकर जीवित रह गया हो। उन बलिदानियों की गणना किस इतिहास ने की है? अपने राज्य के लिए नहीं, राजा के लिए भी नहीं, किसी की कृपा या पुरस्कार-प्राप्ति की इच्छा का भी वहां प्रश्न न था। फिर भी अपने राज्य से, भिन्न प्रांत से मेवाड़ की घाटी में वे दल बांध कर आ गये और अंतिम सांस तक लड़े, मिट गये। किसलिए? आज उस आहत अतीत से वर्तमान जिज्ञासु है कि वे सब किसलिए आहुत हुए? क्या लक्ष्य था? उत्तर किन शब्दों में है! और युद्ध के दमामे बजे, रणभेरी निनादित हुई, रणसिंगों का शोर उठा हल्दीघाटी की दिशा में कि हमलावर आया है चुनौती देने—वह पूरे देश को अधीन बनाना चाहता है, देश का गौरव-मण्डित मस्तक अकबर पैरों में झुकाने पर तुला है—ऐसे में अकेला राणा प्रताप देश-गौरव और स्वातंत्र्य की उन्मुक्त ध्वजा फहराता हल्दीघाटी में आकर खड़ा है। हालांकि बीकानेर, जैसलमेर, जोधपुर, आमेर-अधिपति अकबर के मनसबदार बन गए हैं परन्तु कुछ और भी अपवाद हैं। ओरछा के मधुकर शाह, बूंदी का राव दूदा, जोधपुर का चन्द्रसेन और सिरोही-नरेश भी अकबर को चुनौती देते हुए प्रताप के पथ पर मुगलों से जूझ रहे हैं, तो रामशाह का तंवर-कुल अपनी वीरोचित परम्परा से विरक्त कैसे रह सकता है! देश-देवता ने पुकारा और दौड़ पड़े हल्दीघाटी में साका-संगर करने। हजारों वर्षो के इतिहास में सत्वरूपेण यह भावना ऊर्जस्वित समाहित है, मेरुदण्ड है मानो भारतीय स्वतंत्रता-इतिहास का। स्वाभिमान, स्वार्थ-त्याग, सर्वस्वसमर्पण, संगर-संघर्ष और सेवा, उस इतिहास-पुरुष के अंग-उपांग हैं। बलिदान, आत्माहुति की भावना उसके प्राण।

कच्छ के रन के बलिदानी

और फिर हम याद करें, कच्छ के रन के रक्षक उस अमर बलिदानी वीर घोघा राणा को, जो आक्रामक महमूद गजनवी के रास्ते में अपने 103 प्रपौत्रों, 46 पौत्रों तथा 21 पुत्रों सहित खड्गहस्त हो अड़ गया कि हमारे इस परिवार के जीवित रहते सुल्तान महमूद इस रन के रास्ते सोमनाथ नहीं जा सकता। महमूद की लाखों फौज—उसके मुकाबले घोघा बापा की सैन्य-शक्ति नगण्य। किन्तु एक बार नहीं, दस बार गजनी का अमीर महमूद गजनवी भी उस रास्ते जाते हिचक गया, सोच में पड़ गया और घोघा राणा को अपने संदेशवाहक के द्वारा पैगाम भेजा कि 'मेरी आपसे दुश्मनी नहीं। आप

हमारा रास्ता न रोकें और सोमनाथ जाने दें, बस यही हम चाहते हैं और आपकी तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाते हैं। आप के घोघागढ़ से हमें कोई वास्ता नहीं।' मगर घोघा राणा के सफेद गलमुच्छे खड़े हो गए, उस वृद्ध वीर की भुजाएं फड़क उठीं और उबल उठा। कहा—'महमूद से कह देना, घोघा बापा की तलवार का पानी चखे बिना उसकी फौज कच्छ के रन में पांव नहीं रख सकती—हम वे पांव काट डालेंगे। और एक घोघागढ़ नहीं, आगे भी सवा लाख राजपूत उसकी राह में अड़े खड़े हैं।'

और फिर कच्छ के रन में तलवारें चलीं। घोघा बापा अपने 103 परपोतों, 46 पोतों और 21 बेटों सहित कट मरा, तब कहीं महमूद कच्छ के रन में आगे बढ़ सका। परिवार किसलिए? इसका उत्तर बूढ़ा सिंह घोघा राणा इतिहास को अपने रक्त से लिखकर दे गया। जीना किसलिए और मरना किसलिए, इसका जवाब भी वह अपनी तलवार से इतिहास को बता गया, आने वाली पीढ़ियों को यह ज्वलंत तथ्य समझना होगा।

हम उन बलिदानों को न भूलें, जब अकेले मेवाड़ की स्वतंत्रता के लिए एक पर एक चार-चार पीढ़ियों के जिन लोगों ने अपने जीवन-दीप सदा के लिये बुझा दिये। चढ़ा दिये अपने शीश स्वतंत्रता की बलिवेदी पर। बलिदानी फत्ता की मां और पत्नी भी चित्तौड़ के युद्ध में लड़ते हुए शहीद हुईं—यह स्मरणीय है। बाबर से लेकर अकबर और जहांगीर तक यह संग्राम जारी रहा। जहांगीर ने भी चार-चार बार मेवाड़ पर हमले किये। देलवाड़ा का झाला मानसिंह हल्दीघाटी में शहीद हुआ था। इसे राणा प्रतापसिंह की बहन ब्याही थी, आगे अब्दुल्ला खां की फौज से युद्ध करते-करते मारवाड़ के रावल्याग्राम में शहीद झाला मानसिंह का बेटा शत्रुशाल भी शहीद हुआ। इसी तरह मीराबाई के भाई वीरवर जयमल्ल ने चित्तौड़ दुर्ग की रक्षार्थ आत्माहुति दी थी। आगे जहांगीर की फौज जब रणकपुर का देवालय तोड़ने आई, तो कितने लोगों को पता है, उसी बलिदानी जयमल्ल का बेटा मुकुन्ददास उस मन्दिर की रक्षा में लड़ा और शहीद हुआ। पीढ़ी दर पीढ़ी शीशदान की यह परम्परा निभती मिलती है। रावत नेतसिंह हल्दीघाटी में लड़ा, उसका बाबा बलिदान हुआ था बाबर के युद्ध में, पिता खेत रहे बहादुरशाह से लड़ कर—तीन-तीन साके!

तभी तो जहांगीर के जमाने में उसके बेटे सुलतान खुर्रम ने मेवाड़ पर हमला किया। यह हमला जहांगीर के हुक्म और योज़ना से किया गया था। जहांगीर चाहता था कि जो सफलता उसका बाप अकबर मेवाड़ में न पा सका, उसे वह प्राप्त कर ले। फलतः उसकी फौज मेवाड़ में पके खड़े खेत जलाने लगी, मन्दिर ध्वस्त करने लगी। गांवों में लाशें ही लाशें गिराई जाने लगीं। मेवाड़ी औरतें और बच्चे बाजार में कौड़ियों के मोल मुगल फौजी नीलाम करने लगे। न पहनने के वस्त्र रहे, न अन्न! तो राणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह के मन में कुछ कमजोरी यानी निराशा आई और उसने सोचा, क्यों न मैं मुसलमान खुर्रम से समझौता कर लूं? मुगल सिपहसालार अब्दुर्रहीम खानखाना से उसे कुछ आशा थी। क्योंकि एक बार अमरसिंह ने रहीम के स्त्री-बच्चों को बचाकर

उसके पास सुरक्षित भिजवा दिया था। रहीम इसका एहसानमन्द था। अतः संकट के समय अमरसिंह ने रहीम को लिखवा भेजा–

गोड़ कछाहा राठवढ़ गोखा जोख करंत।
कहना खानखाना से बनचर हुआ फिरंत ॥

यानी, 'राठौर, कछवाहा और गोड़ राजपूत आज मुगलों के अधीन होकर तो प्रासाद के गवाक्षों में सुख-निद्रा ले रहे हैं, लेकिन खानखाना से कह देना कि हम लोग यहां जंगलों में वनचारी हो रहे हैं।' तात्पर्य यह कि आप कहें तो हम भी कछवाहों की रीति अपना लें! रहीम ने यह दोहा पढ़ा तो उसे धक्का लगा। वह तो हिन्दू संस्कृति का उपासक था। उसका मुरीद! उसने राजस्थानी में ही अमरसिंह को लिखा–

ध्रम रहसी रहसी धरा, खप जासी खुरसान।
अमर विशम्भर ऊपरा, राखो नह्यौ राण ॥

धन्य रहीम! देखिये क्या लिखता है कि, 'राणाजी! धर्म और धरती तो सदा रहेंगे परन्तु मुगल शासन (खुरासानी हुकूमत) का नाम भी नहीं रहेगा। इसलिये प्यारे अमरसिंह! तुम विश्वम्भर, जो परमात्मा है–उसी पर विश्वास क्यों न रखो और युद्ध जारी रखो।'

अमरसिंह का मन दृढ़ हो गया। उसने विकट युद्ध किया। रहीम का दोहा प्रतिफलित हुआ। भारत से मुगल हुकूमत फना हो गयी, नामलेवा भी न रहे। मगर मेवाड़ की गौरवमयी धरती है, और हिन्दू धर्म आज भी अक्षुण्ण है। 'ध्रम रहसी, रहसी धरा' रहीम के ये बोल युग-युगों तक मानव को सत् के संघर्ष में बल देते रहेंगे। रहीम खानखाना की यह बलिदानी भावना उस युग का पुरखा अपनी संतानों को विरासत में दे जाता था।

और यही संदेश भारतीय बलिदानों के इतिहास में मुखरित है कि व्यक्ति की शक्तिमत्ता सत्ता-सुखभोग के लिए नहीं, किन्हीं और जीवन-मूल्यों, आदर्शों तथा समष्टि-हित में प्रयुक्त होनी चाहिए। ये सब बलिदान इसलिए नहीं कि किसी एक कुनबे का चिरकाल तक 'यावच्चंद्र दिवाकरौ', गद्दी पर हक बना रहे और न इसलिए कि देश की समग्र लक्ष्मी तथा अधिकांश उत्पादन-साधन इने-गिने मुट्ठी भर हाथों में सिमट आयें। किसी संघर्ष का सूत्रपात इसलिए काम्य नहीं कि उसका रास्ता सत्ता से जुड़ जाये। वरन् देखना होगा कि वह जन से कहां तक जुड़ा हुआ है, किसके लिए है?

शिवाजी के आह्वान पर तानाजी मालसुरे ने कहा था, 'मेरे लड़के का ब्याह बाद में होगा, पहले सिंहगढ़ विजय करेंगे।' और उसने ब्याह के बजते बाजे बन्द करा दिये थे। शस्त्र-सज्जित हो चल पड़ा था सिंहगढ़ के पथ पर। समष्टि के लिये व्यष्टि के बलिदान की यही रीति-नीति भारतीय बलिदानी इतिहास की संजीवनी है, हुतात्माओं की मूल प्रेरणा और सात्विक शक्ति। दिशाहारा के लिये यह बलिदान-कथा-सरिता नवजागरण, नवक्रांति और नये सृजन की संदेशवाहिका बने, नवपथिकों के लिये पथ-प्रदीप!

जिनकी याद से ही कितने आख्यान बन गये

जब फणीन्द्र घोष मुखबिर बन गया और पुलिस उसे पकड़कर झांसी लाई, ताकि उसकी शिनाख्त और राजदेही से अन्य क्रांतिकारी भी पकड़े जा सकें—उस समय आजाद झांसी में मौजूद थे और रामदुलारे शर्मा के यहां ही उनका अड्डा था। लेकिन जो पकड़ने आये थे—वे थे पंजाब-पुलिस के अधिकारी। झांसी-पुलिस का माथा ठनका और मन-ही-मन वे पछताये भी बहुत कि आजाद जैसा फरार कांतिकारी यहां रहा, उनसे पंजे लड़ाता रहा—किस्सागोई भी करता रहा—ड्राइविंग लाइसेंस भी ले गया, गाड़ियों पर भी ड्राइवर बनकर घुमाया और अब उसके पकड़ने का श्रेय और पुरस्कार लेने आ पहुंची पंजाब पुलिस। झांसी पुलिस की छाती पर सांप लोट गया। वे बाधक बनने की सोच बैठे। मदद की क्रांतिकारियों की। जैसे ही पंजाब-पुलिस झांसी में घुसी और पता चला कि वह यहां क्रांतिकारियों की खोज-बीन करेगी, छापे मारकर खानातलाशी आदि लेगी—झांसी

पुलिस ने खुफ़िया विभाग के हवलदार कम्मोदसिंह को दौड़ाया मास्टर रुद्रनारायण के घर कि उन्हें तत्काल खबरदार कर दो कि पंजाब-पुलिस किस उद्देश्य से आई है! हालांकि, यही कम्मोदसिंह था, जिसे आजाद को पकड़कर पुरस्कार और पदोन्नति प्राप्त करने का सबसे ज्यादा भूत सवार था। जनाब मास्टर रुद्रनारायण की ही बैठक में आजाद से पंजा लड़ाते, जोर-आजमाइश करते और कहते मास्टर साहब से, 'मास्साब! काश, आजाद कभी मेरे हाथ लग जाये तो पांचों उंगलियां अपनी घी में समझो।'

पंजा लड़ाते थे पुलिस से

मास्टर जी कहते, 'हां! भाग्य आजमाओ, शायद मौका मिल जाय।' और फिर आजाद हंसते, रुद्रनारायण भी। कम्मोदसिंह शेखचिल्ली के सपनों में खोया रहता, ठीक आजाद यानी हरीशंकर ड्राइवर के बहुत निकटस्थ होकर ही। दरअसल, पुलिस को शक था कि मास्टरजी क्रांतिकारियों से रब्त-जब्त रखते हैं, असहयोग आंदोलन में जेल हो आये थे। उनके मकान के आगे बतौर निगरानी खुफिया पुलिस पहरा रखती थी—निगरानी रखने वालों में कम्मोदसिंह भी था। हालांकि, एक बार मास्टर जी के घर तलाशी हो चुकी थी फिर भी, आजाद का उनके यहां रोज आना-जाना था, खाना भी वहीं खाते। कभी रहते भी। मास्टरजी पंजा लड़ाने का शौक रखते थे, आजाद भी इसमें रुचि रखने लगे। चूंकि खुफिया पुलिस वाले दरवाजे के पास बैठे रहते या मंडराते रहते तो मास्टरजी पंजा लड़ाने की दावत उन्हें ही दे देते—वे उनके कमरे में आ जमते—आजाद की वहां उपस्थिति की भला हवलदार कम्मोदसिंह व उसके साथियों को क्या खबर थी! मास्टरजी की पत्नी को आजाद भाभी कहते—उनके साथ का फोटो कहीं-कहीं आजाद का अब भी मिलता है।

खैर, वही कम्मोदसिंह जब मास्टरजी को यह बताने आया कि सतर्क हो जायें, पंजाब-पुलिस आजाद को पकड़ने आ गई है, तो उन्हें हैरत हुई। वे हड़बड़ा गये। रातो-रात आजाद को खबर की। आजाद रामदुलारे शर्मा (ड्राइवर) के घर रात में ही भागे लेकिन वह मिला नहीं। दोबारा तड़के चले तो चिन्तित थे कि भगतसिंह, सुखदेव आदि के कुछ मैले कपड़े उसी घर में रह गये हैं—हटा दें। अभी रामदुलारे के मकान पर पहुंचे भी न थे कि रास्ते में पान की दुकान पर खड़े रामदुलारे के साले ने कह दिया आजाद से कि 'जीजाजी का मकान पुलिस ने घेर लियो है, का जाने काहे खातिर?

आजाद साइकिल पर थे, फौरन निर्विकार मुद्रा में आगे निकल गये। गनीमत हुई कि रामदुलारे के घर तक नहीं पहुंचे। फिर सदाशिवराव मलकापुरकर और भगवानदास माहौर को चेताया कि 'हे भगवान! वह तेरा दादा (फणीन्द्र) था न, आ पहुंचा यहां भी। साला¨!' आजाद क्रुद्ध हो उठे थे। आजाद ने उसी दिन सदाशिवराव मलकापुरकर और भगवानदास से कहा, 'घर छोड़ दो।' आजाद उन दोनों को लेकर दतिया के रास्ते ग्वालियर आये। वहां दल के एक सदस्य गजानन सदाशिव पोतदार रहते थे—जनकगंज

में। तीनों वहीं ठहरे। वैशंपायन (बच्चन) ने मुझे बताया था कि 'आजाद भैया ने ग्वालियर से मुझे चिट्ठी भिजवाई थी प्रतापगढ़ कि मैं अब झांसी न जाऊं, न घर रहूं, वरन ग्वालियर ही आ जाऊं।' बच्चन भी ग्वालियर आजाद के पास पहुंच गये। गुप्तचरों को विश्वास जम गया कि ये तीनों लोग भी क्रांतिकारी दल में हैं और ड्राइवर हरीशंकर ही आजाद हैं।

सदाशिवराव मलकापुरकर अभी भी झांसी में रहते हैं—उन्हीं के हाथ से पत्र लिखवाकर आजाद ने वैशम्पायन को झांसी न आने तथा ग्वालियर पहुंचने की ताकीद की थी। भाई सदाशिवराव बड़े ही सादगी-पसंद, अल्पभाषी और आत्म-प्रसिद्धि से दूर रहने वाले क्रांतिकारी। जब भी मिलते हैं, वही स्नेह। 'भुसावल बम-कांड' में भगवानदास माहौर के साथ सदाशिव भाई को भी आजन्म कैद का पुरस्कार मिला था। इनके भाई शंकरराव मलकापुरकर भी आजादी की लड़ाई में अपना योगदान देते आये थे।

इस सन्दर्भ में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि आजाद के झांसी-आगमन के पूर्व से ही शचीन्द्रनाथ बख्शी वहां के क्रांतिकारी संगठनकर्ता थे और बख़्शीजी ने भगवानदास, सदाशिव, वैशम्पायन को दल में भर्ती किया। आजाद को बख्शीजी ने ही झांसी में ड्राइवरी आदि के बहाने टिकाने का प्रबन्ध किया—मुझे स्वयं भगवानदास माहौर तथा बच्चन ने बख्शीजी से संबंधित यह तथ्य बताया था।

अंग्रेज को चढ़ाई में पछाड़ा

बच्चन ने एक दिन बताया कि झांसी में रहते हुए आजाद भैया ने वहां के दुर्ग के एक कारीगर से मेलजोल बढ़ा लिया था। अतः वे बेरोक-टोक किले में आते-जाते थे। किले में जाते वक्त ऊंची चढ़ाई पड़ती है। आजाद साइकिल से पूरी चढ़ाई बिना उतरे पार करते थे। एक बार एक अंग्रेजी सिपाही उनसे मुकाबला करने लगा चढ़ाई पर। आजाद को तो अभ्यास था—वे अंग्रेज सिपाही को पीछे छोड़कर साइकिल से चढ़ाई पार कर गये। अंग्रेज बीच में ही हांफता रह गया। शहर आने पर आजाद ने भगवानदास से कहा—'बहुत लुक-लुक करता था, लेकिन मेरे साइकिल की रफ्तार बढ़ाते ही हपर-हपर करता रह गया पीछे।' एक गोरे को पछाड़कर वे खुश थे। यों उस जमाने में दुर्ग पर गोरों का ही पहरा रहता था--भारतीय के लिए अंदर प्रवेश करना संभव न था। अवश्य ही शिवरात्रि को छूट रहती थी—वह भी केवल शिवालय तक जाने की, बस।

भगवानदास बताते थे, खूनी पेचिश रहते भी आजाद एक दिन पूरे 25 मील पैदल चले। कलाई की हड्डी टूट जाने से हाथ में पहले जैसी शक्ति नहीं रह गई थी, फिर भी खुफिया चीफ कम्मोदसिंह मास्टर रुद्रनारायण के कमरे में पंजा लड़ाकर जब किसी को हरा देता तो आजाद खुद चीफ से भिड़ जाते और उसका पंजा मरोड़कर ही मानते।

कोई उन्हें मना करता तो कहते—'चीफ-फीफ किसी भाई को पछाड़ दे—यह मैं देख नहीं सकता।'- हवलदार कम्मोदसिंह खिसियाकर रह जाता। आजाद बेझिझक जो मन में आता, कहने में नहीं चूकतें।

उस जमाने में दो आने में एक सेर बढ़िया दूध मिल जाता था, बहुत हुआ तो तीन आने सेर। आजाद को अव्वल तो कब्ज होता न था। हुआ तो एक सेर गरम दूध चढ़ाकर सो जाते। कब्ज दूर । फिर उस रात खाना छोड़ देते थे।

सत्तावनी क्रांति के 62 शहीद

सत्तावनी क्रांति में उड़ीसा में जो 62 लोग बलिदान हुए—उसकी जानकारी कम ही लोगों को है।

इनमें 4 शहीद थे, बोरगांव (उड़ीसा) के सर्वश्री सुरेन्द्र साई, उदान्त साई, मेदिनी साई और छबीलो साई। ये चारों भाई ही थे। पिता थे, धर्मसिंह। ये चौहान राजवंश के थे। राज्य के उत्तराधिकारी थे सुरेन्द्र साई। इनका जन्म सन् 1809 की 23 जनवरी को हुआ। जन्म-ग्राम बोरगांव सम्बलपुर जिले में पड़ता है। सम्बलपुर राज्य इन्हीं का था। सन् 1840 में अंग्रेजों ने इन पर अभियोग लगाया कि सुरेन्द्र, उनके भाई उदान्त और चाचा बलरामसिंह ने रामपुर के ताल्लुकेदार का क़त्ल किया है। इन तीनों को गिरफ्तार करके अंग्रेजों ने मुकदमा चलाया और तीनों को ही ले जाकर कैद कर दिया गया।

10 साल तक ये तीनों लोग जेल में सजा काटते रहे—तभी आया विप्लव-ज्वाल दहकाता-धधकाता 1857 का आग्नेय झंझावात। चारों ओर अंग्रेज कत्ल किये जाने लगे। 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' की सेना में, अंग्रेजों की छावनी-दर-छावनी क्रांति की शंख-ध्वनि गूंजने लगी। मेरठ, अम्बाला, लाहौर, अमृतसर, कानपुर, लखनऊ, बरेली, बनारस, बैरकपुर सर्वत्र 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' की लूट-खसोट, ईसाईकरण, अन्याय-अत्याचार के खिलाफ भारतीय सैनिक, राजे-रजवाड़े, किसान-दूकानदार, जनता का हर वर्ग विद्रोही होकर सड़क पर आ गया।

ये क्रांतिकारी सैनिक जिन्हें 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' ने अपना जरखरीद गुलाम समझ रखा था—अंग्रेजों को मारते-काटते हजारी बाग भी पहुंचे। वहां की जेल तोड़कर सम्बलपुर राज्य के सुरेन्द्र, उदान्त नाम के दोनों भाइयों और उनके चाचा बलरामसिंह को जेल से बलात् रिहा कराया। बेड़ियां तोड़ फेंकीं और तब ये तीनों चचा-भतीजे भी उस क्रांति-समर में शामिल हो गये।

ये लोग वहां से अपने एक गांव आ गये और गुप्त रूप से अंग्रेजों का मुकाबला करने के लिए संगठन खड़ा करना शुरू किया। अंग्रेजों को कानोकान इसकी कोई खबर न होने दी। उस संगठन को बंदूकें, तलवारें प्राप्त कराईं। जब उस संगठन ने एक लड़ाकू सेना का रूप ले लिया तो सुरेन्द्र साई ने एक रोज मौका पाकर अंग्रेजों को ललकारा, जो कम्पनी के व्यापार के नाम पर भारत के भू-भागों पर कब्जा कर बैठे थे।

गोरी फौज की शक्ति उनके मुकाबले कहीं अधिक थी, अतः सुरेन्द्र की सेना गुरिल्ला युद्ध करके अंग्रेजों को छकाने लगी। सुरेन्द्र ने यह संग्राम पूरे 8 महीने तक चलाया। आगे 1858 की जनवरी में दुदुपली नाम के स्थान पर इनकी सेना का अंग्रेजों की फौज से जो घमासान युद्ध हुआ—उसमें सुरेन्द्र के एक भाई छबीलो और 58 अन्य साथी खेत रहे। इस युद्ध के बाद सुरेन्द्र फरार हो गये। यह फरारी 4 साल तक चलती रही। अंग्रेज बहुत खोज करके भी पता न पा सके—उन्हीं दिनों एक नया अंग्रेज असिस्टेन्ट कमिश्नर आया—नाम था मेजर इम्पे। इसने यह एलान जारी किया कि 'अगर सुरेन्द्र और उनके साथी आत्म-समर्पण कर देंगे, तो उनके खिलाफ कोई कार्रवाई मुकदमे आदि की न होगी।' आगे एक साल यों ही बीत गया।

फलतः, सुरेन्द्र साई ने अपने 40 साथियों सहित सन् 1862 के मई महीने में इम्पे के सामने आत्मसमर्पण कर दिया—सत्तावनी क्रांति को हुए 5 साल पूरे हो रहे थे—आग ठण्डी पड़ गई थी। नाना साहब पेशवा, बेगम हजरतमहल और अनेक क्रांतिकारी नेपाल के जंगलों में थे। फिर नाना साहब वहां से भी लुप्त हो गये थे। अंग्रेज अब भी उन्हें खोज रहे थे।

अस्तु, मेजर इम्पे ने सुरेन्द्र साई को उनके 40 साथियों सहित स्वतंत्र जीवन बिताने की छूट दे दी। पेन्शन भी दी। लेकिन दो साल बाद एक नया अंग्रेज कमिश्नर मेजर इम्पे की जगह आया, तो सन् 1864 में उसने सुरेन्द्र और इनके तीनों भाइयों

उदान्त, मेदिनी, ध्रुव साई तथा तीन अन्य साथियों को फिर गिरफ्तार करा लिया। कैद किया था, नागपुर के असीरगढ़ किले में। सड़ते रहे थे सात सपूत लम्बे समय तक। जब 20 साल कैद काटते हो गये तो, उस नरक में यातनाएं सहते-सहते सुरेन्द्र साई—सम्बलपुर राज्य का वह राजकुमार अन्धा हो गया। आंखों की ज्योति खो बैठा। और फिर इसी अवस्था में वह अन्धा विप्लवी सन् 1884 की 28 फरवरी को उसी असीरगढ़ किले में संसार से विदा ले गया। उसके दो भाई उदान्त साई और मेदिनी साई भी जेल काटते-काटते ही स्वर्ग सिधारे। क्रांतिकारी की यही चरम गति है। फांसी-कालापानी-जन्मकैद और फिर अज्ञात-अदृष्ट मरण।···

तिलक ही उन शहीदों के आदर्श थे

लोकमान्य तिलक ने अपने मराठी पत्र 'केसरी' में सरकार की आलोचना की। लिखा कि 'अंग्रेज सरकार का दिमाग शायद अपनी ठीक जगह पर नहीं है। पागल हाथी जैसी उसकी हालत मालूम पड़ती है। हत्यारे को तो वह गिरफ्तार कर नहीं सकी, पर अपना दिमागी संतुलन खो बैठी है। जब हत्यारे को पकड़वाने के लिए नकद 20 हजार रुपये का इनाम घोषित कर चुकी है, तो फिर इतने भारी खर्चे पर अतिरिक्त पुलिस-फोर्स रखकर उसके लिए भारी टैक्स वसूलने का क्या औचित्य है? यह तो भयंकर जुल्म है। और क्या यह अतिरिक्त पुलिस-फोर्स लगाकर सरकार अपराधियों को पकड़ भी सकेगी?'

तिलक ही थे, जो उन दिनों यह लिखने का साहस कर सकते थे। और वस्तुतः चाफेकर-बन्धुओं के आदर्श भी तिलक ही थे। तिलक ने ही उन्हें क्रांति-मार्ग पर प्रेरित किया था। प्रमाण है कि रैण्ड और लुइस आयर्स्ट को खत्म करने के लिए जो साधन

चाफेकर बन्धुओं ने जुटाये, उनके लिए स्वयं तिलक ने ही उन्हें अपने पास से साढ़े सात हजार रुपये दिये थे। और फिर बाद में जब बालकृष्ण चाफेकर फरार होकर निजाम हैदराबाद के जंगलों में रह रहे थे, तब वहां भी तिलक ने अपने एक खास आदमी बसु काका जोशी के हाथ हैदराबाद के चीफ जस्टिस केशवराव कोरतकर को पत्र भेजकर बालकृष्ण चाफेकर को आर्थिक मदद संप्राप्त कराई थी और वह भी उस चीफ जस्टिस से जिनका तिलक से घोर वैचारिक मतभेद चलता था, 'क्योंकि कोरतकर थे नरमदली गोखले के अनुवर्ती। दूसरी ओर दामोदर चाफेकर के भतीजे विश्वास चाफेकर तिलक के 'केसरी' पत्र के प्रबन्धक थे।

ये सब रहस्य यद्यपि उस समय अंग्रेजों को विदित नहीं हो सके थे—इसके बावजूद तिलक गिरफ्तार कर लिये गये और उसी जेल में रखे गये, जहां दामोदर चाफेकर फांसी के क्षण का इन्तजार कर रहे थे। तिलक के वहां आ जाने पर दामोदर हरि ने उनसे मिलने की इच्छा की। मिलने पर अनुरोध किया तिलक से कि 'अगर आपके पास 'गीता' हो, तो वह मुझे देने की कृपा करें।' तिलक के पास वहां जेल में 'गीता' थी—उस पर अपने हस्ताक्षर किये और दामोदर को दे दी। क्रांतिकारी उस 'गीता' का पाठ उस दिन से फांसी पाने के दिन तक करता रहा और 18 अप्रैल 1899 को प्रातः जब फांसी चढ़ने का समय आया तो उसी 'गीता' को हाथ में लेकर उसमें से यह श्लोक उच्च स्वर से पढ़ा—

देहिनोऽस्मिन्—यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तर—प्राप्तिः धीरस्तत्र न मुह्यति।

तिलक ने ही शहीद की अन्त्येष्टि भी कराई अपने 'केसरी' पत्र के प्रबन्धक विश्वास चाफेकर के द्वारा। तिलक का चाफेकर-बंधुओं से कितना अंतरंग रिश्ता था—यह बात उस पत्र से भी प्रमाणित है जो तिलक ने एक रोज प्रसिद्ध क्रांतिकारी नेता पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा को लिखा था, उसमें तिलक ने दामोदर चाफेकर के बारे में लिखा था कि—

'यहां पूणे में एक ब्राह्मण सज्जन हैं, जिनमें क्लर्क के बजाय सैनिक सद्‌गुण ही अधिक हैं। वे चाहते हैं कि किसी देशी राज्य में निजी सहायक या अंगरक्षक का काम करें। वहां उदयपुर में क्या यह स्थान उन्हें प्राप्य हो सकता है? यह न हो सके तो किसी सेना में वे सैनिक का कार्य करना चाहते हैं। अगर आप यहां आयेंगे तो इन सज्जन (दामोदर चाफेकर) के विषय में आपसे वार्ता करूंगा।' पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा उदयपुर के दरबान थे उन दिनों।

अनन्तर पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा से कहा गया कि 'आप इस्तीफा दे दें दीवान के पद से और रियासत से निकल जायें।'

'इनको भी मां-बाप ने पाला था बड़े दुःख सहकर'

'मास्टर दा!' 14 साल के एक किशोर ने क्रांतिकारियों के उस मुख्य केन्द्र में आकर दल के नेता को अपनी ओर मुखातिब करना चाहा।

मास्टर दा, जिनका वास्तविक नाम सूर्यसेन था—काम में बहुत व्यस्त थे। उन्होंने सिर उठाये बिना ही कहा—

'हां, बोलो!'

'मास्टर दा! मुझे भी आप अपने साथ काम में लगा लें।'

'काम! किस काम की बात कर रहे हो तुम?' सूर्यसेन ने लापरवाही से उसकी ओर देखते हुए पूछा।

'मास्टर दा! मैं सबसे छोटा जरूर हूं, लेकिन इतना जान गया हूं कि आप सभी

लोग ज़ल्दी ही किसी काम पर जाने वाले हैं! मेरी बड़ी लालसा है कि आप मुझे भी जरूर-जरूर अपने साथ ले चलें।'

'क्या कहते हो? दूध के दांत भी तो अभी गिरे नहीं होंगे तुम्हारे! यह सब किसने बताया-सिखाया तुम्हें? खबरदार! और किसी से कभी भूलकर भी ऐसी चर्चा मत करना—समझे! और ध्यान देकर सुन लो—मन लगाकर पढ़ो-लिखो जाकर। हमारे काम के फेर में मत पड़ो! हुंह, जरा-सा तो है और चला है हमारा साथ करने।'

लगभग झिड़क ही दिया था मास्टर दा ने उसे, किन्तु वह हतोत्साह न हुआ वरन् फिर से बार-बार रिरियाकर, विनती-सी करता हुआ कहने लगा, 'न, मास्टर दा! मुझे भगा़ने से काम नहीं चलेगा। मैं भी आपके साथ शामिल होऊंगा, यही कहने आया हूं। आपको मुझे साथ लेना ही होगा—यह कहे जाता हूं। आप मुझे ऐसे समय मना नहीं कर सकेंगे दादा! सभी जा रहे हैं आपके साथ, तो अकेले मुझे ही आप कैसे छोड़ देंगे? मैं भी चलूंगा। छोटा होने पर भी आप जांच लें—मैं पिस्तौल, बन्दूक-मस्केट सभी कुछ ठीक-ठीक चला सकता हूं।' उसके उत्साह का पार न था।

सूर्यसेन हैरान। सोचा, कैसा अजीब लड़का है! किसने इसे हमारे इस जोखिम भरे दल में शामिल किया? पूछा उन्होंने विनोद के स्वर में—

'तुम अभी बात समझोगे नहीं समझाने से। तुम्हारा नाम क्या है?'

'निर्मल लाल।'

'किस दर्जे में पढ़ते हो?'

'8वें दर्जे में।'

'क्या उम्र है तुम्हारी?'

'करीब 14 वर्ष।'

'इतनी कम उम्र में भला तुम हमारा क्या काम कर सकोगे?'

'सब करूंगा दादा! मैं सब समझता हूं।'

'दल में करीब दो महीने होने आ रहे हैं।' निर्मल जवाब देता गया दादा को। उसकी बातों से सूर्यसेन को बड़ा कुतूहल और कौतुक अनुभव हुआ। वे अध्यापक रहे थे—इसी से दल में सब लोग उन्हें 'मास्टर दा' कहते-पुकारते थे।

'फिर भी, मेरी बात मानो। अपना पढ़ो-लिखो। अभी घर छोड़ने का तुम्हारा समय नहीं है। जिद करना ठीक नहीं। हमारा काम बड़े जोखिम और खतरे का है—कौन जियेगा, कौन मरेगा—कुछ ठिकाना है क्या? सच में तुम्हें दल में भर्ती ही नहीं करना था। कौन लाया दल में तुम्हें?'

'विधु दा।' सच ही विधुसेन ने उसकी फुर्ती, लगन, उत्साह और समर्पण भावना से प्रभावित होकर उसके अल्पायु होने के बावजूद उसे दल में भर्ती कर लिया था।

'तुम जाओ। मैं पूछूंगा विधुसेन से तुम्हारे बारे में।' टाल ही दिया था सूर्यसेन ने उसे उस रोज।

निर्मल हाल ही 8वीं कक्षा में आया था। चटगांव के काक्स बाजार में जो हाईस्कूल था, उसी का छात्र था वह। 14 वर्षीय किशोर, और मचल रहा था क्रांतिकारी कार्यो के लिए! कैसे मान जाते मास्टर दा! विधुसेन भी छात्र ही था, चटगांव में पढ़ता था। वे सब भी कोई 9वीं, कोई 10वीं और कोई 11वीं कक्षा में पढ़ने वाले छात्र ही थे। इनमें अपूर्वसेन 15 साल का था, तो मनोरंजनदास 16 साल का। कृष्ण चौधरी अलबत्ता 16वें वर्ष में था। देवप्रसाद (देबू), रजतसेन, जितेन्द्रदास, मोतीलाल कानूनगो भी 17 साल के थे। पुलिन घोष, प्रभाष बल और त्रिपुरासेन 16 साल के थे। और ये सब इसी उम्र में ब्रिटिश फौज से लड़ते हुए चटगांव जिले में शहीद हुए—यह क्या इतिहास की आश्चर्यजनक महान घटना नहीं? इन किशोरों और तरुणों की क्रांतिकारी टोली की कुल संख्या 65 थी। हथियारों में इनके पास कुल 18 रिवाल्वर, 13 बन्दूकें और कुछ बन्दूक की बारूद वाले बम थे। सैनिक-शस्त्रागार के लौहकपाट तोड़ने के लिए कुछ भारी हथौड़े, रेल-पटरियां उखाड़ने के (ताकि फौज न आ सके) लिए छेनी-आरी आदि औजार। एक-दो गाड़ियां भी छावनी के शस्त्रागार पर धावा बोलने के लिए जुटा ली थीं। एक गाड़ी का ड्राइवर आनन्द गुप्त इतने छोटे कद का था—15 साल उम्र का कि उसे सीट पर ठीक से बैठकर गाड़ी चलाने के लिए एक और स्टूल सीट पर जमाना पड़ा—इन्होंने ही बंगला में यह विलक्षण इतिहास-प्रसंग सप्रमाण स्वयं साक्षी रूप में लिखा है; जिसके आधार पर मैं यहां उक्त किशोर शहीद क्रांतिकारी की बलिदान-कथा लिख रहा हूं।

हमने ऐसे कई मन्त्रियों को देखा-सुना है, जो अपने छात्र-जीवन के या बाद के 6-7 महीने के जेल-वास की चर्चा अपने सार्वजनिक भाषणों में करते नहीं अघाते, और उनका वह जेल-वास भी आजाद हिन्दुस्तान में। ऐसे महान जेल-यात्री भी मंत्री-पद पाकर गर्व से फूलकर कहते रहे हैं कि हमें सन् 1968 में जब 6 महीने की जेल मिली थी तो मैं विश्वविद्यालय-छात्र था! ऐसी फिजा में अंग्रेज पल्टन से आमने-सामने संग्राम चलाने वाले 14-14, 15-15 साल के शहीद बच्चों के इतिहास की कद्र कौन करता! आज भी वही फिजा बरकरार है।

सो, उस जमाने में, इस दल के नेता सूर्यसेन (मास्टर दा) का बड़ा नाम था। उनकी वीरता-धीरता, साहस-शौर्य और त्याग की कथाएं पूर्वी बंगाल के घर-घर सुनाई पड़ती थीं। वे घर-गृहस्थ ही थे। उनके विप्लवी जीवन के कारण उनकी पत्नी ने अकथनीय कष्ट और यातनाएं झेलीं। कई बार उन्होंने चाहा कि अपना जीवन समाप्त कर लें, परन्तु किसी तरह उन्हें धीरज बंधाया गया। कारण, सूर्यसेन को गिरफ्तार करने पर अंग्रेज सरकार ने फांसी दे दी थी। इन्हीं की एक शिष्या उस दल में बहुत प्रसिद्ध हो गई है, जिसका नाम था—बलिदानिनी प्रीतिलता वाद्दार (वा 'ओदेदार')। एक थी—कल्पनादत्त। दोनों ही स्नातिका थीं। कल्पनादत्त को आजीवन कैद दी गई। उन्हें मैंने देखा है; वार्ता की है।

इस दल का अपना एक छोटा-सा गुप्त प्रेस भी था, जिसमें दल की तरफ से जनता के लिए कई इश्तिहार छापे गये थे। क्या यह मामूली साहस की बात है कि इन 65 लोगों ने जिनमें अधिकांश किशोर और उठते तरुण ही थे—सेना और पुलिस के पूरे 64 सिपाही आमने-सामने की लड़ाई में मार दिये!

आजादी के इतिहास में अप्रतिम

केवल 65 किशोर तरुण कुछ हथियार लेकर ब्रिटिश सरकार की पुलिस और पल्टन के 64 सिपाही यमलोक भेज सके, वह भी सम्मुख संग्राम करते हुए—यह आजादी के इतिहास की अविस्मरणीय घटना है और उस युद्ध को उन बाल-युवा क्रांतिकारियों की टोली ने एक खेल ही समझा था, मृत्यु का खेल। वे जानते थे कि हम जो कुछ करने जा रहे हैं, उसमें हमें मृत्यु गले लगानी होगी वरन् इस टोली के एक प्रत्यक्ष साक्षी 15 वर्षीय सदस्य ने यह स्मृति संजोई है कि सभी ने प्रतिज्ञा की थी—'हम लड़ते-लड़ते ही आत्म-बलिदान देंगे, समर्पण नहीं करेंगे, न हथियार डालेंगे शत्रु के आगे।' पुलिस और अंग्रेज सरकार की फौज से इस टोली का संग्राम सन् 1930 की 18 अप्रैल को हुआ था, जो मई तक चलता रहा था। वह जमाना ऐसा था कि 'क्रान्ति' या 'विप्लव' शब्द सुनने मात्र से लोग डर जाते थे तथा उस जगह खड़े नहीं रहना चाहते थे। राष्ट्रीय भावना, स्वाभिमान, स्वाधीन होने की अभिलाषा—ये चीजें समाज में स्वप्न बन गई थीं। शुरू में जब गांधीजी ने असहयोग-आन्दोलन चलाया, तब इस क्रांतिकारी टोली के नेता सूर्यसेन (मास्टर दा), अम्बिका चक्रवर्ती, अनन्तसिंह, निर्मलसेन, लोकनाथ बल, गणेश घोष आदि चटगांव में कांग्रेस में सक्रिय हुए। सूर्यसेन उन दिनों जिला-कांग्रेस कमेटी के मंत्री रहे थे और अम्बिका चक्रवर्ती उस कमेटी के उपाध्यक्ष। कांग्रेस का जो युवा संगठन था, लोकनाथ बल उसकी चटगांव शाखा के अध्यक्ष तथा गणेश घोष मंत्री रहे थे, परन्तु आगे जो इन लोगों का कांग्रेस की नरम नीतियों से मतभेद बढ़ा—उसके कारण कांग्रेस से इन लोगों ने अपना रिश्ता तोड़ दिया और युवकों में जागृति लाने के लिए क्रांति-पथ अपनाया।

उन्हीं दिनों सन् 1929 के 15 सितम्बर को भगतसिंह और आजाद के एक साथी यतीन्द्रनाथ दास की लम्बे अनशन के बीच पंजाब की जेल में मृत्यु हो गई—उस सन्दर्भ में उक्त कई लोगों ने चटगांव में जुलूस निकाला, इस जुलूस में शहीद यतीन्द्रनाथ दास के चित्र और तिरंगे झण्डे लिये हुए थे लोग। झण्डों पर कई नारे लिखे थे, एक नारा था—'वन्दे मातरम्!' एक नारा बंगला में था—

दू पाये दोले गेलो मरण शंकारे।
सबारे डेको गेलो शिकल झंकारे॥

इस जुलूस में सूर्यसेन, अम्बिका चक्रवर्ती, गणेश घोष, अनन्तसिंह, निर्मलसेन,

लोकनाथ बल नेता रूप में आगे थे और ये सभी जेल में रह चुके थे। कारण, कांग्रेस त्याग कर ये छहों लोग क्रांतिकारी गतिविधियों में लग गये थे। साधन जुटाने के लिए सन् 1923 में ही सूर्यसेन और अनन्तसिंह ने 17 हजार रुपये का एक रेलवे खजाना लूट लिया था—यह खजाना 'आसाम-बंगाल रेल कम्पनी' का था। चटगांव में क्रांतिकारियों का यह पहला काण्ड था। उसमें ये छह लोग पकड़ भी लिये गये थे। मुकदमा चला, लेकिन कोई प्रमाण या रुपया आदि किसी के पास बरामद न होने, किसी के मुखबिर न बनने से तथा पैरवी अच्छी होने से पुलिस इन्हें सजा न करा सकी और वह मुकदमा भी खारिज हो गया—यद्यपि खजाना लूटकर लौटते समय इस दल की पुलिस से गोली भी चली थी। परन्तु तब कोई पकड़ा नहीं जा सका पुलिस द्वारा। साफ निकल गये सबके सब। गिरफ्तारियां हुई थीं बाद में।

मुकदमा खारिज होने पर भी अंग्रेज सरकार ने इन लोगों को रिहा नहीं किया जेल से, वरन् राजनीतिक कैदी बनाकर पूरे 4 साल सबको जेल में ही रखा, जेल से छूटे सन् 1928 में। तब उक्त किशोर क्रांतिकारी निर्मल लाला तथा उसके दूसरे बालक छात्र-सखा इन लोगों को यदि कभी सड़क से जाते देखते, तो बड़ी ललक और लालसा से देर तक खड़े देखते रहते—उनके प्रति आदर और श्रद्धा जाहिर करते। उस समय निर्मल के मन में आता कि कभी हम भी इनके रास्ते पर चल सकते!

इन्हीं दिनों देश में 'साइमन कमीशन' आया, उसके बहिष्कार-आंदोलन में पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय की निर्मम लाठी-चार्ज से मृत्यु हो गई, जिसका बदला चन्द्रशेखर 'आजाद के नेतृत्व में सरदार भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु आदि क्रांतिकारियों ने अंग्रेज पुलिस-अधिकारी सौन्डर्स को गोली मारकर चुकाया। फिर 'असेम्बली बम-काण्ड' में भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त ने अपने को घटनास्थल पर जिस तरह गिरफ्तार करवाकर मृत्यु-पथ अपनाया, उन सब घटनाओं से ये लोग प्रेरित होते रहे। कांग्रेस का याचना का रास्ता इनसे दूर होता गया।

इसी समय वरिष्ठ क्रांतिकारी विनयराय, प्रतुल भट्टाचार्य, और निरंजनसेन चटगांव के दौरे पर आये, ताकि एक संगठित विप्लवी दल बनाया जाए। परन्तु बाद में पता चला, एक दिन (1929) में यही निरंजनसेन तथा सतीश पकड़ाशी आदि नेता पकड़े गये हैं। पुलिस की खोज-बीन अधिक बढ़ गई। सूर्यसेन और अम्बिका चक्रवर्ती ने चटगांव के मुहल्ले-मुहल्ले 'व्यायाम-समिति' की शाखाएं खोलीं थी—जिनमें लाठी-छुरा चलाने तथा अन्य शारीरिक व्यायाम का प्रशिक्षण दिया जाता था। इनमें प्रायः छात्र ही भर्ती किये गये—फिर इन्हीं में से छांटकर कुछ को क्रांतिकारी दल में शामिल किया गया तथा उन्हें देश के प्रति शपथ दिलाई गई—विधुसेन उन्हीं में था। उसी ने उम्र में छोटा होने पर भी निर्मल लाला को भी दल में भर्ती करा दिया और सूर्य सेन को उस समय इसका पता भी न चल सका।

उन दिनों चटगांव के सदर घाट-क्लब में कांग्रेस-दफ्तर था, क्रांतिकारी दल कायम

कर लेने पर भी सूर्यसेन (मास्टर दा) और अम्बिका चक्रवर्ती वहीं डेरा जमाये हुए थे। दूसरा केन्द्र था, अनन्तसिंह और गणेश घोष के घर में। तीसरा केन्द्र इन लोगों का था नेशनल मेडिकल स्कूल का छात्रावास—विधु भट्टाचार्य और नरेशराय वहीं रहते थे। सभी सदस्यों को नौका-चालन, अश्वारोहण, कार चलाना और पिस्तौल-बन्दूक की निशानेबाजी का प्रशिक्षण भी आवश्यक रूप से दिया जाने लगा। बाहर से रिवाल्वर-बन्दूकें जुटाने का काम अनन्तसिंह को सौंपा गया और बम आदि बनाने की जिम्मेदारी गणेश घोष को दी गई। गोली-बारूद जुटाना भी जरूरी था।

बम बनाते समय दल के कई छात्र रामकृष्ण विश्वास, अर्धेन्दु दस्तीदार और तारकेश्वर दस्तीदार बुरी तरह जख्मी हो गये, अतः पुलिस वाले और गुप्तचर बहुत सक्रिय हो गये। बम बनाते समय यह विस्फोट दो-दो बार होने से पुलिस का सन्देह बढ़ता गया। तब दल की तरफ से भी कई 'गुप्तचर' पुलिस और खुफिया विभाग पर लगाये गये कि वे ख़बरें प्राप्त करते रहें।

9वीं कक्षा के छात्र आनन्दप्रसाद गुप्त तथा उनके बड़े भाई देवप्रसाद गुप्त (देबू) दल में भर्ती हुए इन्हीं दिनों। धन कहां से आये? इस प्रश्न पर तय हुआ कि किसी के निजी घरों में डकैती डालना ठीक नहीं—सब लोग अपने-अपने घरों और रिश्तेदारों से धन इकट्ठा करके दें। बात अब छिपी नहीं रह गई थी। माताएं-बहनें भी उनके घरों में देखती थीं कि लड़के किसी बड़ी तैयारी में जुटे हैं। देबू (देवप्रसाद) घर में एक बार बम बना रहे थे तो उसकी माताजी बार-बार घर के मुख्य द्वार के बाहर रास्ते पर जाकर इधर-उधर देख-झांक आती रहीं कि कहीं कोई पुलिस वाला या भेदिया तो नहीं आता है! कई घरों में तो मां-बहनों ने दल के हथियार भी स्वयं संभालकर छिपाकर रखे ताकि पुलिस की दौड़ आने पर उन शस्त्रों को बचाया जा सके।

एक वातावरण बन गया था कि उनके लड़के कोई बुरा काम नहीं कर रहे हैं वरन् सूर्यसेन और अम्बिका चक्रवर्ती जैसे देशभक्त अध्यापक और जेल-यात्री जिस महिमामय काम में लगे हैं—उसी काम में उनके लड़के भी उनके अनुवर्ती हैं। कौन जानता था, एक दिन उनके यही हृदय-खण्ड, यही नयन-तारे सदा के लिए विदा के लिए अन्तिम बार उनके चरण छूने सामने आ खड़े होंगे और फिर कभी जन्मान्तर तक उनसे मिलना न होगा।

दल का नाम सूर्यसेन आदि ने 'भारतीय प्रजातंत्र-सेना' ('इंडियन रिपब्लिकन आर्मी') रखा था—यही नाम शुरू में उत्तरप्रदेश के पं. रामप्रसाद 'बिस्मिल' और शचीन्द्रनाथ सान्याल के भी दल का था। चटगांव में दल के सदस्यों को कई शहीदों, खुदीराम बोस, कन्हाईलाल दत्त, बाधा जतीन जैसे क्रांति-वीरों की जीवनियां पढ़ने को दी जाती थीं। 'गदर-पार्टी'-आदि के क्रांति-आंदोलनों की प्रेरक घटनाएं भी ये लोग रुचि से पढ़ा करते थे। उनसे प्रेरणा लेते थे। सभी सदस्यों की पुलिस जैसी खाकी वर्दियां बनवाई गई थीं।

हाल ही निरंजनसेन और सतीश पकड़ाशी की अचानक गिरफ्तारी से इन लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला कि यद्यपि अभी हमारा संगठन छोटा ही है, साधन-शक्ति भी कम ही हैं, परन्तु पुलिस कार्रवाइयां बताती हैं कि जल्द ही किसी भी दिन सरकार हम पर छापे मार कर सब शस्त्रास्त्र जब्त कर सकती है और हमारे लोग जेल पहुंचा दिये जायेंगे—कुछ किये बिना ही। अतः सोचा गया, अब आगे काम नहीं बढ़ सकता। जो भी शक्ति या संगठन है, उसका उपयोग करते हुए कोई क्रांति-योजना कार्यान्वित किये बिना अन्य चारा नहीं। कोई निर्णय लेना ही होगा।

कार्य-योजना

अन्ततः एक रोज सूर्यसेन (मास्टर दा) और अम्बिका चक्रवर्ती आदि विप्लवि नेताओं ने बैठकर कर एक योजना बनाई—जिसके अन्तर्गत अभी तक जिन 65 लोगों का यह छोटा-सा संगठन था, उसको छह दस्तों में बांटा गया। प्रथम दस्ते में 32 सदस्य और दूसरे दस्ते में सिर्फ 6 लोग रखे गये। इसी तरह तीसरे दस्ते में 6 और चौथे दस्ते में भी 6 ही सदस्य तय किये गये। शेष 5वें और छठे दस्ते में जो 15 सदस्य बचे थे—उन्हें भी बांट दिया गया।

दल के पास मोटरगाड़ी कुल एक ही थी—अतः दो और बड़ी गाड़ियों को कब्जे में किया गया। अब इन दस्तों को इस तरह काम सौंपा गया कि—

1. प्रथम दस्ता जिसका नेतृत्व अनन्तसिंह और गणेश घोष को करना था—चटगांव की पुलिस लाइन पर छापा मारेगा, जहां इस समय 350 पुलिस सिपाही और बन्दूकें आदि रहती हैं। मोटर चलाकर वहां प्रथम दस्ते को अनन्तसिंह ही ले जायेंगे।

2. दूसरा दस्ता अंग्रेजों के अस्त्रागार (आक्जिलियरी) पर छापा मारकर वहां मौजूद शस्त्रास्त्र कब्जे में करेगा तथा उन्हें अपने साथ की मोटरगाड़ी पर भरकर शीघ्र ही पुलिस लाइन पर छापा मारने वाले दस्ते से जा मिलेगा—ताकि उन्हें बन्दूकों की कमी न पड़े। इस (दूसरे) दस्ते का नेतृत्व लोकनाथ बल और निर्मलसेन (निर्मल लाला नहीं) को सौंपा गया। जीवन घोषाल मोटरगाड़ी चलायेंगे।

3. तीसरे दस्ते में छह सदस्यों को यह दायित्व दिया गया कि वे टेलीफोन और टेलीग्राफ-दफ्तर पर छापा मारकर तार-व्यवस्था काट देंगे। अम्बिका चक्रवर्ती इसका नेतृत्व करेंगे तथा 15 वर्षीय आनन्द गुप्त मोटरगाड़ी चलायेंगे।

4. चौथे दस्ते में बड़े हिम्मती और वरिष्ठ सदस्य रखे गये—इनमें दल की एक सदस्या प्रीतिलता वाद्दार बी.ए. (अध्यापिका) भी शामिल थी। इस दल के नेता बनाये गये नरेशराय।

5. पांचवें-छठे दस्ते को काम दिया गया कि वे चटगांव का बाकी संसार से सम्बन्ध समाप्त कर देने के लिए रेलवे लाइन और तार आदि की व्यवस्था तोड़ देंगे। बन्दूकों-पिस्तौलों की कमी रहने से शहर में जिन अपने रिश्तेदारों और स्नेही जनों के

पास बन्दूकों-पिस्तौलों के लाइसेंस थे—उनको प्राप्त करने की भी व्यवस्था की गई।

इस योजना को जब कार्यान्वित किया जाने लगा तो उसके पूर्व हमारे इस कथा के किशोर नायक निर्मल लाला से न रहा गया और सबके साथ इस काम में खुद भी शामिल होने की प्रबल इच्छा लेकर वह एक दिन दल के प्रमुख सूर्यसेन (मास्टर दा) के पास आग्रह करने दौड़ा गया था। जब वे न माने, तो वह अपने से बड़े सदस्य विधु सेन के पास आया—बताया बड़े दुःखावेग से कि 'मास्टर दा ने मुझे आज्ञा नहीं दी साथ चलने की।' विधुसेन ने देखा कि अतिशय निराशा में निर्मल पगलाया जा रहा है—बड़ा विक्षुब्ध। तब कहा, 'निर्मल! तू फिर से मास्टर दा के ही पास जा—और कोई उपाय नहीं है। उनसे फिर विनती कर—और क्या कहूं? मेरे वश में वह नहीं है, तू हममें सबसे छोटा जो है!

निर्मल ने अपनी छलछला आई आंखें पोछीं और कहा—'विधु दा (विधु दादा)! मैं कहे देता हूं कि आप लोगों को मुझे भी अपने साथ ले चलना ही होगा—आप लोग सब जायेंगे और मैं घर बैठा रहूं—यह नहीं होगा। क्या मैं किसी भी तरह मास्टर दा से स्वीकृति नहीं ले सकता?

विधुसेन ने कहा—'कहा न, तू फिर जा मास्टर दा के पास। उनसे जिद कर—शायद मान जाये। और रास्ता क्या है?

अतः निर्मल दोबारा मास्टर दा का पता लगाकर उनके पास पहुंचा। लेकिन ज़ाने से पहले विधुसेन से वह यह कहता गया—

'विधु दा! मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं यों लौटूंगा नहीं—और आप देख लेना, मैं वह सब अन्तिम तैयारी करके काक्स बाजार से जाऊंगा।'

यही किया निर्मल ने। मास्टर दा से मिलने के पहले उसने अपने पढ़ने की सभी पुस्तकें कापियां, यहां तक कि कलम-दवात तक अपने साथ पढ़ने वाले दोस्तों को दे दीं। उन्होंने चकित होकर पूछा भी कि 'क्या तू पढ़ेगा नहीं?' निर्मल ने कहा—

'जो भाग्य में था, उतना पढ़ चुका। मेरा आगे पढ़ना न होगा। मैं हमेशा के लिए काक्स बाजार से विदा लेकर जा रहा हूं।'

सहपाठी पूछने लगा, 'ऐसा क्या? कहां जाता है? लौटेगा क्यों नहीं?' इसका उत्तर उसने नहीं दिया। दे नहीं सकता था। चुप्पी लगा गया। दल में ऐसे उत्तर देने की मनाही जो थी; अनुशासन भंग होता।

निर्मल का छोटा-सा एक सूटकेस था, वह उसे बहुत प्रिय था। सोचा, अब इसे भी यहां क्यों छोड़ जाऊं! उसने उसे भी अपने एक स्नेही सहपाठी को दे डाला। वह सहपाठी दंग था उसके इस व्यवहार पर। शायद उसकी सनक समझा।

इस तरह पूरी तरह तैयार होकर वह इस बार मास्टर दा के पास गया। जो लोग कहते हैं—मन की दृढ़ता का सबूत क्या? भरोसा क्या? वे इस बालक की पूर्व तैयारी में इस प्रश्न का उत्तर खोज सकते हैं।

मास्टर दा उसी कांग्रेस-कमेटी के जिला कार्यालय में ही मिल गये। उस जगह वे इसलिए भी रहते थे कि पुलिस को शक न हो। कांग्रेस से पुलिस आश्वस्त रहती थी।

मास्टर दा ने कहा—'तू फिर आ गया? किसलिए?'

निर्मल ने वही बातें फिर दुहराईं। मास्टर दा मौन रहे। निर्मल बोला—'दादा! काक्स बाजार से विदा ले आया। आप के ही पास रहूंगा। रहने देंगे न?'

अतः 18 अप्रैल को पुलिस-लाइन पर रात 9 बजकर 30 मिनट पर फौजी वर्दी पहनकर निर्मल भी दल के प्रथम दस्ते में शामिल होकर गया। उस समय के उसके आनन्द-उल्लास का अन्दाज नहीं लगाया जा सकता—जैसे कोई बालक बहुत जिद करके आकाश का चन्द्रमा ही खिलौने के रूप में पा गया हो। हां, वह भी एक खेल ही था, मृत्यु का खेल, जिसमें ये सब इतने हौसले और उत्साह से कूद पड़े थे बिना इस बात की परवाह किये कि हम वहां से जिन्दा लौटेंगे भी या नहीं! और निर्मल तो पूरी तैयारी ही करके गया था।

निर्मल का एक साथी देबू अपने छोटे भाई आनन्द के साथ जब उस रात अपनी मां के पावों में विदा लेने झुका तो मां के आंसू भर आये थे। उनके मन में आया कि शायद अपने इन छौनों को, दिल के टुकड़ों को दोबारा फिर नहीं देख पाऊंगी, मगर वे तो उन पुस्तकों को—शहीदों की जीवनियों को पढ़ती रही थीं जो ये लड़के उन्हें बड़े चाव से लाकर दिया करते थे—कैसे रोकतीं उस रात उन्हें! वे चले गये फौजी वर्दी चमकाते और वे द्वार के किवाड़ पकड़े नीरव अश्रुपात करते हुए मौन उन्हें घर से जाते देखती रही थीं जब तक वे नजर से ओझल नहीं हो गये। इसी तरह एक-एक परिवार से दो-दो, तीन-तीन भाई उस रात गये थे। कौन कहता है, आजादी सिर्फ एक पार्टी ने ही दिलाई? और उस मां ने जिसने वड़े दुःख सहकर उन बच्चों को पाल-पोसकर इतना बड़ा किया था, दिल पर पत्थर रखकर आशीर्वाद दिया था—

'जाओ पुत्रो! तुम्हारा जीवन यश पाये।'

और फिर उसी रात 10 बजकर 15 मिनट हुए थे कि एक कार एकाएक आई और 'पुलिस-लाइन' के अहाते में—जहां अस्त्रागार था, रुक गई। सशस्त्र संतरी ने हांक लगाई—'हाल्ट! हू कम्स देयर?' (ठहरो! कौन आता है?)

'फ्रैण्ड (मित्र)'! कार के अन्दर से उत्तर आया तुरन्त। परन्तु उस गाड़ी से जैसे ही वर्दीधारी कुछ लोग नीचे उतरे कि उन्होंने गोली चलाना शुरू कर दिया। संतरी वहीं ढेर हो गया—बाकी सिपाही बन्दूक न उठाकर जहां राह मिली, भाग चले। अन्य क्रांतिकारी भी आकर उनसे मिल गये, क्योंकि मोटर से तो प्रथम दस्ते के 32 लोग वहां पहुंच नहीं सकते थे। वहां द्वार लोहे के थे, पर टूट गये। फिर उस अस्त्रागार से सन्दूक निकाल लिये गये—जिनमें गोलियां भरी थीं। कई सन्दूक थे। बेवले और कोल्ट रिवॉल्वर व पिस्तौलें, तमाम मस्केट आदि सब कब्जे में कर लिए। क्रांतिकारियों ने उनमें से लेकर अपनी पेटी में दो-दो रिवॉल्वर लगा लिये। गोलियां जेब में भरीं—बाकी

गाड़ी में रखी गई। अब वह पुलिस-लाइन न होकर 'भारतीय प्रजातंत्र सेना' का मुख्यालय थी। वहीं उस रात देश की पहली 'आजाद-सरकार' कायम हुई। सूर्यसेन को उसका प्रमुख चुना गया।

निर्मल की खुशी का ठिकाना नहीं कि उसने भी उस रात गोली चलाई थी। बड़ी आसानी से 'पुलिस-लाइन' और अस्त्रागार पर अधिकार हो गया। राष्ट्रीय ध्वज फहर गया वहां—यूनियन जैक उतारकर जला दिया गया।

इसी तरह दूसरे दस्ते ने अंग्रेजों का 'आक्जिलियरी-फोर्स' (अस्त्रागार) भी कब्जे में कर लिया। सन्तरी भाग खड़े हुए। अंग्रेज सार्जेण्ट मेजर फैरेल गोली से घायल होकर गिरा। तभी एक क्रांतिकारी उस पर कूद पड़ा। फैरेल को संगीन कोंच कर खत्म कर दिया। कई अंग्रेज वहां शराब में मस्त थे, वे गोली खाकर भागे। कैप्टेन टेट, जान्सन और अंग्रेज जिला मजिस्ट्रेट विल्किन्सन पर भी गोली चलाई गई—उनकी गाड़ी अभी ही वहां आई थी। गाड़ी का सिपाही मारा गया। कैप्टेन टेट और मजिस्ट्रेट विल्किन्सन भागे। क्रांतिकारियों ने वहां के हथियार अपनी दो गाड़ियों में भर लिए। पेट्रोल छिड़ककर अस्त्रागार में आग लगा दी और फिर वहां से 'पुलिस-लाइन' रवाना हो गये।

लेकिन इसी बीच इन लोगों से एक गलती हो गई—अंग्रेजों का वहां एक और अस्त्रागार था, 'डबल मूरिंग'। यह इनके ध्यान में न था। वहां मशीनगनें आदि थीं। गोरों ने वहां से मशीनगन लाकर इनके रास्ते में शहर की उल्टी तरफ लगा दी ताकि कोई शहर न लौट सके।

यह लड़ाई रुक-रुककर अप्रैल से आगे मई और फिर 1 सितम्बर, 1930 तक चली।

गोलियों से जख्मी होकर गणेश घोष, लोकनाथ बल और आनन्द गुप्त 1 सितम्बर को आखिरी संघर्ष के बाद गिरफ्तार हुए। आनन्द के पैर में गोली लगी। बड़े भाई देबू इसके पहले जलालाबाद पहाड़ी के दूसरे युद्ध में निर्मल के साथ ही खेत रहे। इन क्रांतिकारियों से जूझने अंग्रेज डी॰ आई॰ जी॰ और कप्तान ही नहीं, फौज तक एक स्पेशल ट्रेन से वहां आई—तभी इन लड़कों को मारा-पकड़ा जा सका।

फौजी ट्रेन भरकर कर्नल डौलस स्मिथ, डी॰ आई॰ जी॰ फार्मर 'सूरमा वैली लाइट हार्स' वाहिनी के साथ जलालाबाद पहाड़ी पर मोर्चा लगाने पहुंचे। पहाड़ी के एक युद्ध में फौज ने खाई-युद्ध छोड़कर क्रांतिकारियों की पहाड़ी से कुछ हटकर सामने की दो पहाड़ियों पर मशीनगनें लगाईं। और वहां से गोलीबारी शुरू की। इस गोली-वर्षा में पहाड़ी पर मौजूद 10 क्रांतिकारी मारे गये, लेकिन इसके पहले युद्धों में 65 क्रांतिकारियों ने पुलिस और फौज के 64 सिपाही मार दिये थे।

प्रथम गोली पहाड़ी पर टेगरा के लगी, जिसका नाम हरिगोपाल बल था। गोली उसका पेट चीरकर निकल गई। गोली से मरते क्षण टेगरा ने अपने बड़े भाई लोकनाथ से कहा—'सोना भाई! विदा! मैं चल दिया—तुम लोग लड़ाई रोकना मत।' वह अग्रज

को 'सोना भाई' कहता था। उस शहीद का यही अन्तिम सन्देश था। वह फिर नहीं उठा। उसके बाद गोली खाकर जो गिरा, वह वही 14 वर्षीय निर्मल था। गिरा, लेकिन फौरन फिर उठकर खड़ा हो गया तो दल के नेता ने टोका उसे, कहा—'लेट जा', लेट जा! खड़ा न रह।' और तब 'वन्दे मातरम्' के निनाद के साथ निर्मल लेट गया, लेकिन फिर उसने आंखें न खोलीं, न एक शब्द बोला। चिरविदा ले गया वह उस भूमि को अपने खून से नहलाकर।

नरेशराय, विधु भट्टाचार्य, प्रभास, शशांक, जितेन्द्र, मधु, पुलिन, अर्धेन्दु और मोतीलाल भी गिरे गोलियों से। ये सब शहीद हुए। फौज़ से संघर्ष में देबू, जीवन, अमरेन्दु, निरंजनसेन कितने ही और भी शहीद हुए। अन्त में सूर्यसेन को फांसी हुई। प्रीतिलता भी शहीद हुई। अनन्तसिंह, गणेश घोष, कल्पनादत्त, अम्बिका चक्रवर्ती आदि 17 लोगों को जन्म-कैद, काला पानी व लम्बी कैद मिली। सुहासिनी गांगुली नाम की एक अन्य बहिन भी गिरफ्तार हुई। उन्हें बुरी तरह मारा-पीटा पुलिस ने। कालार-पोल की लड़ाई के बाद 28 मई को अनन्तसिंह ने खुद थाने जाकर अपनी गिरफ्तारी दी। आजादी के लिए देश के लोग कम उम्र में ही किस तरह मौत का खेल हंसते-हंसते और हठपूर्वक इतने हौसले से खेलते थे, यह बताना इस प्रसंग का उद्देश्य है। ये सब खाते-पीते घरों के अच्छे पढ़ने-लिखने वाले लड़के थे। अपने माता-पिता की आंखों के प्यारे थे, परन्तु फिर भी उन्होंने यह अग्नि-पथ चुना। क्यों? इसका उत्तर इस क्रांति-कथा में देने की कोशिश की गई है।

जो चढ़ गये पुण्य-वेदी पर लिए बिना गर्दन का मोल

'एक बार भी उन अहिंसावादी नेताओं के मुख से यह न निकला कि ये भगतसिंह-सुखदेव-बिस्मिल-लाहिड़ी-रोशन देश के दिव्य दीप हैं, इनका हमेशा के लिए बुझाया जाना हम कभी न सहन करेंगे…'

15 अगस्त प्रति वर्ष आता है। देखता है कि वही आंगन है, वही गलियां हैं, वही रास्ते हैं—जहां से कभी शहीदी कारवां अपने सिर हथेली पर लिए निकला था, जहां कभी गोलियां चली थीं, रेल-पटरियां उखाड़ी गई थीं, तार काटे गये थे, यूनियन जैक फाड़ा गया था, थानों पर धावे बोले गये थे, बम-काण्ड हुए थे। नौजवानों की शहीदी टोलियां और उनकी खोज में भागती हुई पुलिस व फौज की टुकड़ियां। फरारी। फांसियां। पूना का परशुराम सर्गे! प्रयाग का पद्मधर! बिहार के चित्तू पांडे! आष्ठी—चिमूर के आठ पगले! लखीमपुर के राजनारायण! वर्धा का वीर जंगलू! ये शहीदी कड़ियां

किसकी थीं? जंगलू वर्धा का मजदूर था। प्रयाग का पद्मधर एम. ए. का छात्र था। सर्गे कभी भी कांग्रेसी नहीं था। सर्वोच्च कांग्रेसी नेताओं ने बाद में अपने अखबारों में लिखा कि 'हमारी यह मंशा न थी।' हमारे 'भारत छोड़ो' नारे का यह मतलब न था''' । फिर यह आंदोलन किसका था? छात्रों का था—जनता का था—औसत भारतवासी का था। चंद पेशेवर राजनीतिज्ञों का न था। असेम्बली-बम-कांड, दशहरा-बम-कांड, सौंडर्स-वध, कानपुर-केस, मैनपुरी-केस, काकोरी-केस, मेरठ-छावनी-केस तथा मनमाड़-बम-केस, बनारस, ग्वालियर, नासिक-षड्यंत्र में एक भी कांग्रेसी न था।

15 अगस्त के ये आग्नेय चरण किस लंबी शृंखला की कड़ी थे? कौन थे इसके आदि होता? किस चिर-ज़्वलनशील समिधा का यह शेषांश था? सन् 57 की क्रांति। 1872 में कूका-विद्रोह के 68 बलिदान। 1897 में, विक्टोरिया के राज्यारोहण के वक्त पूना के प्लेग कमिश्नर रेंड का गोली से उड़ाया जाना। लंदन में कर्जन वाइली का वध। इनमें कौन-से कांग्रेसी ने तीसमारी दिखाई? स्वतंत्रता-संग्राम की अनगिनत मशालें। महाराष्ट्र के फड़के, चाफेकर, पिंगले, कान्हेरे, सावरकर, गोदावरी जिले का रामराजू! केरल के क्रांतिकारी वेलू थंपी, बंगाल के वीरेन्द्र, नलिनी, खुदीराम, प्रफुल्ल चाकी, कन्हाई, जतीन, सूर्यसेन, सत्येन, गोपीमोहन साहा और उनके सैकड़ों साथी! इनमें कौन कांग्रेसी था? उन प्राणों का मोल कौन चुकायेगा?

बजबज-गोलीकांड, अेलीपुर-बम-केस, सिलहट-बम-कांड, बोमेली-युद्ध, दिल्ली षड्यंत्र-केस, शालीमार-बम-केस, बब्बर अकाली-केस, मेवासिंह, गेंदासिंह, भानसिंह, हरनामसिंह, धन्नासिंह, अम्बिकासिंह, गुलाबसिंह के छिन्न मस्तक, कनाडा-गोली-कांड, बर्मा-विद्रोह, सिंगापुर-सैनिक-विद्रोह, जर्मन-भारत-षड्यंत्र-केस के अनगिनत बलिदान! इनमें कौन कांग्रेसी था?

पंजाब के करतार, धींगरा, ऊधमसिंह, वर्यामसिंह, बसंतसिंह, सोहनलाल पाठक, काशीराम, प्रथम लाहौर-बम-कांड, द्वितीय लाहौर-बम-कांड, तृतीय लाहौर-बम-कांड! भगतसिंह को फांसी! सुखदेव को फांसी! विस्फोट-हत बोहरा। रावी का उदास साहिल! अल्फ्रेड पार्क में आजाद की लाश! जतीन व यतीन्द्रनाथ की लाशें, भाई भगवतीचरण की वह कटी-फटी लाश! जख्मों से भरा जिस्म! इनमें कौन कांग्रेसी था? रावी तू साक्षी है'''एकाकी साक्षी, कि कौन थे वे लोग, जो देश में बिना किसी को अपना नाम-धाम बताये भरी जवानी में तपते रहे, छीजते रहे—तिल-तिल टूटते रहे—संघर्ष करते रहे देश-शत्रु से। और देश ने बुलाया तो बाराती की तरह विदा हो चले—विद्युत की तरह दासता के बादलों को चीरते-फाड़ते सामने से यों हट गये, मानो आये ही न थे। कौन कांग्रेसी ठेकेदार उन महाप्राणों को जवाब दे पायेगा? कौन बना पाया है उनका स्मारक? ईंट-गारे से वह क्या बनाये बनेगा?

तत्कालीन कुछ वरिष्ठ कांग्रेसी नेताओं का यह कहना कि 'आजादी के लिए क्रांतिकारियों के प्रयास कच्ची बुद्धि के परिणाम थे'—घोर पाप है। छोटे-छोटे क्रांतिकारी

किशोरों ने भी अपने से काफी बड़ी उम्र के लोगों को प्रेरणा दी है।

एक प्रौढ़वयी वकील ने जो आगे चलकर मिनिस्टर बन गये, अपने संस्मरणों में लिखा है कि उस दिन समस्तीपुर स्टेशन पर विपुल भीड़ थी। मामला क्या है, मैं देखने को उझका तो देखा कि एक 16 वर्ष का किशोर बंगाली हथकड़ियों व रस्सी से जकड़ा पुलिस-घेरे में खड़ा है। मामूली-सा कुर्ता-धोती पहने है, बल्कि आधी धोती लापरवाही से उसके कंधे पर पड़ी है—पहनी हुई धोती भी घुटने तक की है। चेहरे पर सरलता व भोलापन है। गहरी काली आंखें निश्छल व आत्मविश्वास की सूचक हैं और दृढ़बद्ध ओष्ठपुट निश्चय की दृढ़ता जाहिर करते हैं। निर्भीकता, तेज और सादगी का समन्वय मानो सामने मूर्त्त हो उठा था। पूछने पर पता चला कि यही हैं खुदीराम बोस, जो मुजफ्फरपुर में बम फेंकने के बाद रास्ते में गिरफ्तार कर लिए गये हैं और अब इन्हें फांसी जरूर देगी गोरी सरकार··· । उस क्षणिक दिव्य दर्शन से मैं कृतार्थ हो गया, लेकिन फिर जैसे मन पर किसी ने बहुत भारी पत्थर-सा रख दिया। देर तक सोचता रहा मैं कि आह! इन्हें फांसी होगी और उसी दिन से मैं भी देश के लिए कुछ करने को उतावला हो गया। खुदीराम के दर्शन से मुझे अद्भुत प्रेरणा मिली थी और मैं अपनी जिन्दगी को धिक्कारने लगा था। लेकिन परिवार के मोह से मैं उस अग्नि-पथ पर न जा सका, अलबत्ता कांग्रेस के नरमदली खेमे में मैं खिंच गया···

चटगांव में क्रांतिकारियों की पहाड़ी पर पिस्तौल लेकर अंग्रेजों से मोर्चा लेनेवाला बंग-रत्न 'टेगरा' तो सिर्फ 14 वर्ष का ही था, जो सूर्यसेन की टुकड़ी में अपने कई साथियों के साथ लड़ते-लड़ते शहीद हो गया।

पंजाब के क्रांतिकारी कर्त्तारसिंह भी बहुत कम उम्र के थे। इन्हें फांसी का पुरस्कार मिला था। 'गदर पार्टी' के सदस्यों में सबसे छोटे थे, लेकिन जब उनके बाबा जेल में मिलने आये और उन्होंने कर्त्तारसिंह से कहा कि 'आखिर तुम किनके लिएं जान दे रहे हो? माफी क्यों न मांग लो··· ।' जवाब में कर्त्तार ने पूछा था—

'बाबा! अपने गांव का प्रीतमलाल कहां गया?'

बाबा ने जवाब दिया—'वह तो प्लेग में मर गया बेटा!'

'और बाबा! वह मांगीराम अब कहां है?' दूसरा सवाल था क्रांतिकारी का।

'वह भी बेटे! हैजे से मर गया··· ।' बाबा बोले।

'फिर, बाबा! आप ही सोचें कि चारपाई पर कुत्ते-बिल्ली की मौत मरना अच्छा है या बहादुरों की तरह फांसी चढ़कर?' और कर्त्तार के बूढ़े दादा खामोश हो रहे थे और अगले कुछ दिनों में तरुण कर्त्तार फांसी झूल गया था। लेकिन चूंकि इनमें कोई कांग्रेसी न था; इसलिए कांग्रेस नेताओं को इनके नाम कभी बरदाश्त नहीं हुए। आज भी नहीं। बल्कि कैरो के शासन में भगतसिंह की प्रतिमा खटकरकलां गांव से गायब करा दी गई। भगतसिंह की बूढ़ी मां सूनी रातों में वर्षों दुर्दम्य व्यथा से कराहती रही कि उसके बेटे की 'मूरत' कौन जालिम उठा ले गया?

आजादी के बाद भी अनेक वर्षों तक भगतसिंह, सुभाष के चित्र पार्लियामेंट की प्राचीरों के लायक नहीं समझे गये। कांग्रेस सरकार ने, जबकि शेक्सपियर पर डाक-टिकट अवश्य जारी किया।

ओ रे मध्य प्रदेश! ओ रे उत्तर प्रदेश! ओ रे राजस्थान! बागी बिहार! भारत का वह इतिहास जब लिखा जाये तो उसके लिए तरुण रक्त की रोशनाई, निष्कलंक चरित्रों की चादर और अर्चना में छिन्न मुण्डों की माल्य प्रस्तुत करने में सयाने-समझदारों की तरफ मत ताकना, वरन चार कदम आगे बढ़कर अपने गुदड़ी के लाल उस इतिहास के प्रथम पृष्ठ पर निछावर कर देना कि देश को बलिदानों की कमी न पड़े कि उस दिन देश-दुश्मनों के ध्वज तार-तार कर सके, कि देश उस दिन अपना सम्पूर्ण प्राप्य देनदारों से वसूले बिना न रहे, कि उस दिन शेष-प्रश्न का उत्तर संपूर्णता संजो ले, कि उस दिन पथ के दावदारों का पथ निष्कंटक-निर्बाध हो रहे और संस्कृति-सौधों में सौख्य, सौहार्द, सच्चारित्र्य, समृद्धि, समुन्नति, संगठन, शक्ति और शौर्य की राशि-राशि ज्योति जगमगा उठे। 15 अगस्त का आह्वान है यह और वह दिन जल्द आयेगा। लेकिन...

यह आहत वर्तमान! यह खून और धूल में लिथड़ा सतीत्व! ये सहस्रों अपहृता सीताएं! ये दर-दर भटकते लाखों राम-लक्ष्मण! जो निरन्न हैं—निरीह हैं—निराश्रित हैं—निराशा और निविड़ अंधकार में ठोकरें खाने को विवश हैं। नवद्वीप में नलिनी चीख रहा है। ढाका में कालीपद का लहू पुकार रहा है। अरे देखो—चटगांव-शस्त्रागार-काण्ड के निर्मलचन्द्र सेन, अमर्षसेन, हिमांशुसेन-से रणबांकुरे हाथों में बम-पिस्तौलें लिए फिर से दौड़े आ रहे हैं कि भारत निर्भय होगा, भारत अखण्ड होगा, कि यह खुदीराम का भारत है, नलिनी का भारत है, सुभाष-सावरकर का भारत है। जिनके साथ मरदानी लक्ष्मी, प्रीतिलता, कल्पनादत्त और सुशीला-सी बहनें, दुर्गा भाभी-सी वीरांगनाएं हाथों में बम सजाकर, मोर्चों की तरफ बढ़ती हैं—दुश्मनों के शस्त्रागार पर छापा मारती हैं कि दिन के उजाले में देश के शत्रु को गोली से उड़ाते जिनकी आंखें झपकती नहीं, कदम डिगते नहीं, स्पन्दन बढ़ता नहीं वरन् जो उस क्षण अपना जीवन सार्थक समझती हैं कि उस वक्त सिर्फ 1929 व 30 के बीच एक साल में ही बंगाल के 15 वीरव्रती बेटे फांसी चढ़ गये थे। इनमें कौन कांग्रेसी था? यह 15 अगस्त उन्हीं पथिकों का पर्व है। उनकी स्मृति संजोये देश के आंगन में आ खड़ा होता है। यह शासन द्वारा ध्वजारोहण की रस्म अदायगी व उद्घाटनों के लिए नहीं आता। हां, यह 15 अगस्त राग-रंग मनाने के लिए भी नहीं आता। इसलिए नहीं आता कि सरकार जनता के खून-पसीने का लाखों रुपया मिठाई खाने, दावतें करने, सरकारी इमारतों पर रोशनी करने और उसके उजाले में अपनी स्वार्थी सूरतों को चमकाने में फूंक दे और डींग हांके कि आजादी कांग्रेस ने ली है, हमारी कमाई है, इसलिए हम जो चाहें करने को आजाद हैं....। क्रांतिकारियों की कमाई खाने वाले शासको, सावधान! यह 15 अगस्त नये बलिदानों

की बरसी है। लाखों बलिदानों का पर्व है और यह नये बलिदान मांगने आया है जनता से, जनता के लिए, शत्रु-संहार के लिए। शासको! पेशेवर नेताओ! इस महान पर्व को, उसके अजस्र आह्वान को अपनी दुनियादारी के घिनौने आच्छादन से आवृत मत करो, उसे अपने स्वार्थों के रंग में मत रंगो—इस शहीदी शृंखला के साथ इस रण-निनादकारी दिवस के साथ इस कदर बेईमानी मत बरतो। शांति-शास्ता! सत्ता के श्वेत चीवरधारी भोगी स्थविरो! 15 अगस्त तुम्हारा अहिंसा-संदेश ढोने नहीं आया। उसको प्यार करने, इसकी पूजा करने का तुम्हें हक नहीं। कानपुर के शालिग्राम को, मैनपुरी के गेंदालाल को, शाहजहांपुर के बिस्मिल को तुमने कितना प्यार किया? आजाद की जिन्दगी को तुमने कितना दुलराया? राजेन्द्र लाहिड़ी की लाश पर तुमने कितने जीवन-पुष्प चढ़ाये? बोलो कांग्रेसियो! बोलो शासको! अशफाक की याद में तुमने कितना अपना लहू बहाया? बोलो देशभक्ति के ठेकेदारो!

कांग्रेस पार्टी और कांग्रेस शासन द्वारा क्रांतिकारियों के साथ बरती गयी घृणित उपेक्षा का ही परिणाम है कि विदेशों में भारत की आज़ादी की अलख जगाने वाले अनेक भारतीय क्रांतिकारियों को आज जनता नहीं जानती। लंदन के 'इण्डिया हाउस' में, जर्मन, अमरीका, जापान, सिंगापुर, बर्मा और फ्रांस आदि देशों में भारत की आजादी की ज्योति जलाने वाले श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला हरदयाल, मादाम कामा, पं. परमानंद, विनायक दामोदर सावरकर, मदनलाल धींगरा और उनके ज्ञात-अज्ञात अनेक साथियों को कितनी जनता जानती है? कितने ही क्रांतिकारी तो विदेशों से भारत लौट भी न सके। कितने ही रास्ते में खत्म हो गये। मेवरिक जहाज, जिस पर लाला हरदयाल ने भारत के लिए लाखों कारतूस, बंदूकें, पिस्तौलें व रुपया भेजा था, जो भारतीय सागर-तट के लिए महीनों समुद्र में भटकता रहा, उसकी कहानी कितने लोग जानते हैं! कामागाटामारू जहाज का इतिहास कितनों को पता है? जनता तो जनता, भारतीय क्रांति के 100 वर्ष लम्बे सशस्त्र प्रतिकार के इतिहास की जानकारी कितने कांग्रेसी मिनिस्टरों को है?

और वह महान् सावरकर, जो आजाद भारत में खामोश रहा, अपने दिल-दिमाग में कितने तूफानों के अंबार और उनके इतिहास संजोये बैठा था। काश! कभी वो पूरे-के-पूरे इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हो पाते। लेकिन कांग्रेस शासन तो उस पवित्र इतिहास को मानो मिटाने पर तुला रहा है। हां, उस इतिहास को अपने घृणित द्वेष और द्वैत से कलंक़ित करने के ही लिए शासन ने सावरकर को सीखचों में ला खड़ा किया था। उफ़! वह सावरकर, जिसने पूरी जवानी काले पानी में काट दी, जिसे विदेशी जहाज और उस पर गोरों का सशस्त्र पहरा भी कैद न रख सका और जो जहाज के पोर्टहाल से गर्जन-रत समुद्र की उत्ताल तरंगों में कूद गया, जो मीलों तैर गया। ऊपर गोलियां, नीचे पानी में गोलियां, लेकिन वे गोलियां सावरकर को मार न सकीं। सागर की सीमाएं अंग्रेजों के उस खतरनाक कैदी को बांध न पायीं, स्वाधीनता-समर का वह

उद्‌भट सेनानी कांग्रेस शासन के हाथों सीखचों में ठेल दिया गया। धिक्कार इस द्वेष को, दलगत द्वैत को।

सावरकर को जनता से जान-बूझकर दूर रखा गया, क्योंकि यह महान् तपस्वी अखंड भारत का, हिंदू संगठन का आह्वान करता था। इस सर्वस्वदानी सावरकर ने देश के लिए क्या-क्या नहीं किया, भारत के प्रथम प्रधानमंत्री को जिस वक्त लंदन में डिग्री-डिप्लोमा के प्रलोभन में पढ़ाई से फुरसत न थी, वीर सावरकर ने उस वक्त लंदन में मदनलाल धींगरा को आदेश दिया था कि भारतीय क्रांति के दुश्मन कर्जन वाइली को गोली से उड़ा दो। वाइली को गोली से उड़ा दिया गया था और सावरकर का सच्चा शिष्य युवक धींगरा फांसी झूल गया था। उस सावरकर को कांग्रेसी नेताओं ने कितना प्यार किया? उस महान् देशभक्त को, जिसने अपने भाई भी देश पर निछावर कर दिये, कितना सम्मान दिया इस स्वदेशी शासन ने? 15 अगस्त आज यह पूछ रहा है। और पूछ रहा है शासनारूढ़ अपराधियों से कि भारतमाता का यह अनमोल रत्न आज अपनी जीवन-संध्या में इस कदर धूमिल क्यों था? उदास क्यों था? टूट क्यों रहा था? खामोश क्यों था? बोलता क्यों नहीं था?

शायद भारत के कोटि-कोटि जनपदों से उठता हुआ बागी धुआं शहीदी पर्व को उत्तर देता प्रतीत होता है कि सावरकर की यह खता थी कि वह कांग्रेसी न थे और न कभी हो सकते थे और देखो हे महान् पर्व! ये कोटि-कोटि जनपद भी, इनके बाशिन्दे भी बागी हैं आज।

सावरकर, लद्धाराम, शचीन बख्शी, बटुकेश्वर, जयदेव, शिव वर्मा, झांसी के परमानंद, माहौर, मलकापुरकर, हनुमंतसहाय, महावीर, रामसिंह, लखनऊ की दुर्गा भाभी—ये जीवित अंगारे किस सत्य के साक्षी हैं? किस उपेक्षा की जिंदा मिसालें हैं? इनका मौन उपालम्भ किस निकम्मे व कुनबापरस्त शासन को धिक्कार रहा है? वह निरंकुश कंस आज कौन है? कौन है वह मदान्ध हिरण्यकशिपु दैत्यराज और कौन है वह जनपीड़क रावण, जिसके राज्य-स्तंभ के निर्मम पत्थरों से शोषित सांसें टकरा रही हैं और 'जनस्थान' में जिसके जुल्मों का भीषण हाहाकार अवनि-अम्बर का वक्ष विदीर्ण कर रहा है?

काश! देश की आजादी सशस्त्र प्रतिकार के पथ से आती तो आज यह जनतन्त्र कृत्रिम न होता, अंध-बधिर और पंगु न होता, देश खंडित न होता, और शत्रु-सेना देश की सीमाएं छोटी न कर पाती—लहूलुहान न कर पाती। अंग्रेजी राज-भाषा न होती, कोई शत्रु देश को इस तरह अपमानित न कर पाता और देश आज दाने-दाने को मोहताज न होता—यह भुखमरी न होती, अनाज के मौजूद रहते भी देशवासी चौराहे पर भूख से तड़प-तड़पकर मर न पाता। खुदकशी न कर पाता। शासन में खुदीराम के साथी होते, सुभाषचन्द्र बोस के हमराही होते तो 24 घंटे में देश का नक्शा बदल देते। जो इतना दम रखते हैं; यह काम उन नये खुदीरामों को सौंपो। लेकिन ये सत्ता-लम्पट

स्थविर तो शासन-सूत्र की ग्रन्थियां अपनी सांसों से उम्र भर के लिए बांध रखने में संलग्न हैं—एतदर्थ आपस में भी कलहरत हैं, फिर ये 15 अगस्त का आह्वान क्यों न कलंकित करें? क्यों न विपथ में भरमायें उसको; क्योंकि इसकी भीति से इनका मुंह सूखता है, पसीना छूटता है, राज्य-दण्ड इनके हाथों से खिसकने लगता है; क्योंकि 15 अगस्त नयी क्रांति का पर्व है।

एक दिन वह क्रांति भगतसिंह के रास्ते से भारत में निकट आने को थी। सुभाष चन्द्र बोस के रण-बांकुरे इम्फाल में गोरों की फौज पर बारूद बरसा रहे थे कि कांग्रेस के तत्कालीन लाड़ले लीडर ने कहा, 'अगर सुभाष जापान के साथ सेना लेकर भारत में घुसेंगे तो हम शस्त्रों से उनका मुकाबला करेंगे…।' ओह! जिन नेताओं ने अंग्रेजों के सामने कभी शस्त्र नहीं उठाये वरन् जो सदा उनके लात-घूंसे खाने में आत्मगौरव समझते रहे—वे सुभाष पर शस्त्र उठाने की तत्परता दिखाने लगे ताकि अंग्रेज खुश हो जायें और आजादी के असली वारिस की उन्हें पहचान मिल जाय ताकि माउंटबेटनों का दरवाजा हमेशा उनके लिए खुला रहे…। लंदन के तख्त तथा कांग्रेस के साथ इस 'तत्परता' में कम्युनिस्ट पट्ठे सबसे आगे थे।

और एक दिन भगतसिंह फांसी की कोठरी में कैद था, सुखदेव शहीद होने को था, राजेंद्र लाहिड़ी फांसी के फंदों को ललकार रहा था, बिस्मिल बलिदान-बेला की बाट जोह रहा था कि अंग्रेजों ने कांग्रेस के सर्वोच्च महन्तों से कहा, 'इन फांसी के असामियों के बारे में तुम्हारा क्या खयाल है…? तो 'नहीं बाबा…' कहकर उस दिन कांग्रेसी नेता नकारात्मक भाव से सिर हिला उठे। हाय! एक बार भी उन अहिंसावादी नेताओं के मुख से यह न निकला कि 'ये भगतसिंह-सुखदेव-बिस्मिल-लाहिड़ी-रोशन देश के दिव्य दीप हैं, इनका हमेशा के लिए बुझाया जाना हम कभी न सहन करेंगे…' और आखिर सतलुज के किनारे से वे एक-पर-एक रखी हुई सभी अधजली जवान लाशें चुपचाप धारा में खिसका दी गयीं, उस दिन शून्य साहिल पर सिर पटक-पटक कर कितना रोई थी सतलुज कि भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता की कसम उसी दिन रावी के उद्दाम प्रवाह में उन्हीं जवान लाशों के साथ डूब गयी थी—बहुत दिनों के लिए कि आज तक भारत खण्डित है, आजादी अधूरी है। देश की लक्ष्मी, देशमाता का सुख-सौभाग्य कंस-कशिपु के कारागार में कैद है आज…इसीलिए यह 15 अगस्त उसके खिलाफ आग लेकर आया है और विस्मृति की तहों में दबे पड़े अंगारों के ऊपर से मिथ्या प्रचार की राख खुद अपने हाथों से खुरचने आता है।

जो क्रांति 31 मई को होनी थी

यद्यपि सन् 1857 में पूरे देश की छावनियों में क्रांति की तारीख 31 मई ही निश्चित थी, किन्तु बैरकपुर-बहरमपुर और मेरठ में इस तिथि के पहले ही क्रांतिकारी सैनिकों द्वारा विस्फोट कर देने से देश के अन्य स्थानों पर भी क्रांति की धूनियां 31 मई के पहले ही धधक उठीं। मई के अंत तथा जून के प्रथम सप्ताह तक तत्कालीन अवध (उत्तर प्रदेश) के लगभग सभी जिले से 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' का कब्जा उखाड़ फेंका गया। और यह काम केवल 10 दिनों में ही हो गया। 10 जून तक प्रदेश के सभी जिलों की डाक-व्यवस्था भंग हो गई। किसी भी जिले से अब कहीं भी डाक नहीं आ-जा पाती थी। अवश्य अंग्रेज अपना अस्तित्व अभी भी लखनऊ की रेजीडेंसी तथा उसके इर्द-गिर्द कायम रखे हुए थे। जो भी इस समय देशी पलटनें थीं—उन्हें अंग्रेजों ने भंग कर देने की कार्रवाई शुरू कर दी थी। 12 जून से देशी पलटनों को तोड़ने की प्रक्रिया

प्रारम्भ हो गई। हेनरी लारेन्स के रोग-जर्जर रहने से ऐसे कामों के संचालन करने के लिए एक कौंसिल कायम हुई जिसमें मेजर ऐंडर्सन, कर्नल इंगलिश, गुबिन्स साहब, मेजर बैक्स और ओमैने शामिल थे। अध्यक्ष थे इस कौंसिल के गुबिन्स। इस कौंसिल ने उन सब पलटनों को भंग करने के आदेश दिये जो अलग-अलग छावनियों में तैनात थीं। कुछ सैनिक फिर भी अंग्रेजों ने रेजीडेन्सी में लाकर इकट्ठे कर रखे।

सर्वप्रथम पहली तोप दगी 30 मई 1857 की रात 9 बजे और उसके बाद ही गोलियों की 'धायं-धायं' शुरू हो गई। यह लखनऊ में सत्तावनी क्रांति की शुरुआत की पहल थी—पहला विस्फोट और यहां भी निश्चित तिथि (31 मई) के एक दिन पहले ही हुआ था। गोलियों का अनवरत सिलसिला उस रात जल्दी बन्द होने न आया था। क्रांतिकारी सैनिकों में अंग्रेजों के प्रति जो आक्रोश था—उनके विरुद्ध जो आवेश था, वही उन गोलियों की बाढ़ के रूप में ध्वनित हो रहा था। रात 9 बजे से 2 बजे तक 5 घंटे लगातार वह छावनी लखनऊ को गोलियों की धायं-धायं से गुंजाती रही थी। जिन सैनिकों ने उस रात पहले-पहल गोलियों की बाढ़ छोड़ी—वे 71वें रिसाले के थे। इस रेजीमेंट के 40 सैनिकों का दस्ता छावनी की मेस पर चढ़ आया—उसके पीछे 71वां रिसाला भी हो लिया। अब तो सर हेनरी लारेन्स की तबियत दुरुस्त हो गई—उन्होंने छावनी के सभी अंग्रेज अफसर इकट्ठे किए और गोरे सैनिकों की बैरकों की तरफ चल पड़े। छावनी में जो 32वां रिसाला था, उसमें 6 तोपें और उनके साथ तीन सौ गोरे सैनिक मौजूद थे। क्रांतिकारी सैनिक लखनऊ नगर में न घुस सकें—इसकी रोकथाम के लिए आम सड़क पर उन गोरे सैनिकों को तोपों सहित तैनात कर दिया। छावनी में एक अंग्रेज ब्रिगेडियर थे, हैंडस्कोब नाम के—ये घोड़े पर गोरे सैनिकों की बैरक से चलकर परेड मैदान की तरफ बढ़े, चाहते थे—विद्रोही सैनिकों को कुछ डराने-धमकाने की कोशिश करें, लेकिन वे अभी रास्ते में ही थे कि किसी क्रांतिकारी सैनिक की गोली ने उन्हें घोड़े से धराशायी कर दिया। ये फिर कभी न उठे। लखनऊ में क्रांतिकारियों द्वारा गोली से मारा गया यह पहला अंग्रेज सेनाधिकारी था। उसके मर जाने से क्रांतिकारी सैनिकों का उत्साह बढ़ा। अब वे 32वें रिसाले के गोरे सैनिकों पर गोली चलाने लगे। ये सैनिक 71वें रिसाले के ही थे । सर हेनरी ने यह हालत देखी तो क्रांतिकारियों को तोपों का निशाना बनाने का हुक्म दिया गोरे सैनिकों को। इसके बावजूद कुछ अंग्रेज सेनाधिकारी अपनी-अपनी उन रेजीमेंटों और रिसालों को मनाने-समझाने की कोशिश में उनके पास पहुंचे कि गोली चलाना बंद कर दो। लेकिन सैनिक रुके नहीं गोली चलाने से वरन् उन्होंने उन अफसरों से ही कहा कि 'जान बचानी हो तो यहां ये चले जाओ।' उन्होंने अनुभव किया कि देशी सिपाही बहुत क्रुद्ध हैं, तो वे लौट गये। 71वीं रेजीमेंट को कैप्टेन स्ट्रेजवेज तथा 13वीं रेजीमेंट को मेजर ब्रूरी ने भरसक रोकने की प्रचेष्टा की, लेकिन क्रांतिकारी सैनिक उनकी उपेक्षा करते हुए मैगजीन पर चढ़ आये। यह देखते ही मेजर ब्रूरी अपने साथ सैकड़ों सैनिकों को लेकर गोरों की बैरक में वापस

गया। उधर क्रांतिकारियों ने मैगजीन से गोला-बारूद उठाना शुरू कर दिया। अंग्रेज लेफ्टिनेंट ओसले और कर्नल मायर वहां मौजूद थे—लेफ्टिनेंट ओसले को क्रांतिकारियों ने जख्मी कर दिया। मुदकीपुर में 7वां रिसाला था—जिसके डेढ़ सौ सैनिकों में से 40 घुड़सवार बन्दूकों सहित वहां से कूच करके मड़ियांव आये—यहां भी छावनी थी। कर्नल इंगलिश और लेफ्टिनेंट हार्डिंग ने सैनिकों का रास्ता रोकना चाहा, पर वे उसमें सफल न हुए। सैनिकों के सिवा घरेलू नौकरों ने भी गोरे अफसरों के बंगले लूटे-जलाये। मुदकीपुर छावनी में एकत्र विद्रोही सैनिकों को सीधा करने की गरज से अंग्रेजों ने वहां 7वां रिसाला 31 मई को भेजा, लेकिन वहां देखा गया कि विद्रोही पलटन के बीच से एक सैनिक ने आगे निकलकर अपनी तलवार ऊंची की कि वह संकेत पाकर 7वें रिसाले के 50 घुड़सवार अपनी कतार छोड़कर क्रांतिकारियों में आ मिले। अब क्रांतिकारी सैनिकों की वहां संख्या एक हजार हो गई। अनन्तर सर हेनरी लारेन्स ने 4 तोपें लगाकर गोरे सैनिकों से उन पर गोलाबारी शुरू कराई। साथ ही यह एलान किया कि 'जो किसी विद्रोही सैनिक को गोली मार देगा या उसे पकड़ लायेगा—उसे सौ रुपये प्रति सैनिक की दर से इनाम दिया जायेगा।' उधर उसी गोलाबारी के बीच क्रांतिकारी सैनिक आगे बढ़ गये—लखनऊ से मल्लावां पहुंचकर दिल्ली की तरफ कूच किया। कर्नल हल्फोर्ड, छावनी के प्रमुख नियुक्त हुए। रेजीडेंसी की सेना के प्रमुख कर्नल इंगलिश बनाये गये तथा हार्डिंग साहब को रेजीडेन्सी का रक्षा प्रमुख बनाया गया। सर हेनरी लारेन्स भी रेजीडेन्सी में ही रहा। 30 मई की रात जब छावनी में पहली तोप दगी—उस समय 71वीं पलटन मच्छी भवन में थी, लेकिन क्रांति का विस्फोट हो जाने पर उस पलटन को मच्छी भवन से हटाकर रेजीडेन्सी में जो तोपखाना था, उसके सामने पंक्तिबद्ध खड़ा किया गया। उसे हुक्म हुआ, 'बन्दूकें हमें सौंप दो।' लेकिन उन तोपों पर गोले चढ़े देखकर भी उन वीर क्रांतिकारियों ने बन्दूकें नहीं रखीं। अंग्रेजों की धमकी कारगर न हुई। गोरे अफसरों ने मौका देखकर चुप्पी साध ली। यह स्थिति सन् 1857 की क्रांति-प्रसार पर जो प्रकाश डालती है—उससे सिद्ध होता है कि देसी पलटनों की यह तैयारी कुछ हंसी-खेल की बात न थी। उसमें समय और शक्ति लगी थी। उत्सर्ग-भावना का अभाव न था उसमें। लखनऊ में फौजी छावनी गोमती नदी के उस पार थी। उन दिनों ताराकोठी, मशकगंज, ऐशबाग, आलमबाग, मूसाबाग, सिकन्दर बाग, केसर बाग—नाका, गणेशगंज, हैदर केनाल सर्वत्र क्रांतिकारी पलटनों के काफिले जूझते रहे थे। सर हेनरी लारेंस गोली खाकर रेजीडेन्सी में ही मरा—अभी भी उसकी वहां कब्र है। लखनऊ में 2 जून को मंसूरनगर मुहल्ले में आगा मिर्जा और गौसबेग गिरफ्तार हुए। उनके साथ कई सैनिकों सहित और भी 12 क्रांतिकारी कारनेगी नाम के अंग्रेज अफसर ने गिरफ्तार किये और उन चौदहों को एक साथ 3 जून, 1857 को फांसी दे दी गयी। उसी दिन (3 जून) सीतापुर छावनी के कमाण्डर कर्नल चर्च, लेफ्टिनेंट स्माली, सार्जेन्ट मेजर, 19वीं रेजीमेंट के कमाण्डर कैप्टन गोवान, लेफ्टिनेंट ग्रीन, असिस्टेंट

सर्जन डॉ. हिल, कैप्टेन डोरिन, लेफ्टिनेंट स्नेल आदि सभी अंग्रेज सेनाधिकारी क्रांतिकारी सैनिकों ने गोली से मार दिये। अनेक अंग्रेज परिवार भी सीतापुर छावनी में मारे गये। कुछ भागकर बच सके, जिन्हें भारतीयों ने ही शरण दी। सीतापुर-छावनी में कुल 24 अंग्रेज गोली से मारे गये। 5 जून को सैनिकों ने मोहम्दी में भी दो अंग्रेजों को छोड़ सभी गोरे मार डाले। कानपुर में सैकड़ों गोरों का संहार हुआ। कर्नल फिशर, कैप्टेन गिबिंग्स, ए. ब्लाक, एस. स्ट्रोंमेन—ये 4 अंग्रेज अफसर 9 जून 1857 को सुलतानपुर-छावनी में क्रांतिकारियों ने मार दिये। यह लड़ाई प्रांत-प्रांत, जिलों-जिलों में जारी रही। लम्बा इतिहास है, एक लेख का विषय नहीं। लखनऊ के दौलतखाना मुहल्ले में चार मुसलमान क्रांतिकारी कप्तान कारनेगी ने गिरफ्तार किये तथा उन चारों को मच्छी भवन के फांसी-केन्द्र में फांसी दे दी गई। इनमें दो पिता-पुत्र काकोरी के थे, एक वकील थे रसूलबख्श, दूसरा उनका लड़का। ये चारों 1 जून 1857 को लखनऊ के 'मच्छी भवन' में शहीद हुए।

इसका बदला रसूलबख्श के रिश्तेदारों ने काकोरी-पुलिस थाने के दो सिपाहियों को जान से मारकर चुकाया। यह पहला केस था—जब मारने वालों पर मुकदमा नहीं चलाया गया। चिनहट-युद्ध के विजेता राजा जयलालसिंह को 1 अक्टूबर 1859 को फांसी दी गई। वह सब रक्तरंजित इतिहास है।

जब 'शिब्बू' (सुभाष बोस) उससे बड़े खरीदते थे

हां, सुभाष बोस उस स्त्री को 'साहु मां' और वह उन्हें 'शिब्बू' नाम से जानती थी। उस स्त्री का काम था—मिठाइयां और उसके साथ ही बड़े आदि बेचना। यह बात उन दिनों की है, जब सुभाष बोस बालक ही थे और कटक (उड़ीसा) के 'रेवेन शां कालेजियट स्कूल' में पढ़ते थे। सुभाष बोस का जन्म भी कटक शहर में ही हुआ था—जहां उनके पिता जानकीनाथ बोस सरकारी वकील तथा पब्लिक प्रासीक्यूटर थे। उस बालक को घर में सब 'शिब्बू' पुकारते थे। सुभाष को घर में सख्त मनाही थी कि 'खबरदार शिब्बू! घर के बाहर बाजार में कभी कुछ खरीदकर मत खाना—उससे बीमारी फैलती है।'

माता-पिता दोनों का ही अनुशासन बड़ा कठोर था बालक सुभाष के लिए। लेकिन इसी सख्ती ने शायद सुभाष के मन को ललचाया कि जब जेब में पैसे हैं—बाजार

का भी कुछ क्यों न खरीदकर खाया जाय। अतः उन्होंने दूसरों की देखादेखी बाजार में उस स्त्री की दुकान से बड़े खरीदकर खाये—जो उन्हें बहुत अच्छे, स्वादिष्ट लगे। गरमागरम बड़े देती थी वह ग्राहकों को और लोग चाव से खरीदते थे। फिर तो सुभाष पढ़ने जाते समय रोज घर वालों से छिपाकर वहां बड़े लेते और कहीं और बैठकर खाते। करते यह थे कि जेब से रूमाल निकालकर उसी में पैसे बांधकर दुकान की खिड़की से रूमाल अन्दर फेंक दिया करते और पैसे खोलकर वह स्त्री उसी रूमाल में गरमागरम बड़े बांध दिया करती—फिर वही रूमाल खिड़की से बाहर सरका देती। इससे लोग देख नहीं पाते कि सुभाष ने क्या खरीदा। घर वालों को पता चलने पर काफी डांट पड़ने का डर था। उसी स्त्री को सुभाष मौका पड़ने पर 'साहु मां' कहा करते थे। मिठाई-बड़ा बेचने वाली 'साहु मां'।

और वे बदल गए

बहुत दिन उनका इस तरह चोरी-छिपे बड़े खरीदकर खाना जारी रहा—पर एक दिन अचानक जाने क्यों सुभाष के मन में ग्लानि पैदा हुई कि चोरी से खरीदना-खाना और जीभ को चाट की आदत लगाना तो बुरी बात है, बुराई है, दोष है, अच्छे लड़के कभी ऐसा नहीं करते। इसलिए खुद ही सुभाष ने छिपाकर बड़े खरीदना तो क्या, वह रास्ता चलना ही छोड़ दिया। बड़े खरीदने, खाने का विचार मन से दूर करने के लिए वे उस रास्ते से ही नहीं निकलते थे, वरन चक्कर काटकर अन्य रास्ते से आते-जाते थे। असल में अब सुभाष का मन बदल रहा था—उसमें उसी अल्पायु में गम्भीरता तथा अध्यात्म की भावना पैदा हो गई थी। वे कम बोलते—बहुत सोचते रहते और ध्यान आदि लगाने की चेष्टा करते देखे जाते थे। घर वाले उनकी इस ध्यान-धारणा को एक 'सनक' कहकर हंसी उड़ाते थे परन्तु सुभाष का तब भी वह क्रम घर के एकांत में चालू ही रहा। यह 'सनक' छुड़ाने की गरज से सुभाष को 10वीं कक्षा उत्तीर्ण करने के बाद पिता ने कटक से कलकत्ता पढ़ने भेज दिया ताकि वहां उसकी 'सनक' शायद परिवर्तित वातावरण में दूर हो सके।

अपनी कहानी अपनी कलम से

सुभाष बोस ने इस प्रसंग में स्वयं लिखा है—

'सन् 1913 में मैंने 10वीं कक्षा उत्तीर्ण की तो घर से मैं कलकत्ता पढ़ने पठा दिया गया, क्योंकि मेरे माता-पिता सोचते थे कि शायद कलकत्ता में बदली स्थितियों में कुछ लाभ हो सकेगा और उस शहर की व्यावहारिक तथा यथार्थवादी मानसिक स्थिति में रहकर, पढ़कर मैं अपनी सब सनकों को त्यागकर परिवार के दूसरे सब लोगों की तरह ही सामान्य जिन्दगी व्यतीत करने का अभ्यस्त हो जाऊंगा।'

पर वे 'साहु मां' को न भूल पाए।

वैसे कटक में दसवीं परीक्षा में वे प्रथम तो आये ही थे, यदि एक नम्बर की कमी न पड़ती तो प्रथम आने वालों में भी उनका स्थान प्रथम रहता, द्वितीय नहीं। खैर, वे कलकत्ता रहे, वहां पढ़े, फिर विदेश गये, विलायत पढ़ने। लौटे तो कांग्रेस के अध्यक्ष बने।

एक दिन उनका जुलूस निकला। तब कटक में भी कांग्रेस-अध्यक्ष सुभाष बोस की सवारी एक सजे हुए हाथी पर निकली। वह हाथी उस रास्ते से भी गुजरा, जहां 'साहु मां' की बड़े आदि की छोटी-सी दुकान थी। सुभाष ने उस दुकान के सामने आते ही हाथी रुकवाया, खुद नीचे उतरे और उस स्त्री के पास जाकर बचपन की तरह ही कहने लगे, 'साहु मां! मुझे बड़े नहीं दोगी?'

वह स्त्री तब तक काफी उम्र की हो चुकी थी, बाल खिचड़ी हो चले थे। वह चकित, अवाक् उस महिमामय तेजस्वी पुरुष का चेहरा देखती बैठी रही; फिर पहचानकर वह पास आ खड़ी हुई और लोगों ने देखा कि उस भावुक स्त्री के आंसू उमड़ चले थे, क्योंकि वह देख रही थी कि हजारों की भीड़ जिस आदमी के पीछे चलती-चलती उसकी दूकान के आगे एकाएक रुक-ठहर गई हैं, वह महान पुरुष उसके सामने खड़ा होकर बड़ी विनम्रता और मधुरता से मनुहार करता खड़ा है, कह रहा है, 'साहु मां! मुझे बड़े नहीं दोगी?' और साहु मां खूब पहचान रही है कि यह तो बहुत पहले का वही 'शिब्बू' (सुभाष) है, जो छिपाकर उससे बड़े लिया करता था लेकिन फिर जाने क्यों एकाएक उसने उधर आना ही छोड़ दिया था। और 'साहु मां' भरे हृदय से ठीक एक मां की तरह सोच रही थी कि उस निर्धन के पास इस महनीय आत्मा—इतने बड़े आदमी को खिलाने देने के लिए कुछ भी तो नहीं आज! उसे वही बड़े देते उसका मन हिचक रहा था।

फिर एक दिन जब देश आजाद हुआ तो उस 'साहु मां' का मन गर्व से फूला नहीं समाया कि यह जो आजादी आई, उसके लिए उसके 'शिब्बू' ने कुछ कम उद्योग नहीं किया। एक दिन रेडियो वाले उसके द्वार दौड़े आये—पूछा उससे साक्षात्कार लेते हुए कि 'जब सुभाष बोस हाथी पर बैठकर इधर आये तो तुमसे क्या कहा था?' उस समय वह 100 साल पूरे कर चुकी थी। पोपले मुंह से उसकी कंपित वाणी फूटी, 'कहा था मेरे शिब्बू ने, साहु मां! मुझे बड़े नहीं दोगी?' वह बात रेडियो से प्रसारित भी हुई थी। सुभाष उसे भूले न थे। वह सन् 1968 में स्वर्ग सिधारी।

बलिदान! अभिव्यक्ति की आजादी के लिए

सेंटलुइस शहर। रात का समय। एक क्रुद्ध उन्मादी भीड़ एक छापेखाने में घुस आई है। छपाई की मशीन, टाइप, सभी कुछ तितर-बितर करके बाहर निकाल रही है। फिर वे लोग वह पूरा छापाखाना ही नष्टभ्रष्ट करके साथ ले चले कि कहीं छापाखाना चलाने वाला इसे फिर सुधारकर काम लायक न बना ले।

छापाखाना है एलिजा लव्रज्याय का। वह एक अखबार निकालता है। छापता है। खुद ही लिखता भी है। लेखक का एक ही विषय है—दास-प्रथा का विरोध। मिसौरी राज्य में कैंट की ओर उसके दक्षिण नदी के हर किनारे पर जो स्टीमर चलते हैं, उनमें माल ढोने, उतारने का काम नीग्रो गुलाम ही करते दीखते हैं। हर आदमी गुलाम रखे हुए है। यह दृश्य एलिजा लवज्याय को गवारा नहीं। वह 25 वर्ष का था, जब न्यू इंग्लैंड से इधर के पछांही राज्य मिसौरी के सेंटलुइस शहर में आकर रहने लगा, क्योंकि

वह गैरिसन के 'खतरनाक' अखबार 'लिबरेटर' का नियमित पाठक था। वह बोस्टन में छपता था और सेंटलुइस में शायद अकेला लवज्वाय ही उसका इतना प्रेमी पाठक था क्योंकि 'लिबरेटर' अपने नाम के अनुरूप नीग्रो गुलामों की स्वतंत्रता का पक्षधर ही नहीं, एकमात्र पुरोधा था और प्रेस की आजादी के अधिकार का एकमात्र उद्घोषक भी। लवज्वाय जानता था, इसके लिए 'लिबरेटर' संपादक-प्रकाशक विलियम लायड गैरिसन को क्या-क्या आपदाएं तथा शारीरिक यातनाएं नहीं झेलनी पड़ीं। फिर भी वह बोस्टन नगर के एक भू-गर्भित कमरे में बैठा 'लिबरेटर' के लिए लिखता रहता। दास-प्रथा के खिलाफ नीग्रो गुलामों की आजादी की आवाज बुलन्द करता रहता। कष्टों ने उसे असमय ही बूढ़ा बना डाला था। सिर के बाल झड़ गए थे, जबकि वह अभी युवा ही था। दीपक की मद्धिम रोशनी में गलीज तहखाने में उसे लेख और संपादकीय लिखते कोई भी देख सकता था। लवज्वाय ने सुन रखा था कि एक रोज ऐसा अखबार छापने के जुर्म में कई लोगों ने गैरिसन को अपने शिकंजे में ले लिया। फिर उनका गला रस्सी में फंसाकर खींचते रहे थे गली-दर-गली। बोस्टन जैसे शहर में एक संपादक का यों घसीटा जाना किसी के लिए उन दिनों गर्हित बात न थी, क्योंकि आखिर वह नीग्रो की आजादी की आवाज मुखरित किये रहता था। दास-प्रथा के खिलाफ जनता को उकसाने का अपराधी था। किसी तरह उस रोज गैरिसन मरने से बच गया था। लेकिन तब भी आये दिन उसके प्रेस को नष्ट कर देने तथा उसे भूखों मार देने की साजिशें सक्रिय होती रही थीं, फिर भी उसका 'लिबरेटर' छपता रहा था। पढ़ा जाता रहा था।

और दूसरी मशाल जली। सेंटलुइस से एक और अखबार छपा। संपादक था एलिजा लवज्वाय ही। और अब उसका प्रेस भी गुलामी प्रथा के पक्षधर उठा ले गये थे ताकि उसका अखबार न छपे। लेकिन लवज्वाय ने तय किया, अखबार जरूर छपेगा और दास-प्रथा के खिलाफ जो कुंछ वह लिखता रहा था, फिर लिखेगा।

प्रेस छिन गया तो वह एक-दूसरे शहर आल्टन में आकर बस गया। बीच में नदी थी। उस पार सेंटलुइस शहर था। यानी उसका अखबार नदी के इस पार छपेगा और उस पार बसे सेंटलुइस में पढ़ा जाएगा। उसने फिर से प्रेस लगाया। फिर से अखबार चलाया। फिर सेंटलुइस के युवक नीग्रो गुलामों की दर्दनाक कथाएं पढ़ने लगे और भड़कने लगे। वे लोग क्रुद्ध हो उठे जिन्होंने नीग्रो गुलाम अर्से से रख छोड़े थे। और जिनके श्रम के भरोसे खुद ऐश्वर्य और आराम भोग रहे थे। आखिर आल्टन नगर के लोग भी एक दिन लवज्वाय के उस एकाकी प्रेस पर टूट पड़े, उसका दफ्तर तोड़फोड़ डाला और प्रेस की मशीन को व टाइप आदि उठाकर मिसीसिपी नदी में डाल दिया। दूसरा प्रेस भी बह गया नदी के प्रवाह में।

लेकिन लवज्वाय भी कम जिद्दी नहीं था। यद्यपि इस काम में उसे कोई मुनाफा नहीं था, सिवाय खतरे और जोखिम के, फिर भी जमीन-आसमान के कुलाबे एक करके नया प्रेस खरीदा। नया टाइप जुटाया और उसका अखबार फिर छपने लगा।

फिर उन लोगों के विरुद्ध वह अखबार आग उगलने लगा, जिन्होंने अपने घरों, खेतों और बागों में नीग्रो गुलाम रख छोड़े थे और उनका रक्त-पसीना चूस रहे थे।

आखिर फिर लोग नाराज होकर गर्मी की एक शाम इकट्ठे हुए। वही आक्रोश फिर उभरा। इस आदमी को यही सब क्यों लिखना चाहिए? और कुछ भी लिखे, गुलामों के बारे में क्यों लिखता है? भीड़ ने खासी सभा का रूप ले लिया। भाषण लवज्याय के ही खिलाफ हुए। अनन्तर वे लवज्याय के छापेखाने गये। लवज्याय को धमकाया, डराया कि 'खामोश रहो, अन्यथा यह शहर छोड़ दो। हम जैसे हैं, हैं। तुम कौन होते हो गुलामों की वकालत करने वाले?'

उससे पूछा गया, 'बोलो! शहर छोड़ते हो या चुप रहते हो?' लवज्याय मौन। उसका मतलब था कि जो भी वह लिखता है, लिखता रहेगा। प्रेस की आजादी किसी भय से बेच नहीं सकता, न उसका गला घोंट सकता है। बस उन लोगों ने प्रेस तोड़ना शुरू कर दिया। मशीन नष्ट कर दी। यह सन् 1837 की बात है। दफ्तर छितरा दिया। सामने अपूर्व दृढ़ता से आकर खड़ा हो गया लवज्याय। उससे कहा गया, 'तुम्हें भी खत्म कर देंगे।'

वह बोला, 'जो चाहे कर सकते हो।'

तब वे झेंपकर लौट गये।

वह कहता गया उन्हें सुनाकर, 'जब तक जान है, अखबार चलाऊंगा।'

इस बार उसके दोस्तों को भी जोश आया। वे आपस में चन्दा करने लगे। तीसरे नये प्रेस के लिए। पैसे इकट्ठे हो गये तो फिर प्रेस खरीदा। स्टीमर पर लादा और ओहियो नदी तथा मिसीसिपी के मुहाने से होकर वह स्टीमर धुआं उगलता आल्नाय नगर के बंदरगाह पर आ लगा। लवज्याय मारे खुशी के वहीं दौड़ा गया। नवम्बर मास चल रहा था। फिर रात आई तो उस प्रेस की पहरेदारी भी लवज्याय के मित्रों ने ही करनी शुरू कर दी, क्योंकि प्रेस की मशीन आदि अभी गोदाम में ही उतरी पड़ी थी। परन्तु आल्नाय नगर के उन लोगों को फिर खबर हो गई कि लवज्याय का नया प्रेस गोदाम में आ गया है। उन्होंने गोदाम में आग लगा दी। विरोध करने पर गोलियां चलाने लगे। लवज्याय लपका आग की तरफ कि किसी ने उस पर गोली चलाई और वह वहीं गिर गया। उसके मित्र पहरेदार वापस गये। आग लगाने वालों ने वह नया प्रेस भी जो लवज्याय ने तीसरी बार मंगाया था, नदी में डाल दिया। लेकिन वह संपादक मरकर भी अभी तक जीवित है क्योंकि जो कीर्तिवान होता है वह सदा जिंदा रहता है। और जहां तक प्रेस की आजादी का प्रश्न है, लवज्याय अपने ध्येय के साथ आज भी देदीप्यमान है। आल्टन नगर में आज भी उसकी समादृत प्रतिमा प्रतिष्ठित है, और बोस्टन नगर में उसके अनुवर्ती वेंडल फिलिप्स की भी। दास-प्रथा समाप्त होकर रही। लवज्याय प्रेस की आजादी के लिए संघर्ष करते-करते मारा गया था और इस किस्म का वह प्रथम बलिदान था उस देश के इतिहास में।

रूसी शहीद उल्यानोव

अलेक्जेंडर उल्यानोव—रूस का महान शहीद विप्लवी! रूस के प्रसिद्ध नेता लेनिन इसके सगे छोटे भाई थे। क्रांति से जिन दिनों लेनिन ने अपना कोई रिश्ता नहीं जोड़ा था, तब उस शुरू के जमाने में अलेक्जेंडर उल्यानोव क्रांति-पथ पर सक्रिय थे। उनकी पार्टी का नाम था 'नारोदनाया वोल्या'। यह रूसी नाम है। हिन्दी में इसका अर्थ होगा 'जनाकांक्षा' यानी 'जनता की इच्छा।'

अलेक्जेंडर के पिता थे निकोलोविच उल्यानोव, मां थी मारिया अलेक्जेंड्रोवना। निम्न मध्यम वर्गीय परिवार था। मां एक डॉक्टर की बेटी थी। पिता उल्यानोव शिक्षा विभाग में थे, पब्लिक स्कूलों के डायरेक्टर। इसके पूर्व वे एक सेकेन्ड्री स्कूल में गणित और भौतिक शास्त्र के अध्यापक थे। इनके 6 बच्चे थे। अलेक्जेंडर बड़ा पुत्र था। उससे बड़ी थी उसकी बहन अन्ना। वोल्गा, दिमित्री और मारियो—ये और भी तीन बहनें

थीं। लेनिन छोटा भाई था।

अलेक्जेंडर अभी छात्र ही थे, सेंट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में। उनका सपना था वैज्ञानिक बनने का। मेधावी थे। तभी वे तत्कालीन क्रांति दल 'नारोदनाया वोल्या' के सम्पर्क में आए और उन्होंने अपना जीवन रूस के निरंकुश शासक जार के विरुद्ध संघर्ष करने तथा जनता को बेहतर जिंदगी जीने की स्थितियों का निर्माण करने के लिए समर्पित कर दिया। वे इस क्रांतिकारी संगठन में संपूर्ण शक्ति से सक्रिय हो गए। उस जमाने में क्रांतिकारी विचारधारा के प्रायः सभी युवा छात्र नारोदनाया वोल्या से प्रभावित-प्रेरित थे। इस दल की स्थापना सन् 1879 में जारशाही के दमन और जुल्मों के विरुद्ध संघर्ष करने के उद्देश्य में हुई थी और यह एक क्रांतिकारी गुप्त संगठन ही था। यह दल सन् 1881 में रूस के शासक जार अलेक्जेंडर द्वितीय को खत्म कर चुका था।

आगे सन् 1887 में फिर इस दल ने जार अलेक्जेंडर तृतीय को मार डालने का प्रयास किया किन्तु क्रांतिकारियों की इस योजना का पता जारशाही को सन् 1887 की प्रथम मार्च तक लग चुका था। उनके चार साथी गिरफ्तार कर लिए गए। सेंट पीटर्सबर्ग की अदालत में उन सभी पर मुकदमा चला।

अलेक्जेंडर तथा उनके चारों साथियों को प्राणदण्ड मिला। अलेक्जेंडर को भरी जवानी में फांसी का पुरस्कार मिला! मारिया से उसका महान बेटा छिन गया। इस बलिदान ने लेनिन को झकझोर दिया तथा क्रांति के लिए अपना जीवन खपाने की उनकी भावना दृढ़ हुई। पर अलेक्जेंडर मार्क्सवाद को मान्यता नहीं दे सके। 'वोल्या' मार्क्सवाद का समर्थन तो दरकिनार, सदैव उसका प्रबल विरोध करता रहा, यहां तक कि मार्क्सवाद रूस में न फैले-पनपे, इसके लिए इस क्रांतिकारी दल के सदस्यों ने संघर्ष भी किया।

'जेहि दिन होइहैं सुरजवा रामा'

भाई कुन्दनलाल गुप्त 'काकोरी केस' के बड़े ही त्यागी पुरुष थे। दल की केन्द्रीय समिति में थे। ऐसे क्रांतिकारी कम ही हुए हैं, जो जोखिम मोल लेने में तो सर्वथा आगे रहे लेकिन जब प्रसिद्धि और पुरस्कृत होने का वक्त आये तो गायब हो जायें या कि पीछे हो रहें। कुन्दनलालजी विलक्षण क्रांतिकारी थे, घर त्यागने के बाद फिर वे कभी लौटे नहीं। परिवार से कतई मुंह मोड़ लिया। घर से कोई संबंध पकड़ में आने पर परिवार को भी सांसत उठानी पड़ती, परन्तु आजादी आने के बावजूद कुन्दनलालजी घर वापस नहीं गये—न उससे कोई वास्ता रखा। नागपुर के दैनिक 'युगधर्म' से वे अंत तक संबद्ध रहे और 'युगधर्म' के संपादक वर्ग ने उन्हें खूब निभाया। कुन्दनलालजी का वहां सभी बड़ा सम्मान करते थे। संपादक पटाइतजी कहते थे, 'क्या मजाल, कोई उनका फोटो तो ले ले, एक बार खिड़की से छिपकर फोटो खींचा जा रहा था। पता लगने पर गुप्तजी बड़े नाराज।'

ऐसे ही निष्काम-निर्लिप्त क्रांतिकारी थे वे। पूर्ण निर्वेद उनके जीवन में चरितार्थ था। जेल से रिहा होने पर भी शादी-ब्याह नहीं किया। एक बार मैं नागपुर उनसे मिलने गया तो देखा, कच्चे फर्श की छोटी-सी कोठरी उनका आवास था। ऊपर टीन शेड, अंधेरे कोने में एक झोला टंगा था। बस यही उनका साज-सामान था। बात करते-करते वे वह झोला उतार लाये। उसे जल्दी से भूमि पर उलट दिया और उसमें से खोजने लगे एक कतरन। जब कतरन हाथ लगी तो मुझे बड़े हौसले से दिखाया। कहा, 'साथ लिये जाना। गाड़ी में पढ़ना।' पढ़ा तो देखा, वह झांसी के विप्लवी पं. परमानन्द पर एक लेख है। किसी ने लिखा था दैनिक 'जागरण' में, जो झांसी से छपता है। मंशा यह कि चर्चा भी करना तो अन्य की, संस्मरण दिखाते तो दूसरों के। अपने बारे में सतत अखण्ड मौन।

एक बार उनकी एक बहन ने मुझे पत्र लिखा कि 'कुन्दनलालजी मेरे भाई हैं, आप पता लिख दें। पत्र लिखूंगी, क्योंकि जब से साथ छूटा, तब से फिर कभी उनसे भेंट नहीं कर पाई। पता ही न चल पाता था कि कहां हैं? आपके लेख से विदित कर सकी कि वे आपके संपर्क में हैं।'

मैंने पता लिख भेजा परन्तु आश्चर्य और विषाद भी हुआ, जब उसी बहन ने मुझे लिखा कि 'भाई जी को नागपुर पत्र लिखा था आपके दिये पते से, परन्तु वे लिखते हैं कि हमें पत्र क्यों लिखा? अब हमसे क्या वास्ता बाकी रह गया? हम तो तुम सबके लिए कभी के मर चुके। हमें भूली ही रहो। आखिर एक दिन हमें मरना ही है, तब कौन तुम्हें पत्र लिखेगा? आगे कोई पत्रादि मत लिखना। मैं आऊंगा नहीं, न तुम कोई यहां आना। जैसा हूं, ठीक हूं। कोई तकलीफ नहीं। तुम्हें कोई फायदा-सुविधा नहीं पहुंचा सकता। तब उत्तर देना-न देना बराबर।'

वह पत्र पढ़कर मैं दंग रह गया। यह निर्मोह मुझे भी क्लेश दे गया कि बहन बेचारी भाई की जुदाई में रोती रहेगी और कुन्दनलाल कभी उधर जायेंगे नहीं। और कभी गये ही नहीं।

कैसे थे आप कि सब क्रांतिकारी साथियों के लिए आपने खिचड़ी पकाई क्योंकि पकाने की बारी आपकी थी। फिर सबों ने खाई। खिचड़ी कुछ भी बची नहीं। आप थे कि परोसते चले गये। अपने लिए एक दाना भी न रखा और न जबान पर यह बात लाये कि खिचड़ी खत्म है। अनन्तर आप सभी बर्तन उठाकर उन्हें मांजने में व्यस्त हो गये। तभी किसी ने पूछा, 'कुन्दनलालजी! आपने कुछ खाया भी कि बर्तन ही मांजे जा रहे हैं?'

आप बोले, 'खा लूंगा। अभी यह काम निपटा लूं।' तब उस साथी ने खिचड़ी की खोज की, वहां कुछ शेष कहां था? उसने कहा, 'क्या खा लेंगे? खिचड़ी तो बची ही नहीं?' आप बस, मौन। बर्तन मांजे जा रहे हैं बराबर। कुछ भी बोलना नहीं—शिकवा,

शिकायत नहीं, मानो उनके मौन में ही यह भाव मुखरित हो गया कि पकाने वाले ने सबको जी भर खिला लिया। इससे बढ़कर उसके लिए अब और क्या संतुष्टि? फिर शिकायत किसकी किससे?

मुख्य धर्म

जिस ध्येय के लिए जिन्दगी दी, घर-परिवार त्यागा। सब युवा अरमान-आकांक्षाओं में आग लगाई—वही सर्वप्रमुख। यही मुख्य धर्म। क्या हुआ कि एक जून खाना न मिला। उधर जेल में दो-चार मास की सजा पाने वाले कुछ हमारे बिरादर जरा-जरा-सी खाने-पीने की बात पर झगड़ते रहते थे, कलह करके पार्टी को बदनाम करते थे।

लेकिन वही कुन्दनलालजी मौका पड़ा तो बिना कहे भी सबसे पहले मुखर हो उठते। उसका भी एक प्रसंग। क्रांतिकारी साथी एक 'एक्शन' से लौट रहे हैं। राह अनजानी है। अलबत्ता वह इलाका जुड़ा है कुन्दनलालजी के जिले प्रतापगढ़ से। चलते-चलते सशस्त्र पुलिस टुकड़ी से सामना होता है। अंधेरी रात। हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा। निर्जन बियाबान में आठ-दस युवक हाथों में खुल्लमखुल्ला बंदूकें, रायफलें लिए कतार में कहां जा रहे हैं, कहां से आ रहे हैं! सब भले घरों के पढ़े-लिखे लगते हैं। टार्च की रोशनी से उनके मुखड़े देखकर पुलिस अफसर पूछता है, 'कौन हैं आप लोग? कहां से आ रहे हैं?' कुन्दनलाल भी उस दल में हैं। दल का नेता अन्य है। जवाब देने की जवाबदेही कुन्दनलाल की नहीं है परन्तु इसके बावजूद बिजली की फुर्ती से कुन्दनलाल कतार से निकलकर आगे जाते हैं, कहते हैं तुर्शी से, 'इनसे क्या पूछते हैं? मुझसे पूछिये, शायद पहचानते होंगे मुझे?'

पुलिस इंस्पेक्टर एक क्षण हतप्रभ होकर पुनः टार्च फेंकता है उनके चेहरे पर। फिर कहता है, 'अरे आप हैं कुन्दन बाबू। अच्छा, अच्छा! जाइये, कोई बात नहीं।' और पुलिस टुकड़ी आगे बढ़ गई। दरअसल इंस्पेक्टर जानता था कुन्दनलाल को कि वे फरार क्रांतिकारी हैं और यह भी जानता था कि बाधा डालने पर गोली जरूर चलायेंगे ये लोग। फिर संख्या में भी कम नहीं। घाटा पड़ेगा पुलिस दल को। पुलिस के लोग ज्यादा मरेंगे, अतः चुपचाप चले जाना ही बेहतर समझा। संघर्ष बचा गया। यह सूझ और सत्साहस कुन्दनलाल की विशेषता थी, परन्तु अपने मुख से ऐसी कोई घटना कभी आजीवन किसी को बताना नहीं, आत्म-विज्ञप्ति से कोसों दूर रहना उनकी सहज प्रवृत्ति थी परन्तु आजाद की बाबत बड़े उत्साह से वे चर्चा करते रहते। बताने लगे—

'प्रतापगढ़ में जब पुलिस मेरी बहुत तलाश करने लगी तो मैं इलाहाबाद चला आया। एक छोटा मकान सस्ते किराये पर लिया। रहने लगा। रात में बाहर घूमने जाता, लेकिन पूरे दिन अंदर पड़ा रहता। अस्त्र साथ थे, बाद में आजाद भी वहीं आकर साथ रहने लगे। वे बहुत ज्यादा सतर्क रहते। उन पर गिरफ्तारी का इनाम रखा गया था। तमाम थानों में उनके इश्तहार चस्पा किए गए थे। मकान दो मंजिला था। वे

ज्यादातर ऊपरी मंजिल में रहते। एक दिन मुझे बाहर कुछ काम था, अतः छोटा पिस्तौल भी वक्त जरूरत के लिए साथ रखते थे क्योंकि भारी होने से माउजर हर वक्त साथ लेकर चलना संभव नहीं होता। पिस्तौल हरदम भरा रखते थे। लौटा तो रात हो गई। बाहर से पुकारा। द्वारा खुला, लेकिन साथ ही मेरी छाती पर माउजर की नली चुभने लगी। मैंने कहा, 'यह क्या?

आज़ाद हट गये। बोले, 'कैसे पुकारते हो? स्वर-भेद ह़ोने से भ्रम हो गया। मैं समझा, कौन है, सी. आई. डी. होगा!

मैंने पूछा, 'देश के आजाद ह़ोने के बाद यहां कैसी व्यवस्था होगी, आम आदमी के सुख-दुःख की स्थिति के बारे में आजाद की क्या धारणा थी। कभी चर्चा हुई?

बोले, 'जरूर होती थी। आजाद का विचार था और शायद विश्वास भी कि देश स्वतंत्र होने पर जनता के हालात काफी बदल सकेंगे। यह जबर्दस्त कंगाली, शोषण और मोहताजी नहीं रह जायेगी। लोग खूब आनन्द से जीवन व्यतीत करने की स्थिति प्राप्त कर लेंगे क्योंकि तब कोई देश के धनधान्य को, कच्चे माल को लूटने वाला बाकी न रह जायेगा। वे सात समुद्र पार जा चुके होंगे। उस दिन की कल्पना करके आजाद बहुत मग्न होकर किसी लोकगीत की ये पंक्तियां दुहराने लगते थे—

जेहि दिन होइहैं सुरजवा रामा!
अरे, अरहर के दलिया, धान के भतुआ
खूब कचरके खइबे ना रामा।
अरे, जेहि दिन होइहैं सुरजवा...

—अर्थात् 'जब देश में स्वराज्य आ जायेगा, उस दिन सब जनता अरहर की दाल, भात खूब अघा-अघाकर खाया करेगी। किसी को भूखे नहीं रहना होगा। खूब सम्पन्नता आ जायेगी, भोजन-वस्त्र-मकान की बात कोई समस्या नहीं रह जायेगी।' आजाद की पसन्दीदा उनके सपनों की साक्षी ये चार पंक्तियां क्या आज टीस नहीं पैदा करतीं!

आज देश की जो दुरवस्था है, उसे देखकर प्रश्न उठता है--आजाद के सपनों का स्वराज्य किस सीमा तक यहां उतर पाया है? कितने करोड़ लोग दाल-भात खूब कचरकर खा पाते हैं? क्या गांव-देहात और शहरों की फुटपाथी जिंदगी आजाद के सपनों का स्वराज्य पा सकी है? उसके लिए क्या भोजन-वस्त्र-मकान कोई समस्या जैसी चीज नहीं रह गई है? यदि ऐसा नहीं है तो कौन है जिसने इन शहीदों के सपने झुठला दिये? कौन है जिसने स्वराज्य को आत्मभोग का साधन बना दिया?

इटली का शहीद वैज्ञानिक

इटली में वह सतत जिस नितांत एकांत साधना में निरत था उसकी जानकारी उसके मित्रों, साथी-संगियों को तो थी किंतु वह उस साधना-पथ में इस सीमा तक अपने को मिटा-खपा देगा, होम देगा, यह कल्पना वे भी नहीं कर सके थे। और वह दीर्घ तपस्या, अपने जीवन का अणु-अणु, कण-कण जिस तरह वह भूख-प्यास की चिंता न करते हुए गला-मिटा रहा था, वह तपस्या स्वयं उसके किसी ऐहिक सुख या एषणा के लिए न थी वरन् उसका चरम और परम ध्येय था, 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।'

इटली के ही त्यूरिन विश्वविद्यालय के रेडियोलॉजी (एक्स-रे) में वह कार्यरत था। नाम था मारियो पोजियो। लोग कैंसर रोग को असाध्य मानकर उसका इलाज व्यर्थ समझते थे। प्रायः चिकित्सा-जगत् में उसके लिए कोई औषधोपचार साध्य न मानकर निराशा ही व्याप्त थी। परन्तु अकेले एक मारियो पोजियो अभी भी आशावान होकर अपनी खोज में व्यस्त थे।

एक दिन प्रश्न आया उसके सामने कि एक्स-रे का मानव-शरीर पर क्या असर पड़ता है? उसका प्रयोग किस पर किया जाय? दोस्तों ने चेतावनी दी कि 'रेडियम का संस्पर्श प्राणलेवा होता है, उससे बचे रहो।'

तब इस महान वैज्ञानिक ने उनसे कहा था, 'मित्रो! अपनी इस जिंदगी की उस दिन सबसे बड़ी कीमत हम प्राप्त कर लेंगे, जिस दिन यह किसी अचूक उपलब्धि के रास्ते में माध्यम सिद्ध हो रहेगी। भले ही शरीर का कुछ भी परिणाम हो। वह परिणाम नगण्य होगा, बशर्ते हमारी उपलब्धि मानव-हित में कोई बड़ी चीज हो।'

और तब एक दिन सच ही एक्स-रे के असर का अध्ययन करते-करते उसने अपनी ही देह पर उसका प्रयोग कर डाला। यद्यपि मारियो पोजियो का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था, गठा हुआ जिस्म था और लोग उसे सुंदर मानकर चर्चा करते थे।

मगर उस वैज्ञानिक ने एक क्षण के लिए भी अपनी उस सुदर्शन स्वस्थ देह का अभिमान या मोह नहीं किया और जब अपने पर एक्स-रे का प्रयोग देखने के बाद उसकी घातक शक्ति से मारियो पोजियो की एक उंगली ही नष्टप्राय हो गई और डाक्टरों ने उसे काट डालना उचित समझा तो उस वैज्ञानिक ने अतीव शांतता से जवाब दिया—'एक उंगली गई तो क्या फिक्र, अभी नौ उंगलियां तो हैं ही।'

इसके बाद भी उसके प्रयोग बंद न हुए। सदैव उसे रेडियम के संस्पर्श में रहना पड़ता। फलतः एक दिन उसका बायां और फिर दायां हाथ भी नष्ट होने को आया। डाक्टरों ने विवशता जताकर कहा, 'खेद है, आपके दोनों हाथों के अगले हिस्से काटकर अलग कर देने होंगे अन्यथा जीवन को खतरा है।'

मारियो पोजियो मौन रहा। उसके दोनों हाथों के अगले भाग काट दिये गये। इसका प्रभाव उसकी देह पर घातक हुआ। उधर रेडियम के छूते रहने से भी उसका शरीर छीजता जा रहा था। तब मित्रों ने फिर आग्रह किया कि 'ऐसे प्रयोगों से क्या लाभ जो जीवन ही ले बैठे! रेडियम को प्रत्यक्ष मौत समझकर उससे बचिये।'

फिर भी उस वैज्ञानिक ने अपने भविष्य की कतई चिन्ता न की। न मौत का ही डर उसे अपनी शोध-साधना से विचलित कर पाया। वह खोज में सब कुछ भुलाये रहा। फलतः प्रतिदिन वह कमजोर होता गया और उसी साधना-पथ में एक दिन वह निःशेष हो गया, निष्प्राण। लेकिन तब तक वह 71 साल का हो चुका था और सन् 1956 में जब वह मरणासन्न था, उसको पूर्ण संतोष था कि अपने घातक प्रयोगों के बावजूद उसने लम्बी उम्र पायी। वैज्ञानिक प्रयोग बंद कर के दस-पांच वर्ष और जीने की बात का सदैव वह मजाक ही उड़ाता रहा।

जब-जब संसार के वैज्ञानिक कैंसर के इलाज की बात उठायेंगे, उन्हें इटली के उस नव दधीचि मारियो पोजियो का वह आत्मतुष्ट और अपने दोनों हाथ कटाकर भी आनंददीप्त चेहरा अवश्य दिख जायेगा। शायद यह सुनाता हुआ कि देह को सबसे कीमती चीज़ न समझो बल्कि उसका समुचित सदुपयोग करके ही सुख मानो और उसकी मंजिल मानव मात्र की मंजिल हो। उसका सुख—उसका आनन्द।

यह क्या शोक की बात है?

जहां तक मेरी जानकारी है, रामविनोद बाबू पटना में रहते थे। वैसे बिहार प्रान्त के दिघवारा गांव से उनका जन्म का रिश्ता रहा हो तो गलत नहीं होगा। क्योंकि एक बार इसी गांव में रामविनोद बाबू की उस दिन (6 मार्च) हीरक-जयन्ती मनाई गई थी। इस समारोह में सात हजार जनता तथा कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी सरीखे नेता भी दूर-दूर से वहां पहुंचे थे। यह बात उनकी लोकप्रियता का ही प्रमाण प्रस्तुत करती है।

हिन्दुस्तान में आजादी की अलख जगाने वाले पुरुषों का विस्मरण एक सामान्य बात हो गई है। आज स्वयं बिहार के लोग भी रामविनोद बाबू का नाम नहीं जानते। वे एक जाने-माने आजादी के योद्धा थे। पहले जब देश के कार्यों की तरफ उनकी कोई प्रवृत्ति नहीं थीं, एक दिन राह चलते उन्होंने मुजफ्फरपुर स्टेशन पर खुदीराम बोस को देखा। गोरों की गाड़ी पर बम फेंकने के बाद वे गिरफ्तार किये गये थे। हाथों में

हथकड़ियां थीं। रामविनोद बाबू इस 16 वर्षीय विप्लवी को अपलक देखते ही रह गये। पहले समझे नहीं कि प्लेटफार्म पर इतनी भीड़ क्यों लगी है। फिर पूछा, 'क्या है?' लोगों ने कहा, 'जानते नहीं, मुजफ्फरपुर में गोरों पर बम फेंका गया है—वही है यह विप्लवी खुदीराम बोस। पुलिस ने पकड़ लिया है। अब छूटेंगे नहीं। फांसी ही देंगे अंग्रेज इन्हें। लेकिन देखो तो, माथे पर शिकन नहीं, कैसे निडर हैं।' आदि-आदि। चर्चा जारी थी। तब रामविनोद भी उस भीड़ में घुस गये। बहुत पास से उस वीर विप्लवी को देखा। पांव नंगे हैं, घुटनों तक धोती, जिसका एक छोर कंधे पर ही पड़ा है। घुंघराले बाल माथे पर बिखरे हैं। दृढ़ताबद्ध ओष्ठ-पुटों पर अडिग संकल्प मूर्त है। नेत्रों में चमक। एक अजीब और आकर्षक निर्विकार मुखमुद्रा। भय का लेश नहीं। दिव्य मूर्तिदर्शन। उस समय रामविनोद की उम्र भी उतनी ही थी—सोलह साल। यह सन् 1908 की घटना है। रामविनोद पढ़ रहे थे। आचार्य कृपलानी उनके कालेज के प्रिंसिपल थे। खुदीराम के बन्दी वेश से बड़े प्रभावित हुए। दर्शन मात्र से उनके हृदय के सुप्तप्राय संस्कार जग गए। वे भी विप्लवी दल में शामिल हो गये।

उन दिनों हर किसी को विप्लवी की सदस्यता सुकर नहीं थी। वस्तुतः 'अनुशीलन समिति' के सक्रिय संगठनकर्ता नलिनी बागची को बंगाल से बिहार में दल के संगठन-कार्य के लिए भेजा गया था। तभी रामविनोद का संपर्क उनसे आया और नलिनी बागची ने उन्हें 'समिति' में भर्ती कर लिया। बिहार के जंगलों, भागलपुर आदि सभी जगहों पर बागची का प्रवास होता रहता था। जंगलों में उनके दल के सदस्य कवायद-परेड करते। यह सब रात के घुप अंधेरे में ही होता था। रामविनोद ने भी बागची के नेतृत्व में प्रशिक्षण पाया। पक्के क्रांतिकारी बन गये। एक दिन बागची का दल एक मकान में घिर गया। गोली चली। परन्तु बागची और उनके साथी रातोरात मकान से निकलकर एक पहाड़ी पर चले गये। इस टुकड़ी में रामविनोद भी थे। लेकिन विप्लवी दल में वास्तविक नाम गोपनीय रखा जाता है। पुलिस दल ने वहां भी मोर्चेबंदी की। पूरी पहाड़ी घिरी थी। घंटों गोली चली। बागची के आठ साथी लड़ते-लड़ते वहीं खेत रहे। नलिनी बागची जख्मी होकर निकल गये। उनके साथ रामविनोद भी बच गये, उन दिनों दल ने इनका नाम 'ज्योतिन मुकर्जी' रख लिया था।

गिरते-गिरते बागची पैदल ही भागलपुर से कलकत्ता पहुंचे। बहुत कमजोर व बीमार थे। एक जगह विवश हो गिर गये। तेज ज्वर था। चेचक का प्रकोप भी हो गया। कई दिन अनाम-अज्ञात वहीं सड़क के किनारे पड़े रहे। कौन पूछे? कौन पानी दे—इस अचेतन-प्राण विप्लवी को! मरणासन्न, क्षीण-जर्जर, निराश्रित भिखारी-से लगते आदमी को यों राह में पड़े देखकर उसको उठाने, उसके इलाज की फिक्र भी भला कौन करने लगा! फिर चेचक तो छूत की बीमारी ठहरी। किसका जीवन फालतू था जो उस बीमार विप्लवी युवक की सेवा में लगता? एक दिन एक साथी तारिणी मजूमदार ने चलते-चलते पहचाना। पास आया। फिर चिहुंक कर कह उठा—'अरे, ये तो दादा हैं।'

सच ही वह उसके नलिनी दा थे। दल के नेता थे। वह उन्हें एक कोठरी में ले गया, जहां वह स्वयं जमीन पर चटाई बिछाकर रहता था। अपने हाथों से फिर जो सेवा-सुश्रूषा बन पड़ी, की। फिर अन्तराग्नि ने बेचैन किया। विप्लवी को विश्राम कहां? अच्छे हो रहे थे कि एक दिन वे ढाका गये। वहां भी घिर गये। फिर गोली चली। तारिणी खेत रहा। नलिनी वागची घायल होकर पकड़े गये। उनके गोली लगी थी। अस्पताल में अंग्रेज अफसर ने बड़ी कोशिश की कि क्रांतिकारी अपना नाम-धाम बताता जाये। अपने दल के कुछ नाम उगल दे। पर नलिनी मौन रहे। गोरे अफसर ने उनसे यह भी कहा, 'तुम देश के वास्ते मर रहे हो, कोई अन्तिम वक्तव्य या संदेश तो देते जाओ। अपना परिचय दे दो ताकि लोग जान सकें कि तुम कौन थे?'

फिर भी उस मरणासन्न विप्लवी का मौन न टूटा। बहुत परेशान किया गया तो सिर्फ इतना कहा, 'बाधा मत दो। मुझे शांतिपूर्वक मरने दो।' गोरा अफसर समझ सके इसलिए नलिनी उस वक्त अंग्रेजी में ही बोले थे, 'डोन्ट डिस्टर्ब, प्लीज लेट मी डाई पीसफुली।' अंग्रेज अवाक् था उनकी शांति और धैर्य को देखकर। ऐसे मरने वाले उसने अपने देश इंग्लैंड में भी नहीं देखे थे। नलिनी ने भेद नहीं दिया। इसलिए रामविनोद उर्फ ज्योतिन मुकर्जी और उनके साथी बच गये।

लेकिन 'लाहौर-षड्यंत्र-केस' में जिस एक फणीन्द्र घोष ने पुलिस जासूसों को अपने दल के भेद उगले। उसे जिन लोगों ने मोतिहारी में खत्म किया—उन बैकुण्ठ शुक्ल और चन्द्रमासिंह को हर तरह की मदद रामविनोद ने दी। फणीन्द्र पर जलगांव की अदालत में भी क्रांतिकारी कैदी भगवानदास माहौर ने गोली चलाई थी, पर वह तब बच गया था। लेकिन उसी को बिहार के मोतिहारी शहर में बैकुण्ठ शुक्ल और चन्द्रमासिंह ने सिर्फ चाकुओं से मारकर खत्म किया। कारण इसी फणीन्द्र ने भगतसिंह आदि के भेद अंग्रेजों को दिये थे। बैकुण्ठ को फांसी मिली, चन्द्रमासिंह को दस साल कैद।

रामविनोद ने इन दोनों क्रांतिवीरों—बैकुण्ठ शुक्ल और चन्द्रमासिंह को अपने मकान में कई दिनों तक छिपाये रखा था। क्योंकि फणीन्द्र को खत्म करने के बाद ये लोग फरार थे और एक उपयुक्त तथा सुरक्षित जगह की इन्हें जरूरत थी। रामविनोद ने उन्हें छिपाकर रखने का जोखिम सहर्ष आगे मोल लिया। यह मामूली बात नहीं थी।

एक दिन महात्माजी बिहार के प्रवास पर आये, तो चंपारण में भी उनका आगमन हुआ। पता चला तो रामविनोद उनसे भेंट करने आये। बात होने लगी। उस समय रामविनोद ने गांधी जी के सामने प्रस्ताव रखा कि 'आप भी हमारे साथ विप्लवी दल में आ जायें।'

गांधीजी इस आग्रह का उत्तर टाल गये। उल्टे कहा—'विनोद बाबू! तुम्हारे सरीखे युवक अगर मुझे सहयोग प्रदान करें, तो हमें जल्दी सफलता मिल सकती है।'

गांधीजी का प्रभाव

गांधीजी के आह्वान का उन पर गहरा असर हुआ। लेकिन तभी उन्हें जेल चले जाना पड़ा। रिहा हुए सन् 1920 में। सीधे गांधीजी के पास पहुंचे। गांधीजी ने उन्हें खादी बनाने के सिलसिले में कुछ जिम्मेदारी सौंपी। उनका क्रांतिकारी मानस उसी कार्य में लग गया। रामविनोद ने अपने ग्राम दिघवारा में 'गांधी-कुटीर' कायम किया और उसने जल्दी ही एक प्रमुख केन्द्र का रूप ले लिया। दिघवारा-केन्द्र में खादी का प्रचुर उत्पादन देखकर गांधीजी प्रसन्न हुए।

लेकिन वह सब करते हुए भी रामविनोद का दिल कुछ और कर गुजरने के लिए छटपटाता रहा। बम-पिस्तौलों से खेलने वाले हाथ भला कितने दिन खादी और चरखे में रह सकते थे। कुछ दिनों बाद एकाएक रामविनोद ने दिघवारा का वह खादी-केन्द्र दूसरों के हवाले कर दिया और फिर से विप्लवी दल में आकर सक्रिय हो गए। सन् 1932 में ये पकड़े गये और नजरबन्दी का जो चक्कर चला तो सन् 1937 तक पूरे पांच साल नजरबंद रहे। छूटते तब भी नहीं लेकिन वह जमाना था कांग्रेस की अंतरिम सरकार का, इसी से रिहा हो सके।

विमान से बमबारी

फिर आये सन् 1942 के आग्नेय दिन। रामविनोद और उनका पूरा परिवार उस आंदोलन में जुट गया। अनेक थानों, कचहरियों, खजानों पर कब्जा कर लिया गया। बिहार का काफी क्षेत्र आजाद घोषित कर दिया गया। कहीं-कहीं प्रशासन भी स्वतंत्र हाथों में आ गया। लेकिन फिर फौजें आईं। दमन-चक्र चला। रामविनोद के घर को अंग्रेज सरकार ने बमबारी करके तहस-नहस कर दिया। ये बम विमानों से डाले गये। उनका एक अच्छा-सा पुस्तकालय था। हजारों पुस्तकें उन्होंने इकट्ठा कर रखी थीं। सरकारी दमन की भट्ठी ने उसे भी जलाकर राख बना दिया। पुस्तकालय स्वाहा हो गया। यही नहीं, सन् 42 के आंदोलन के सिलसिले में रामविनोद की दो बेटियां गिरफ्तार की गईं। हालांकि वे किशोरियां थीं। फिर भी एक बेटी को अंग्रेजों ने चौदह साल तथा दूसरी पुत्री को ग्यारह साल की सजा दी। उस दिन पिता के हृदय पर कैसा वज्रपात हुआ होगा, क्या यह सोचा जा सकता है? लेकिन रामविनोद दृढ़ रहे। दोनों बेटियों को लम्बी सजायें पाते देखकर उन्हें अपने परिवार पर गर्व अनुभव हुआ और कहा था—'बेटियां ही सही। देश के काम आई उनकी तरुणाई। यह क्या शोक की बात है? मैं ऐसी लड़कियों का पिता हूं, यही बात क्या मुझे आनन्द और गौरव प्रदान नहीं करती?

आखिर किसी दिन मुजफ्फरपुर स्टेशन पर बन्दी बने हुए खुदीराम बोस के प्रथम दर्शन से प्रेरणा ग्रहण करने वाले तथा देश-सेवा का व्रत लेने वाले रामविनोद अपने परिवार को कुरबानी से कैसे अलग रख सकते थे? अपने नेता और साथी नलिनी

बागची का मौन मरण उन्होंने देखा था और देखा था खुली आंखों से भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव, आजाद और बैकुण्ठ शुक्ल सरीखे साथियों का आत्म-बलिदान। अनल का वह यज्ञकुण्ड तो अहरह 'धू-धू' जल ही रहा था और उसमें आये दिन आहुतियों का तांता भी जारी ही था। उस फिजा में अपने परिवार पर जो कुछ बीती, उसे उस कर्मठ विप्लवी ने नगण्य ही माना, क्योंकि वह तो चिरकाल रवीन्द्र ठाकुर के स्वर में गांव-गांव आजादी के विप्लव की अलख जगाता घूम रहा था–

नगरे-नगरे ज्वाल रे आगुन
हृदये-हृदये प्रतिज्ञा दारुण।

–'हे बन्धु, नगर-नगर में विप्लव की अग्नि प्रज्वलित कर दो तथा हृदय-हृदय में देश के लिए संग्राम करने की दारुण प्रतिज्ञा जगा दे।'

जननी, तुम्हें प्रणाम!

देश के स्वतंत्रता-संग्राम से आगरा जिले के जौहरी बंधुओं का उल्लेखनीय संबंध रहा है। इनमें बड़े भाई थे चन्द्रधर जौहरी, छोटे थे चन्द्रभाल जौहरी। चन्द्रधर जौहरी को 'मैनपुरी केस' में पांच वर्ष की सजा मिली थी। फिर बाद में जब 'काकोरी केस' में धर-पकड़ हुई तो उसमें चन्द्रधर तथा चन्द्रभाल दोनों गिरफ्तार हुए, परन्तु केस न बनने पर रिहा कर दिये गये। फिर भी आगे बार-बार उन्हें चार बार कैद मिली। 'मैनपुरी-केस' के क्रांतिकारी नेता पं. गेंदालाल दीक्षित की प्रसिद्ध विप्लवी संस्था 'शिवाजी समिति' के यह भी सक्रिय कार्यकर्ता थे। इस समिति से पं. रामप्रसाद 'बिस्मिल' जैसे क्रांतिकारी भी जुड़े हुए थे। 'मैनपुरी केस' तक यही समिति सक्रिय थी।

सन् 1921 में जब गांधीजी का आंदोलन चल रहा था, जौहरीजी के अनुज चन्द्रभाल जौहरी ने संकल्प किया कि 'तिलक स्वराज्य फण्ड' में मैनपुरी से तीन लाख

रुपया इकट्ठा करके देना है। धन-संग्रह में विलम्ब होता दिखा तो इन्होंने प्रतिज्ञा की कि 'बिना तीन लाख की धनराशि पूर्ण हुए मैं अन्न ग्रहण नहीं करूंगा।'

रुपया इकट्ठा हो रहा था परंतु उस जमाने में जब दो रुपए मन गेहूं था और दस-पन्द्रह रुपए मासिक तनख्वाह एक बड़ी चीज समझी जाती थी—तीन लाख रुपया एकत्र करना और वह भी देशहित में, मुंह का कौर तो न था। घर वालों को लगा, रुपया जब तक इकट्ठा होगा, निराहार की स्थिति में चन्द्रभाल जिंदा बचेंगे नहीं, फंड में भी पच्चीस हजार रुपये कम थे।

मां का दिल कचोट उठा। बेटा चल बसे और घर-मकान बचा रहे। जेवर सहेजे रखे रहें तो किस काम के? उस ममतामयी ने अपने सारे जेवर बांधे और बाजार जाकर बेच दिये परंतु उससे भी कितना पूरा पड़ता! तब एकमात्र जायदाद अपना जाती मकान बेच दिया। इस तरह 'तिलक स्वराज्य फंड' में जो पच्चीस हजार रुपये कम पड़ रहे थे, उसकी पूर्ति जौहरी-परिवार की उस मां ने करके चैन ली और अपने बेटे से कहा, 'भैया! तिलकजी का फंड पूरा हो गया। अब तो अपना उपवास तोड़।' उपवास टूटा। अंततः जौहरीजी प्रसन्न मन आन्दोलन में जेल पहुंच गये। कैसा जमाना था!

बलिवेदी पुकारती है...

'3 बजकर 55 मिनट हो गये। लगता है हम कामयाब न होंगे!'—गोरखा रेजिमेंट के एक सैन्याधिकारी ने कैप्टेन बख्शी से कहा। परंतु बख्शी ने लाइट मशीनगन सीधी करते हुए जवाब दिया—'नहीं, पांच मिनट बहुत हैं। हम चार बजे तक चौकी सर कर लेंगे।'

कैप्टेन बख्शी की यह भविष्यवाणी सुनकर आठ गोरखा राइफल्स (छठी बटालियन) के जवान चकित रह गये क्योंकि जिस पाकिस्तानी चौकी पर कैप्टेन बख्शी ने धावा बोला था, उसके अंदर से तो पाकिस्तानी सैनिक सजगता से गोलीबारी कर ही रहे थे, एक और नई पलटन का एक तरोताजा दस्ता भी पाकिस्तानियों की सहायतार्थ आ पहुंचा था। इससे चौकी की तरफ से लड़ने वालों की ताकत दूनी हो गई थी।

अलबत्ता पाकिस्तानी फौजी इस बात पर हतप्रभ थे कि भारतीय सैनिक किस रास्ते यहां तक पहुंच गये और उन्हें उनकी हवा तब मिली, जब वे चौकी पर छापा

मार बैठे। यह करिश्मा गोरखा रेजिमेंट की बटालियन के कम्पनी कमांडर कैप्टेन रमेशचन्द्र बख्शी की सूझबूझ तथा साहसिकता का ही था कि अपने से दूनी-तिगुनी शक्तिशाली शत्रु-चौकी पर गोरखा बटालियन गोलीवर्षा कर रही थी।

चौकी लाहौर के इलाके में ही थी। अभी भोर होने में कुछ देर थी। आकाश में अभी भी कुछ तारे निष्प्रभ-से टिमटिमा रहे थे। शीतल समीर का झोंका कैप्टेन बख्शी को मानो तसल्ली और ताजगी प्रदान कर रहा था कि दृढ़संकल्पी पुरुष कभी विफल नहीं हुआ करते और कैप्टेन बख्शी की आत्मा इस एक भावना से ही आनन्दातिरेक में सब कष्ट-थकान भूली हुई थी कि आखिर आज के इस शुभ ब्राह्म मुहूर्त में वे भारत के उस विभाजित और बिछुड़े हुए इलाके में सांस ले रहे हैं, जिसे कभी श्रीराम के पुत्र लव ने बसाया था और जहां जयपाल, आनन्द पाल सरीखे वीरात्माओं की तीन-तीन पीढ़ियां विदेशी हमलावरों से लोहा लेती रही हैं।

इस भावना के साथ ही कैप्टेन बख्शी की ललकार गोरखा बटालियन के जवानों को आगे बढ़ने को प्रेरित करती है। उनकी मशीनगनें और तेजी पकड़ जाती हैं। 'छप! छप!' पाकिस्तानी चौकी भारतीय गोलियों की अजस्र वर्षा से छलनी हुई जा रही है। चार बजने में दो मिनट और बाकी रह गये हैं।

बलिवेदी अविराम पुकारे जा रही है। आखिर गोरखा बटालियन का दबाव बढ़ने से चौकी में मौजूद पाकिस्तानी फौजी बाहर खुले में आ गये। अब लड़ाई है बिल्कुल आमने-सामने की। संगीनें भी अपना काम करती जा रही हैं। अनेक जवान रक्त ढारते धराशायी हो रहे हैं। कैप्टेन बख्शी उस बारूद और धुएं की धुंध में सीधे तीर की तरह घुसते जा रहे हैं। फिर उनकी बटालियन के जवांमर्द कैसे पीछे रहते? पाकिस्तानी फौजी चौकी सीमा से परे खदेड़े जाते रहे और गोरखा बटालियन अंदर की तरफ धंसती चली गई। बख्शी की घड़ी ने ठीक चार बजाया ही था कि सामने से गोलियों की एक बौछार उन्हें घातक रूप से आहत कर गई, फिर भी एक तुमुल निनाद के साथ वे कूदकर चौकी में प्रवेश कर गये। उनके एक जवान ने चांद-सितारों वाला पाकिस्तानी झंडा उतारकर दूर फेंक दिया। लहरा उठा उस चौकी पर भारतीय विजय-ध्वज।

पाकिस्तानी फौजी अपनी जान बचाकर भाग निकले। चौकी सर हो गई। परंतु जख्मों से भरा कैप्टेन बख्शी का शरीर ठीक भारतीय ध्वज के निकट, उसकी छाया में धरती पर गिर गया। बेशुमार रक्तस्राव जारी था। लाहौर की सरहद सिंचित होने लगी बख्शी के लहू से।

बलिवेदी की पुकार अनवरत गूंज रही है। उस वीर की आंखें मुंदने लगीं। तंद्रा की स्थिति में उसने एक बार बड़ी मुश्किल से अपनी कलाई उठाकर घड़ी पर सरसरी नजर डाली। सुबह के चार बजे थे और तब उसकी रक्तारक्त मुखमुद्रा पर अखंड शांति एवं संतोष की आभा दीप्त हो उठी। वह वीर सेनानी लाहौर क्षेत्र की उस चौकी की भूमि पर चिर विदा ले गया। परंतु अपना वादा और सेनाधिकारी के इस आदेश की

पूर्ति प्राण देकर भी करता गया कि 'चौकी भोर होने के पहले चार बजे फतह कर लेना है।' उस दिन उस लाहौरी इलाके के समरांगण में खप्पर खटकाता हुआ बलि का देवता भी पता नहीं क्यों एकाएक उच्च स्वरेण पुकार उठा था, 'ठीक चार बजे।' शायद वह भी ऊंचे आकाश तथा दिग्दिगन्त को सुनाना चाहता था कि चार बजे ही चौकी फतेह हुई है, सिर्फ पांच मिनट में। (मरणोपरांत बख्शी को वीरचक्र प्रदान करके सम्मानित किया गया।)

बारूदी सुरंगों के ऊपर

बलि का देवता उस दिन अपना विशाल खप्पर खटकाता इच्छोगिल नहर के किनारे घूम रहा था और उसकी प्रबल हुंकार बर्की ग्राम तक गुंजायमान थी। बर्की, जो पाकिस्तानी गांव था—पाकिस्तानी पुलिस चौकी। लेकिन भारतीय सेना के रणबांकुरों ने उस पर कब्जा कर लिया था तथा उस पर अब भारतीय ध्वज फहरा रहा था। इसका श्रेय सेंट्रल इण्डिया हॉर्स के कमांडिंग अफसर लेफ्टिनेंट कर्नल सतीशचन्द्र जोशी को ही था क्योंकि उन्हें आदेश हुआ था कि 'पंजाब रेजिमेंट की मदद में इच्छोगिल का पूर्वी तट सर करते हुए आगे बढ़ते जाओ।' वह रास्ता था खालरा से लाहौर जाने का। परंतु बढ़ते जाना सरल न था। पाकिस्तान ने पूरे क्षेत्र में बारूदी सुरंगें बिछा रखी थीं और पूरी नहर के किनारे-किनारे कंकरीट-सीमेंट से ऐसे पिलबॉक्स बना रखे थे जिनके भीतर से बराबर गोलीबारी जारी थीं। ये पिलबॉक्स विश्वयुद्ध के बाद पहली बार ही भारतीय सेना इच्छोगिल नहर पर देख रही थी। इस पद्धति का प्रयोग कभी जर्मनी ने किया था। फिर भी भारतीय सेना ने दो पिलबॉक्स उड़ा दिये और बर्की ग्राम पाकिस्तानी सेना से दबोच लिया। पाकिस्तानी फौज भाग खड़ी हुई। परंतु नहर के तटवर्ती पिलबॉक्स अभी भी आग उगल रहे थे। वह तिथि थी सन् 1965 की 10-11 सितम्बर। इच्छोगिल मोर्चे पर 6 सितम्बर से भयंकर युद्ध जारी था, भारतीय सेना निरंतर विजय प्राप्त करते हुए आगे बढ़ रही थी। बर्की पर 10-11 सितम्बर की रात ही भारतीय सेना ने विजय प्राप्त कर ली थी। परंतु अब आगे बारूदी सुरंगें रास्ता रोक रही थीं। भारतीय सेना के टैंक सहसा आगे बढ़ते-बढ़ते बिरम गये। यह ले. कर्नल जोशी को सहन न हुआ।

बलिवेदी पुकारती है...

वह जवांमर्द फौरन सेना से निकलकर आगे आ खड़ा हुआ। टैंक-चालक को अपने आदेश से आगे बढ़ने के लिए उत्साहित किया, ताकि सेना के लिए मार्ग ढूंढ़ा जा सके। टैंक धड़धड़ाता हुआ बढ़ चला। परन्तु अभी कुछ ही दूर गया था कि दुश्मन द्वारा बिछाई गई एक सुरंग फटी और उससे टैंक क्षतिग्रस्त हो गया। फिर भी ले. कर्नल जोशी रुके नहीं। वे टैंक छोड़कर पैदल ही आगे बढ़े। शत्रु की मशीनगनें और तोपें आग उगलती रहीं। गोले ठीक जोशी के इर्द-गिर्द आकर फटने लगे। परंतु वह वीर

रुका नहीं और चलते-चलते अकेले ही बर्की तक जा पहुंचा। वहां भारतीय सेना जमी थी ही। उससे एक जीप प्राप्त कर जोशी फिर से इच्छोगिल के किनारे-किनारे चल पड़े। नीचे भयानक बारूदी सुरंगें, ऊपर सामने से तोपों-मशीनगनों की मार। अविराम गोलाबारी। परंतु बलिवेदी जो पुकारे जा रही है निरन्तर—वह रणबांकुरा उधर बढ़ता जाता है, बढ़ता जाता है। जैसे गोले-गोलियां नहीं फूल बरस रहे हों। जोशी दृढ़व्रती हो पथ की खोज में व्यस्त। टैंक-चालकों के जोश में भी उबाल आया। तब तक जोशी ने पंजाब रेजीमेंट की बटालियन के लिए इच्छोगिल के किनारे एक सुरक्षित मार्ग ढूंढ़ निकाला। उसी रास्ते पर भारतीय टैंक धड़ाधड़ चले। जोशी की जीप सबसे आगे दूर निकल गयी कि एकाएक बीच रास्ते में दुश्मन की एक बारूदी सुरंग फटी और जोशी की जीप उड़कर टुकड़े-टुकड़े होकर हवा में छितर गई। बलिवेदी पुकारे जा रही है! ले॰ कर्नल जोशी के शरीर में अनेक जख्म आ गये हैं। पूरी देह लहू से लाल हो उठी है। वेदना की चरम सीमा! परंतु जोशी दृढ़बद्ध ओष्ठ-पुटों से सिर्फ इतना ही कहते हैं—'आगे बढ़ो, रास्ता मिल गया।'

रास्ता तो मिल गया। पंजाब रेजीमेंट की बटालियन उससे पार हो गयी परंतु जोशी? बलि के देवता ने अपना रिक्त खप्पर आगे बढ़ा दिया। इस बार उसमें जो शीश चढ़ा, वह ले॰ कर्नल जोशी का ही था। उस महान बलिदानी को मरणोपरांत महावीर-चक्र से सम्मानित किया गया। उसने बलिवेदी की पुकार सुनी थी और उसकी तरफ द्रुतगति से दौड़ पड़ा था।

एक दिन बर्की ग्राम फिर से पाकिस्तान को वापस कर दिया गया। इच्छोगिल वापस लौटा लिया गया। परंतु जोशी की शौर्य-गाथा पंजाब रेजीमेंट के सैनिक जो बर्की में लड़े थे, आज भी दुहराते हैं।

समझाना शहीद सुकरात का

सुकरात का एक शिष्य था अल्काबिएडस, बहुत धनी था। जमीन-जायदाद भी बहुत थी जबकि सुकरात निर्धन थे। धनोपार्जन के लिए उनकी कोई जीविका ही न थी। कपड़े फटे-पुराने रहते। पांवों में जूते भी न हुआ करते। इस कारण उनकी स्त्री अपने पति पर बहुत खीजी रहती। परन्तु उसकी 'बक-झक' का उन पर जरा भी प्रभाव न पड़ता। एक बार तो उसने सुकरात पर बकते-झकते हुए बर्तन का गंदा पानी ही फेंक दिया। उस समय उनके मित्र भी घर आये हुए थे। मित्रों ने सुकरात की पत्नी के दुर्व्यवहार पर टिप्पणी की, तो सुकरात ने कहा—

'मैं जानता था, जब बादल गरज रहे हैं, तो वर्षा जरूर होगी।'

एक दिन अल्काबिएडस ने सोचा, सुकरात को अपनी कुछ भूमि क्यों न दे दूं, जिससे उनकी गृहस्थी सुकर हो जाय। उसने यह प्रस्ताव अपनी जायदाद का वर्णन

करते-करते नम्रतापूर्वक सुकरात के समक्ष रखा। सुकरात के उत्तर देने की शैली निराली थी। प्रायः वे प्रश्नकर्त्ता से ही प्रश्न करने लग जाते थे। सुकरात ने अल्काबिएडस से पूछा, 'तुम विश्व का एक नक्शा ला सकते हो?'

उसने कहा, 'जरूर।' और वह नक्शा ले आया। तब सुकरात ने उससे कहा, 'इसमें यूनान कहां पर है?'

उसने नक्शे में यूनान खोजकर दिखाया। फिर पूछा—'अच्छा, अब इसमें अपना शहर एथेन्स खोजो।'

उसने जरा कठिनाई से एथेन्स खोजकर उंगली रखी। तब सुकरात ने विचित्र प्रश्न किया। कहा, 'इसमें तुम्हारी जो जमीन है, वह बता सकते हो?' भला नक्शे में वह अपनी भूमि कहां दिखाता! मौन रहा। सुकरात ने प्रबोधा, 'देखा, इतने बड़े एथेन्स में तुम्हारी जमीन का कहीं नक्शे में पता-ठिकाना नहीं। फिर भी तुम समझते हो कि तुम्हारे पास सर्वाधिक भूमि है?'

इस तरह उन्होंने अपने शिष्य के अहंकार पर चोट की। फिर आजीवन कभी उसने अपनी सम्पन्नता की चर्चा न की। न सुकरात को कुछ देने की प्रचेष्टा की। ऐसे निःस्पृह थे सत्यार्थी सुकरात।

देश ने जब तरुणाई को पुकारा

ध्येय हो और हो उसके प्रति ज्वलंत निष्ठा, तादात्म्य और तत्परता, तो प्रणव्रती पुरुष कभी यह बाधा मानकर निष्क्रिय बैठा नहीं रहता कि 'कैसे करें? क्या करें? यह नहीं है, वह नहीं है', आदि बहाने कभी उसकी जिह्वा पर नहीं आते।

जिन दिनों (3 दिसंबर सन् 1905) लॉर्ड कर्जन ने बंगाल को विभाजित करने की सनसनीखेज घोषणा की और 16 अक्तूबर 1905 को बंगाल विभाजित कर दिया गया, तब बंगाल जैसे सोते से एकदम जागकर खड़ा हो गया।...आकाश-बातास में चतुर्दिक एक भैरव स्वर गूंज उठा, 'उत्तिष्ठत! जाग्रत! प्राप्य वरान्निबोधत्...।' यह वाणी थी स्वामी विवेकानंद की।

चुनौती का उत्तर

और फिर इस वाणी को राष्ट्र-जीवन में उतारने प्रत्यक्ष कर्मक्षेत्र में उस समय जो कुछ

युवक आये, वे थे अरविन्द घोष। इंग्लैण्ड के हवा-पानी में बहुत दिन रहकर, वहां आई. सी. एस. का पाठ्यक्रम घोटकर भी वे भारत को अंग्रेजों की दासता से मुक्त कराने दौड़े आये, लौट आये देश के अभावों, कुण्ठा-संत्रास और दमन के हाहाकार भरे आंगन में। विपिनचन्द्र पाल, श्यामसुंदर चक्रवर्ती, बैरिस्टर बी. सी. चटर्जी, हेमेंद्रप्रसाद घोष, बारींद्र घोष, केशव गुप्त, उपेंद्रनाथ वन्द्योपाध्याय, अविनाश भट्टाचार्य, भूपेंद्रनाथदत्त (विवेकानंद के अनुज), राजा सुबोधचंद्र मल्लिक, पुलिनबिहारीदास (ढाका), सतीशचंद्र बोस, देवव्रत बोस (कलकत्ता), अन्नदा कविराज, अविनाश चक्रवर्ती (पावना), इंद्रनाथ नन्दी, ज्ञानेंद्रमोहन बोस(मिदनापुर), नवीन सामन्त (बर्दवान), निखिल मौलिक (त्रिपुरा), परेश लाहिड़ी (मैमनसिंह), सेनगुप्त बाबू, डॉ. कर्मकार (त्रिपुरा), ललितचन्द्र चट्टोपाध्याय (नादिया), विभूति सरकार (जसौर), वीरेश्वर भट्टाचार्य (मागरा), सत्येन बोस (मिदनापुर), खुदीराम बोस (मिदनापुर), उल्लासकरदत्त (ब्राह्मणबेड़िया, त्रिपुरा), सुकुमार मित्र, भूपेंद्र चन्द्र नाग, आशुतोषदास गुप्त, सखाराम गणेश देउस्कर, बैरिस्टर प्रमथनाथ मित्र, तारकानाथ दास, आनन्दचन्द्र चक्रवर्ती, हेमचन्द्रदास (मिदनापुर), कन्हाईलाल दत्त, निरापदराय (शांतिपुर), योगेन्द्र बसु (मिदनापुर), सुरेन्द्रनाथ ठाकुर, यतीन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय, विष्णु भास्कर लेले, सखरिया स्वामी, चारुचन्द्र दत्त, प्रोफेसर मुर्तजा (श्रीरामपुर), सरला देवी, अतुल घोष (उलुबेड़िया), हरिदास हालदार (कालीघाट), हरीश शिकदार, पुनीतलाल (पटना), रघुनाथ वन्द्योपाध्याय, मणि मित्र, पवित्र दत्त, विपिन गांगुली, प्रभासदेव, अमरेन्द्र चट्टोपाध्याय, यतीन्द्रलोचन मित्र, लाडलीमोहन मित्र, केदार चक्रवर्ती (मैमनसिंह), किरणचन्द्र मुखोपाध्याय, योगेशचन्द्र चौधरी, मोक्षदा समाध्यायी, कार्तिकचन्द्र दत्त, त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती (साटीरपाड़ा), अमृतलाल हाजरा, शचींद्रनाथ वन्द्योपाध्याय (विक्रमपुर), शहीद गोपाल (ढाका), प्रफुल्ल चाकी, माखनलाल सेन (सोनारंग), रमेशचन्द्र आचार्य (बाखरगंज), जज शारदाचरण मित्र, ज्योतिषचन्द्र, गुणेनदास गुप्त, केशव दे (हावड़ा), सुरेश मित्र, शरत् मित्र, भूषण मित्र, नरेंद्रनाथ भट्टाचार्य, एम.एन. राय, नरेन सेन, रवींद्र सेन, ईशान चक्रवर्ती (रंगपुर), सुरेश मजुमदार सरीखे युवक विवेकानंद की वाणी को मूर्त रूप देने आगे आ खड़े हुए।

सूची और लम्बी है किन्तु....

यह सूची और लम्बी है, परन्तु इतने नाम यहां इसलिए देने आवश्यक हो गए कि पराधीनता के बीच भी देश मृत नहीं हो गया था, और कोई भी आह्वान युवकों की आवादी में व्यर्थ नहीं जाता था। उक्त नामावली में कितनों ने ही अपने प्राण-प्रसून भरी जवानी में मां के चरणों में हंसते-हंसते उत्सर्ग कर दिये, कितनों ने पूरी तरुणाई अण्डमान की जेल में खपा दी। शचींद्र सान्याल जब आजन्म कैद कालेपानी की सजा काटने अण्डमान पहुंचे तो क्या देखते हैं, 'मानिकतल्ला बम केस' के जन्म-कैदी क्रांतिकारी हेमचंद्र दास अपनी सफेद दाढ़ी फहराते एक जगह बड़े तन्मय होकर कोई पुस्तक पढ़ने

में लीन हैं, वही हेमचंद्र दास जो पेरिस में दल के लिए बम बनाना सीखने के लिए अपनी जायदाद, घर-मकान सबकुछ बेचकर इस काम में खटने पेरिस जा पहुंचे थे, अनन्तर 'बंग-भंग' के दिनों में विदेश से लौटकर क्रांतिकारी युवकों, छात्रों को बम बनाने का प्रशिक्षण देने लगे थे और एक दिन अरविन्द घोष के साथ गिरफ्तार होकर जन्म कैद काटने अण्डमान जा पहुंचे थे। उस समय हेमदा को निश्चिंत निर्विकार वहां देश से इतनी दूर कालेपानी में बैठे देखकर शचींद्र सान्याल भावविभोर हो उठे थे। उस जन्मजात विप्लवी के प्रति असीम श्रद्धा से उनका हृदय आलोड़ित-विलोड़ित हो उठा था। कहीं कोई चीख-पुकार नहीं, शिकवा-शिकायत नहीं। धीर-निश्चल मुद्रा में बस पुस्तक पढ़े जा रहे हैं। उन्हें लगा कि हेमदा जैसे सदा से, चिर जीवन इसी कालेपानी में रहते आ रहे हैं और उन्हें कभी भी कहीं आना-जाना नहीं है, किसी से कुछ लेना-देना नहीं है। लम्बी सजा काटने के बाद, युवा से वृद्ध होते हुए भी उस जन्म-कैदी क्रांतिकारी के प्रशस्त ललाट पर मैल की एक रेखा नहीं। जिस मिट्टी ने उन्हें अपनी कोख से जन्म दिया, क्या वह वन्दनीय नहीं? जन्म-कैदी क्रांतिकारी की वह अभय, निरामय, निर्लिप्त और निष्काम देशप्रेम की दृप्त भावना से दीप्तिमान स्थिर मुद्रा क्या इस देश के उन युवकों के लिए सदा-सर्वदा के लिए एक ऐसी प्रेरणा नहीं, उद्दाम उत्कट भावधारा का एक ऐसा ज्वार नहीं, जो आज केवल ऐहिक एषणाओं और निजी सुख-सुविधाओं की जिंदगी की तलाश में दिशाहारा और दिग्भ्रांत हो भटक रहे हैं? उनके निरुद्देश्य ध्येयहीन जीवन को उक्त विप्लवी जीवन की भावधारा क्या झकझोर देने के लिए प्रबल झंझावात नहीं है?

विवेकानन्द की कामना

और देश में ऐसे युवक उठें, सामने आयें—यह कामना विवेकानन्द ने की थी। उनकी शिष्या भगिनी निवेदिता ने भी की थी। स्वामी दयानंद की भी यह अपेक्षा थी और अपेक्षा को पूर्ण करने के लिए जो दो कदम इस रास्ते पर चलते दृष्टिगत हुए, वे कदम थे सरला देवी के। बंगाल की वीर पुत्री सरला देवी। स्वामी विवेकानन्द कहते थे, 'मैंने जो सम्पूर्ण भारतवर्ष का प्रवास किया है, वह क्रांति के ही उद्देश्य से। मैं तोप का निर्माण कर जाऊंगा। इसी कार्य के लिए मुझे ऐसे युवक चाहिए जो अविवाहित रहकर, पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए देशवासियों को शिक्षा प्रदान करें, उन्हें जागृत करें। मैं इच्छुक हूं उस दृश्य को और उस दिन को देखने के लिए जब भारत एक बारूदी स्तूप बन गया होगा।'

स्वामी विवेकानन्द ने अपने ये आग्नेय उद्‌गार बंगाल में उस समय सक्रिय एक महाराष्ट्रीय क्रांतिकारी सखाराम गणेश देउस्कर से कहे थे। देउस्कर उन दिनों अरविन्द घोष और भगिनी निवेदिता के साथ घूम-घूम कर बंगाल के गांवों-कस्बों में विप्लवी शाखाएं कायम कर रहे थे। देउस्कर का कहना था कि 'स्वामी विवेकानन्द सोचते थे

कि 'क्या ही अच्छा हो कि वे अपने जीवनकाल में ही भारत में क्रांति होते देख सकें।'

बसु द्वारा पुष्टि

इसकी पुष्टि प्रसंगान्तर से 'अनुशीलन समिति' के सतीशचंद्र बसु के इन शब्दों से भी होती है। वे कहते हैं, 'एक दिन 'अनुशीलन समिति' के हम कुछ युवक स्वामी सारदानन्द से भेंट करने गए तो वहां स्वामी विवेकानन्द के मिशन (ध्येय) की चर्चा चली। उस समय स्वामी सारदानन्द कहने लगे, 'देखो भाई! स्वामी (विवेकानन्द) जी तो अब हमारे बीच हैं नहीं, परंतु देश में यह जो कार्य तुम लोगों ने जीवन में स्वीकार किया है, उसे निभाना, उसका परित्याग न करना। स्वामी जी (विवेकानन्द) कह गए हैं अपने संदेश में तुम लोगों के लिए कि जबकि एक पिंजरबद्ध पखेरू भी मुक्ति-प्रयास में पंख टकराता रहता है, तब तुम युवा होकर भी क्या मुक्ति-पथी बनकर आत्मविसर्जन नहीं करोगे? आगे और वर्तमान में भगिनी निवेदिता की बातों पर ध्यान देना। वे तुम्हारा मार्गदर्शन अवश्य करती रहेंगी।'

आगे बसु महोदय कहते हैं, 'अनन्तर हम लोग जब भगिनी निवेदिता से मिले तो उन्होंने भी सजग किया कि क्या तुम्हें स्वामी (विवेकानन्द) जी के संदेश विदित नहीं? मलिन मुहल्लों में जाकर विपन्न लोगों की सेवा में संलग्न हो जाओ। व्यायाम-केंद्रों में नित्य इकट्ठे होकर लाठी-काठी का अभ्यास करते रहो। व्यायाम करते हुए देश शक्तिशाली बनाओ।'

'अनुशीलन समिति'

इस वातावरण में कलकत्ते में 'विवेकानन्द सोसायटी' स्थापित की गई। उसके प्रधान स्वामी सारदानन्द ही मनोनीत हुए। 'मदन मित्र लेन' में लाठी-काठी चलाना सीखने के लिए एक अलग केंद्र कायम हुआ। इसी केंद्र का आगे चलकर नामकरण हुआ 'अनुशीलन समिति'। बसु महाशय के कथनानुसार यह नाम दिया था नरेंद्रनाथ भट्टाचार्य ने, जो उस समय कलकत्ते के न्यू इंडियन स्कूल के प्रधानाचार्य थे। फिर बैरिस्टर प्रमथनाथ मित्र हुए इस समिति के प्रधान (अध्यक्ष)। मित्र महाशय इन लड़कों से इतने प्रसन्न हुए कि उन्हें खींचकर अपनी छाती से लगा लिया था। उस समय तक रूस क्रांति से बहुत दूर था। फिर भी रूस के आदि क्रांतिकारी विचारक प्रिन्स क्रोपाटकिन से भगिनी निवेदिता मिल चुकी थीं। इसी संदर्भ में एक बार निवेदिता बड़ौदा गईं, तो वहां उन्हें अरविन्द घोष मिल गए। वे उस समय गुजरात शाखा के प्रधान थे। बड़ौदा-स्थित 'गायकवाड़ कालेज' में वे अध्यापक भी थे उन दिनों। उनके छोटे भाई बारीन्द्र घोष भी तब अरविन्द के पास ही रह रहे थे और एक अन्य युवक जो आगे बहुत प्रमुख विप्लवी नेता हुए—यतीन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय—वे भी उस समय महाराज बड़ौदा के अंगरक्षक रूप में वहां रह रहे थे। भगिनी निवेदिता से अरविन्द की बातचीत बंगाल

की स्थिति तथा वहां क्रांतिकारी गतिविधियों के संदर्भ में हुई। फलतः अरविन्द ने एक पत्र लिखा और उसे अपने भाई बारीन्द्र घोष तथा यतीन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय को सौंपकर दोनों को कलकत्ता रवाना कर दिया। अरविन्द ने वह पत्र भेजा था सरला देवी के नाम। ये कांग्रेस-कर्मी जानकीनाथ घोषाल की पुत्री थीं। ये युवकों को लाठी-काठी खड्ग चलाना सिखाने के लिए कई केंद्र चलाती थीं। उग्र लेख लिखती थीं। प्रथम विप्लव समिति बनाने में सरला देवी ने बैरिस्टर प्रमथनाथ मित्र की मदद ली थी। यह बड़ी बात है।

'हिन्दू मेला'

यों, साक्ष्य प्राप्त है कि 'अनुशीलन समिति' की स्थापना के पहले से भी बंगाल में कई समितियां सक्रिय थीं। उन्हीं में सर्वप्रथम प्रकाश में आया था 'हिन्दू मेला'। यह संस्था महाराष्ट्र में आन्दोलन रूप में सक्रिय तिलक के 'गणपति-महोत्सव' से समानता ही नहीं रखती थी, उससे प्रभावित भी थी। दूसरी थी 'आत्मोन्नति समिति', जो सन् 1897 से सक्रिय थी। यह भी विप्लवी समिति ही थी। बाद में इसके अनेक सदस्य 'अनुशीलन समिति' में आकर मिल गए। कैसी थी यह समिति और कैसे थे इसमें संलग्न युवक, इसकी कुछ झलक देखिए। 'आत्मोन्नति समिति' में कुल 30 युवक थे। सभी विद्यार्थी ही थे। हां, जब इसकी बैठकें होतीं तो उसमें कई युवा अध्यापक भी आकर बैठते थे। वर्दवान और शांतिपुर आदि नगरों में भी इसकी शाखाएं थीं। इन्द्रनाथ नन्दी, राखाल दास चटर्जी, भूपति गोस्वामी, यतीन्द्रनाथ हालदार आदि युवक इसमें थे।

उमंग ही उमंग

देखा गया कि एक बार कवींद्र रवींद्रनाथ ठाकुर, वैज्ञानिक जगदीशचंद्र बोस, भगिनी निवेदिता और यदुनाथ सरकार—ये लोग एक साथ 'बुद्ध' गया (बिहार) पहुंचे। 'आत्मोन्नति समिति' के इन्द्रनाथ नन्दी भी उनके साथ थे। पटना के एक क्रांतिकारी युवक पुनीतलाल भी 'बुद्ध गया' आये। वहां इन सबने क्या निश्चय किया, यह जानने का तो कोई उपाय नहीं, परंतु तत्काल बाद यह जरूर देखा गया कि महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश की तरह बंगाल में भी 'छात्र भण्डार' नाम के केंद्र खुल रहे हैं। यहां विप्लवी एकत्र होते थे। कलकत्ते के 'कालेज स्ट्रीट' में भी 'छात्र भण्डार' कायम हो गया। निखिल बाबू, इन्द्रनाथ नन्दी और हरीश शिकदार ही नहीं, राजा सुबोधचंद्र मल्लिक जैसे प्रौढ़जन भी इसमें सहयोग देने लगे। 'छात्र भण्डार' (कालेज स्ट्रीट) वाले मकान की अटारी पर महाराष्ट्रीय क्रांतिकारी सखाराम गणेश देउस्कर 'अनुशीलन समिति' के युवकों को इतिहास विषय पढ़ाते थे। सन् 1876 के काल में ही 'अग्निमंत्र की दीक्षा' तथा 'संजीवनी सभा' सरीखी और भी दो समितियां सक्रिय थीं। ये सन् 1894 तक कार्यशील रहीं। ये भी युवकों में विप्लवी भावना ही जगाती थीं। 'संजीवनी सभा' का एक गुप्त नाम

भी रखा गया था—'हमचुपामूहाफ'। इस नवजागरण का, मंत्र-गुप्ति का, छोटी-छोटी सभा-समितियों का परिणाम कितना सफलता-मंडित होगा, इसकी किसी को कभी कोई चिंता नहीं होती थी। एक उत्साह था, कुछ करने की उमंग थी। देश पराधीन रहे और हम दर्शक मात्र बनकर बैठे देखते रहें निष्क्रिय, यह बात उन्हें सह्य न थी। छोटी उम्र के किशोर, तरुणवयी और बड़ी उम्र के लोग भी स्वतंत्रता के आह्वान के लिए कभी एकान्त में, तो कभी सार्वजनिक स्थानों पर एकत्र होते थे, मिलते थे, विचार-विमर्श करते थे, योजनाएं बनाते थे और नये संकल्प करते थे। नाना प्रकार के कष्ट झेलते थे। फिर भी न कोई पछतावा होता था उन्हें, न उसके लिए संताप।

छाती के रक्त से शपथ-लेख

विपिनचंद्र पाल अपनी पुस्तक 'Bramh Samaj and the battle of Swaraj in India' में लिखते हैं कि 'ध्येय-प्राप्ति की दिशा में उस युग में यद्यपि युवकों के पास कोई निश्चित कार्यक्रम तो नहीं थे, तथापि वे आदर्शवादी और निष्ठावान थे। उनमें एक लगन थी। सुरेंद्रनाथ भी क्रांतिकारी समितियों से सम्बद्ध ही नहीं, उनके नेताओं में से थे। मुझे एक ऐसी समिति के विषय में पता है, जिसमें भर्ती होते समय छात्र या युवक तलवार से अपनी छाती छीलकर रक्त निकालते थे तथा उसी रक्त से 'समिति' के शपथ-पत्र पर आत्म-स्वीकृति या हस्ताक्षर अंकित करते थे।'

संस्मरण की साक्षी

यह संस्मरण साक्षी देता है कि कैसा सनसनी भरा और स्फुरणयुक्त था उन दिनों का वातावरण, कि शिवनाथ शास्त्री सरीखे सरकारी नौकरी में लगे लोग भी देश-मुक्ति की भावना से नौकरी छोड़कर देश की स्वतंत्रता के लिए जूझने की शपथ लेते थे। विपिनचंद्र पाल ने ऊपर जिस संस्था का नाम नहीं लेना चाहा, वस्तुतः वह विप्लवी समिति थी 'अग्नि मंत्र की दीक्षा'। शिवनाथ शास्त्री जिस दिन सरकारी नौकरी त्यागकर उस दल में दीक्षित होने लगे, उस समय शपथ-ग्रहण के पूर्व एक धधकते हवनकुण्ड की उन्हें परिक्रमा करनी पड़ी। निशीथ काल था, गहन अंधेरे में वह कुण्ड जल रहा था। प्रतिज्ञा में था कि 'हम अंग्रेजों' की दासता (नौकरी आदि भी) अंगीकार नहीं करेंगे, भले हमें प्राण दे देने पड़ें।' शिवनाथ शास्त्री स्वयं कहते हैं कि 'जिस समय उस हवनकुण्ड की परिक्रमा करते-करते भगवन्नाम के साथ मैं प्रतिज्ञा ग्रहण करने चला, उस क्षण मैंने स्वयं में एक विलक्षण आत्मबल, स्फूर्ति और एक नयी शक्ति अनुभव की।'

फिर जब आगे स्वदेशी आंदोलन तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की धूम मची तो स्थान-स्थान पर कई समितियां और स्थापित हुईं, यथा 'वंदेमातरम् संप्रदाय', 'सहृदय समिति', 'संतान संप्रदाय', 'स्वदेश बांधव समिति' तथा 'स्वदेशी मण्डली' आदि। इनमें एक समिति 'स्वदेशी मण्डली' की स्थापना का आयोजन तो देशबंधु चित्तरंजन दास के

निवास पर ही सम्पन्न हुआ था। घोर विदेशी दास्य-निशा में देश अंगड़ाई लेकर जैसे सोते से एकदम उठ बैठा था, अवश्य ही उसे स्वामी दयानंद, राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानंद, केशवचंद्र सेन सरीखे अग्रणी महाप्राणों का आह्वान प्रेरित-प्रभावित किए हुआ था। परंतु वह कितना अपने में संजीवनी-शक्ति संजोये हुए था, इसके प्रमाणस्वरूप मैं बंगाल की प्रसिद्ध क्रांतिकारिणी शांति और सुनीति दीदी की बात कहता हूं। एक बार इन दोनों विप्लविनी बहिनों से मिलना हुआ। उनके साथ वीणाजी भी थीं। क्रांतिकारी इतिहास में कई वीरपुत्रों के साथ ही जिन पांच वीर बेटियों के नाम उजागर हैं, उनमें शांति, सुनीति और वीणाजी भी प्रमुख हैं। सुनीति दी ने कहा—'कैसा समय था वह कि आज का जमाना देखकर तो आश्चर्य ही होता है! हम लोग खाते-पीते घरों की थीं। रोज स्कूल-कालेज जाते समय जेब-खर्च मिलता था, परंतु हम उन पैसों को अपनी जरूरतों पर न खर्च करके उसे देश के जो काम उस समय चल रहे थे, उनकी झोली में अर्पण कर देते थे और ऐसा करके बहुत सुख मिलता था—संतोष की अनुभूति होती थी। घर के बड़े-बूढ़े बढ़िया महीन और रेशमी कपड़े पहनकर प्रसन्न होते थे लेकिन हम लोग जो अभी किशोर, तरुण अवस्था के प्रारंभिक स्तर पर ही पहुंचे थे, खादी के खुरदरे एकदम सफेद और मोटे किस्म के कपड़े पहनकर स्कूल-कालेज, शादी-ब्याह तथा सभा-सोसाइटी में शामिल होते थे तथा उन कपड़ों को पहनकर गर्व का अनुभव करते थे, एक तरह का आत्मिक आनंद अनुभव होता तथा ऐसा करते-करते विदेशी वस्त्रों, विदेशी वस्तुओं और विदेशी साज-सज्जा एवं रहन-सहन से एक तरह की घृणा मन में भर गई थी। हम स्कूल-कालेजों में उन दिनों उच्च स्वरेण 'वंदेमातरम्' का घोष गुंजाते हुए, वंदेमातरम्-गान सस्वर गाते हुए जब पथ-संचलन करते थे तो अक्सर एक सहगान भी हम छात्र-छात्राओं के बीच अवश्य गुंजायमान होता था, जिसकी प्रथम दो पंक्तियां थीं—

आमार शक्ति, आमार बल।
आमार तरुण दल॥

बाद में एक रोज इन्हीं पंक्तियों को उलटकर सुनीति दी की क्रांतिकारिणी सहयोगिनी शांतिजी ने दोहरा दिया था हंसते हुए कि—

आमार शक्ति, आमार बल।
आमार वृद्ध दल॥

दीदी की व्यथा

कहती थीं—'यह इसलिए कहना पड़ रहा है क्योंकि देखती हूं कि देश का तरुण दल तो नितांत निष्क्रिय और पलायनवादी होकर बगलें झांक रहा है, या फिर भ्रष्ट राजनीति

के बहकावे में आकर विपथगामी हो गया है। इससे देश का क्या भला होना है? वह आज जिस दीवानेपन से पश्चिमी सभ्यता और तद्नुरूप चमक-दमक में स्वयं के जीवन रंगे हुए हैं, वह देश के लिए त्याग-तपस्या और बलिदान का पथ कैसे अंगीकार कर सकता है? उस समय तो संन्यासी-विद्रोह का आदर्श अपनाकर बंकिमचंद्र के 'भवानन्द-जीवानन्द' की तरह हमारे तरुण, युवा-वृन्द जमात के जमात गेरुए कपड़ों में देश के लिए भरी तरुणाई में ही संन्यास लिए हुए जगह-जगह एकत्र दिखायी देते थे, उन्हीं में एक प्रखरतम तेजपुंज प्राणों का प्रादुर्भाव हुआ विवेकानंद के रूप में। परंतु देश का वायुमण्डल ऐसा था उस नवजागरण के युग में कि विवेकानंद मात्र अपवाद नहीं थे वरन् उनके पथ के पथिक कभी भगवा वस्त्रधारी, तो कभी घरेलू सामान्य धोती-कुर्ता पहने अनेक, शताधिक युवक-दल उस जमाने में सेवा-कार्यों से लेकर विप्लव-पथ तक संचरणशील और सक्रिय हो उठे थे। स्वतंत्रता देवी की आराधना करते हुए उन्हें अपने विप्लवी दल के लिए कभी द्वार-द्वार 'मुष्टि-भिक्षा' मांगकर अन्न जुटाना पड़ा तो उससे उनके उत्साह या आभिजात्य भाव में कोई अंतर नहीं आया। आज उस भावना के प्रत्यक्ष साक्ष्य के लिए आंखें तरसती हैं कि कहां हैं हमारे वे युवा संन्यासी, जो देश के लिए घर-बार त्यागकर, मां-बाप, भाई-बहन और यदि पत्नी है तो उसका मोह-ममत्व ठुकराकर, धधकते-दहकते अग्नि-पथ पर चल निकले थे, पाथेय के नाम पर जिनके कंथा-कमण्डलु शून्य हैं, रुपया-पैसा जिनके पथ का संबल-सहाय नहीं है, जिन्हें घोर अमानिशा में स्वयं अपने ही हाड़ जलाकर पथ प्रकाशित करना पड़ता है?

जलती मशाल

शांति, सुनीति तथा वीणाजी की उस दिन की वार्ता यहां संजोई नहीं जा सकती, लंबी है। बहुत कुछ उभर आया था उनकी अंतस् पीड़ा में उस रोज। तीन दिन एक पुरानी धर्मशाला में उन महाप्राण बहनों के साथ रहना हुआ था। देश के कई विचार-बिंदुओं पर, कभी दिन में तो कभी रात में देर तक, उनसे चर्चा करता रहता था और वे एक क्षण के लिए कभी ऊबती नहीं दिखायी दीं। उच्च गोरे अफसरों पर उनके रिवाल्वर उनकी नितांत छात्रावस्था में गरजे थे और वे अंग्रेज महाप्रभु धरती पर ढेर हो गए थे। फिर चालू हुआ था लंबी सजाओं का सिलसिला, कम उम्र होने से फांसी का फंदा इनसे कुछ दूर जा पड़ा था। अतः इनकी कथनी मात्र कथनी तक सीमित नहीं रही थी, वरन् किसी तरुण रक्त से देश का जो ताजा तकाजा रहता है, उससे देना-पावना चुकाना होता है, वह ऋण इन वीर बेटियों ने अपना जीवन सर्वस्व देश की वेदी पर चढ़ाकर पाई-पाई चुकता कर देने में कोई कसर नहीं रखी थी। इसलिए जहां तक आज देश के युवा समाज के लिए दिशा खोजने की बात है, देश के हित में कर्मण्य होने का प्रश्न है, उन बंग-बेटियों के जीवनादर्श जलती मशाल हैं, दिशा-दर्शक हैं और पथ-हारा

को पथ की पहचान कराने वाले हैं। युवक-वृन्द उनसे आज भी असीम ऊर्जा प्राप्त कर सकते हैं।

'आनंदमठ' के व्रती

योगी अरविंद घोष के भाई बारीन्द्र घोष ने बताया था कि कैसे लड़के उस समय मिल बैठा करते थे, क्या सोचते थे और जीवन तथा जग्त के प्रति उनका क्या चिंतन था! बारीन शायद बंगाल में क्रांति के प्रथम प्रचारक थे। वे पहले-पहल बर्दवान पहुंचे। वहां कालेज में उनके पूर्व परिचित प्रोफेसर थे। उन्हीं को प्रमुख बनाकर बर्दवान में प्रथम क्रांतिकारी समिति कायम की। आगे अपने अग्रज अरविंद घोष के साथ जाकर मिदनापुर में एक शाखा खोली, यह शाखा बड़ी महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। उसमें योगेंद्र बोस तथा सत्येंद्र बोस दोनों इनके मामा थे। इन्हीं सत्येंद्र ने आगे कन्हाईलाल दत्त के साथ फांसी पाई। इसी शाखा में बम-विशेषज्ञ हेमचंद्रदास कानूनगो, निरापदराय जैसे विप्लवी आगे आये। हेमदा को आजन्म कालापानी मिला था। शाखा को 'आनंद मठ' कहा जाता था। तीन हाथ लंबी एक प्रतिमा मिट्टी की बनाकर उन लोगों ने एक कमरे में रखी थी। यही थीं मातेश्वरी काली-दुर्गा-चण्ड-मुण्ड विनाशिनी, जो कहो। जीर्ण-सा वह मकान था। दीवारों पर सीलन थी। फर्श पर एक पुरानी चटाई बिछी थी। उसी पर बैठकर, सोकर वे युवक रात-दिन देश को अंग्रेजों से मुक्त कराने के उपाय सोचते थे। सोते-जागते वे हर समय अपने मन में एक यही विचार रखते थे। मां की प्रतिमा के चरणों में चढ़ाया करते थे कुछ जवा कुसुम। यही उनकी अर्चना-नीराजना थी, नैवेद्य था। मां की रक्तिम जीभ अंधेरे में भी साफ दीखती थी और पीली पन्नी काटकर बनायी गई जो खड्ग उनके हाथ में थी, वह भी खूब चमकती थी।

रहन-सहन की बानगी

अब जरा उन विप्लवी लड़कों का पहनावा, रहन-सहन तथा ध्येय के प्रति तत्परता की बानगी देखिए। ऊपर इस 'समिति' में शामिल जिस निरापदराय का नाम आया है, वह बहुत चुप्पा था। अल्पभाषी। शांतिपुर में उसका घर था। अपनी बड़ी-बड़ी भूरी आंखों में वह हर समय जैसे एक रहस्य अत्यंत मौन होकर छिपाये रहता था, परंतु अधरों पर उसके मंद स्मिति ही कौंधा करती थी। 'समिति' के कार्य से कहीं उसे तीस-चालीस मील दूर भी यदि जाने को कहा जाता, तो वह तत्काल अपने उघाड़े शरीर पर एक जीर्णप्राय चादर डाल लेता, पांवों में जूते-चप्पल का भी कोई झंझट नहीं। बिल्कुल नंगे पांवों ही वह चल पड़ता था पैदल। फिर वैसे ही पांव पियादे वह लौट भी आता था। न थकावट, न कोई शिकायत। जब कुछ भी काम न हो, तो आप मौन गंभीर एक तरफ बैठे रहते थे। जज किंग्सफोर्ड की हत्या-प्रयास के बाद यही निरापदराय कन्हाईलाल दत्त के साथ गिरफ्तार किए गए थे। बाद में अरविंद घोष भी पकड़े गए।

वे छात्र ही तो थे

एक जगह एक बड़ा खड्ड था। बाहर से उसका तल दिखायी न देता था। वहीं ये लोग बंदूक-पिस्तौल से निशानेबाजी सीखते थे। 'समिति' की शाखाओं के ऐसे ही निशानेबाजों में कई कालेज-छात्र थे—बलदेव राय, इंदुभूषण राय, निरापद राय, शिशिरकुमार गुहा, जितेंद्रनाथ राय आदि। इन्हीं जितेंद्रनाथ ने सन् 1908 के 7 नवम्बर को छोटे लाट एण्डू फ्रेजर को कलकत्ते में एक भरी सभा में गोली मारने की प्रचेष्टा की थी, परंतु पिस्तौल जाम हो जाने से तीन बार फायर करने पर भी गोली नहीं चली, शायद पिस्तौल का ट्रिगर ही बिगड़ा हुआ था। जितेंद्र वहीं गिरफ्तार कर लिए गए। दस साल की कैद मिली। कालेज-छात्र थे उस समय। देश के लिए स्वेच्छया जोखिम लेना, यातनाएं झेलना उन युवकों की प्रकृति बन गई थी।

इसी तरह उक्त युवकों में एक था शिशिरकुमार गुहा। सन् 1908 के ही 23 दिसम्बर को शिशिर ने ढाका के अंग्रेज जज बी. सी. एलेन को गोली मारकर घायल कर दिया और बच निकले। यह गोलीकांड हुआ था ग्वालद स्टेशन पर। फरार रहकर शिशिर भगवा वस्त्रधारी संन्यासी बन गए, परंतु छह वर्ष संन्यासी रहकर भी सन् 1914 में गिरफ्तार कर लिए गए। जेल में ही उनकी मृत्यु हुई।

उन दिनों कुष्टिया में एक अंग्रेज पादरी हिकेन बाथम ईसाई धर्म के प्रचार हेतु भोले-भाले लोगों को बुरी तरह बहका रहे थे, ईसाई बनाने में प्रवृत्त थे। कुष्टिया की विप्लवी समिति को यह कैसे सहन होता! तब उक्त युवकों में से ही एक बलदेव राय ने अंग्रेज पादरी बाथम पर गोली चलाई। उस समिति में क्षितीशचंद्र सान्याल, विनय राय, सचीनराय, कुंजलाल साहा, भवभूषण मित्र, गनेशदास तथा सुरजा मजूमदार भी सक्रिय थे। बलदेवराय के साथ सुरजा और गनेशदास भी पकड़े गए, लेकिन मुकदमा बना नहीं। बलदेव राय रिहा हो गए और फिर संन्यासी हो 'स्वामी अनंतानंद' के रूप में 'रामकृष्ण मिशन' में कार्यशील रहे।

इसी साल सन् 1908 की 11 अप्रैल को उक्त युवकों में से एक युवक इंदुभूषण राय ने चंदन नगर के फ्रेंच मेयर मसिये तर्दिवेल पर बम फेंका। इंदुभूषण उस समय नहीं पकड़े जा सके। आगे अरविन्द घोष के साथ 'मानिकतल्ला-बम-केस' में गिरफ्तार हुए और लंबी जेल-यातनाएं झेलीं।

मूल प्रेरणा क्या थी?

इन सब क्रांति-कलापों के पीछे कौन-सी मूल भावना काम कर रही थी? इसका उत्तर उन्हीं दिनों अरविन्द घोष के उस पत्र में प्राप्त है, जो उन्होंने सन् 1908 के 30 अगस्त की अपनी पत्नी मृणालिनी देवी के नाम लिखा। अरविन्द लिखते हैं—

'तुम्हें मैं अपने पागलपन से परिचित कराना चाहूंगा, वह यह है कि भले अनेक

देशवासी मातृभूमि भारत को सिर्फ मैदान, खेत, नदी, जंगल, पर्वत आदि जड़ पदार्थ मात्र मानते हों, मेरी दृष्टि में यह परम चैतन्यस्वरूप मेरी माता है। मैं उसकी अर्चना-आराधना करता हूं, भक्ति करता हूं उस मां की। अब यदि कोई दानव उस माता के वक्ष पर बैठकर उसका रक्त पीना चाहे तो उस स्थिति में संतान का क्या कर्तव्य और धर्म है? वह शांतिपूर्वक भोजन करता क्या निष्क्रिय बैठा देखता रहेगा, अपने परिवारजनों के बीच आनंद मनायेगा अथवा सब कुछ छोड़कर उस माता की रक्षार्थ दौड़ा आयेगा?' और ये वही अरविन्द थे जो इंग्लैण्ड में ही पले-बढ़े थे। उनका भाई बारीन्द्र तो वहीं जन्मा था। पिता इंग्लैण्ड में डाक्टर थे, सरकारी सेवा में थे!

अरविन्द की यह वसीयत देश के युवकों के लिए एक ऐसा दस्तावेज है, जो अनंत काल तक उन्हें देश-माता के लिए जूझने, जीने-मरने और संघर्ष करने की प्रेरणा देता रहेगा। यह पत्रांश उस देश-काल-परिस्थिति पर भी एक ऐसा प्रकाश डालता है, जिसमें हम उस जमाने के तरुणों की मानसिकता से भली भांति अवगत हो सकते हैं कि कौन-सी विचारधारा उनकी शिरा-शिरा में प्रचण्ड ऊर्जा स्फुरित किया करती थी।

कर्जन ने बंगाल के टुकड़े कर दिये थे, लेकिन वे वीर युवक उसे किसी भी तरह आत्म-स्वीकृति देने या सहन करने के लिए क्षण भर के लिए भी तैयार नहीं थे और पूरा बंगाल बारूद की तरह दहक उठा था जिसमें झुलस रहे थे वे फिरंगी बिडालाक्षी जो हाथ में तराजू थामकर यहां व्यापार करने आये थे लेकिन अब वही शोषक, लुटेरे और हत्यारे बनकर इस देश की छाती पर बलात् चढ़े हुए थे, स्वयं को शासक कहकर भारत को गारत करते जा रहे थे।

अग्रणी महाराष्ट्र

उस चुनौती का जवाब महाराष्ट्र भी ठीक बंगाल की ही भाषा में दे रहा था और इसमें वह बंगाल से अग्रणी ही नहीं था, वरन् वहां के विप्लवी और बलिदानी युवकों ने बंगाल को प्रेरित प्रभावित किया था। कारण, महाराष्ट्र में वासुदेव बलवंत फड़के ने सन् 1874-76 में स्वतंत्रता की जो ज्योति जलाई थी, सन् 1894 में वही वहां 'गणपति-उत्सव' तथा 'शिवाजी-उत्सव' के रूप में क्रांति का पथ प्रशस्त करती दृष्टिगत हुई। बंगाल में जैसे 'हिन्दू मेला' नाम का संगठन युवकों में क्रांति का शंखनाद गुंजा रहा था, उसी प्रकार सन् 1894 में दामोदर चाफेकर और उनके भ्राता बालकृष्ण चाफेकर की 'हिन्दू धर्म-संरक्षिणी-सभा' युवकों को क्रांति-मार्ग पर कर्मण्य बना रही थी। इसी वातावरण में दामोदर चाफेकर और बालकृष्ण चाफेकर ने सन् 1897 की 22 जून को अत्याचारी अंग्रेज प्लेग कमिश्नर रैण्ड और लेफ्टिनेंट आर्यस्ट को खत्म कर दिया। चाफेकरों के एक तीसरे भाई ने एक मुखबिर को गोली से उड़ा दिया। फलतः तीनों चाफेकर-बंधु फांसी चढ़े। उनके चार और साथी वासुदेव रानडे आदि भी फांसी चढ़े तथा एक को दस साल की कैद मिली। तब पता चला कि उनके दल का नाम 'चाफेकर

सघ' था। आगे महाराष्ट्र के क्रांति-दल 'अभिनव भारत' से बंगाल के बारीन्द्र आदि ने अपने दल के संबंध जोड़ लिए थे।

पंजाब भी पीछे नहीं

महाराष्ट्र व बंगाल की तरह पंजाब में भी नवजागरण मंत्र से दीक्षित हो नित नए युवक-दल आगे आ रहे थे। कांग्रेस के जन्म (सन् 1885) से भी तेरह वर्ष पहले पंजाब में 150 कूका वीरों ने क्रांति का विस्फोट किया। 49 कूके तोपों से उड़ा दिये गए। पचासवां एक तेरह वर्ष का बालक था, जिसे तलवार से काट दिया अंग्रेजों ने। 16 कूके वीर फांसी चढ़े। इनके नेता गुरु रामसिंह थे। क्रांति की ये धधकती धूनियां पुकार-पुकारकर साक्षी देती हैं कि भारत का तरुण वर्ग कायर और निष्क्रिय बनकर उस युग में भी कभी अपने घरों में नहीं छिपा बैठा रहा, जब दमनकारी जालिम विदेशी सत्ता को चुनौती देने का मतलब था तोप से बांधकर उड़ाया जाना, फांसी और जन्म-कैद—कालापानी। फांसी की कोठरी में भी वे आत्मबलिदानी युवक गाते रहते थे—

जिन्हां इस सेवा विच पैर पाया,
तिन्हां लख मुसीबतां झल्लियां ने ॥

('जिन्होंने देश-सेवा के इस रास्ते पर पैर रखा, उन्हें लाखों मुसीबतें झेलनी पड़ीं')

और ये पंक्तियां गाई थीं 19 वर्षीय विप्लवी कर्त्तारसिंह सराबा ने, जिन्हें फांसी की सजा दी गई थी। वे सिख थे। गुरु के सच्चे बेटे थे, महान थे और उनकी तरुणाई सार्थक हुई थी।

❑❑❑

वचनेश त्रिपाठी

सण्डीला (हरदोई) के एक ब्राह्मण परिवार में सन् १९२० में जन्म। सन् १९३५ में केवल पन्द्रह वर्ष की आयु में मैनपुरी केस के फरार क्रांतिकारी पं० देवनारायण भारतीय के सम्पर्क में आकर स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय होने का संकल्प लिया।

बालामऊ जंकशन पुलिस चौकी लूटने के आरोप में जेल भेजा गया। धारा १७-बी में मुकदमा चला और डेढ़ वर्ष की सजा हुई। बाद में दूसरे मामले में १० महीनों की सजा मिली।

लखनऊ से प्रकाशित मासिक 'राष्ट्रधर्म' में अटलबिहारी वाजपेयी के सहयोगी के रूप में सम्पादन क्षेत्र में प्रवेश किया। 'पाञ्चजन्य' तथा 'राष्ट्रधर्म' का अनेक वर्षों तक सम्पादन किया। 'पाञ्चजन्य' के क्रांतिविशेषांक की खूब धूम मची।

विद्रोही की कन्या (क्रांति कथा) की भूमिका डॉ० वृन्दावन लाल वर्मा ने लिखी। वे आजाद थे, शहीद, मुक्त प्राण, अग्नि पथ के राही, सुकरात का प्याला, गोदावरी की खोज आदि वचनेश जी की लिखी राष्ट्र भक्ति की प्रेरणा देने वाली पुस्तकें हैं।

–शिव कुमार गोयल

वचनेश त्रिपाठी

सण्डीला (हरदोई) के एक ब्राह्मण परिवार में सन् १९२० में जन्म। सन् १९३५ में केवल पन्द्रह वर्ष की आयु में मैनपुरी केस के फरार क्रांतिकारी पं० देवनारायण भारतीय के सम्पर्क में आकर स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय होने का संकल्प लिया।

बालामऊ जंकशन पुलिस चौकी लूटने के आरोप में जेल भेजा गया। धारा १७-बी में मुकदमा चला और ड़ेढ़ वर्ष की सजा हुई। बाद में दूसरे मामले में १० महीनों की सजा मिली।

लखनऊ से प्रकाशित मासिक 'राष्ट्रधर्म' में अटलबिहारी वाजपेयी के सहयोगी के रूप में सम्पादन क्षेत्र में प्रवेश किया। 'पाञ्चजन्य' तथा 'राष्ट्रधर्म' का अनेक वर्षों तक सम्पादन किया। 'पाञ्चजन्य' के क्रांतिविशेषांक की खूब धूम मची।

विद्रोही की कन्या (क्रांति कथा) की भूमिका डॉ० वृन्दावन लाल वर्मा ने लिखी। वे आजाद थे, शहीद, मुक्त प्राण, अग्नि पथ के राही, सुकरात का प्याला, गोदावरी की खोज आदि वचनेश जी की लिखी राष्ट्र भक्ति की प्रेरणा देने वाली पुस्तकें हैं।

–शिव कुमार गोयल